ब्रह्म सूत्र

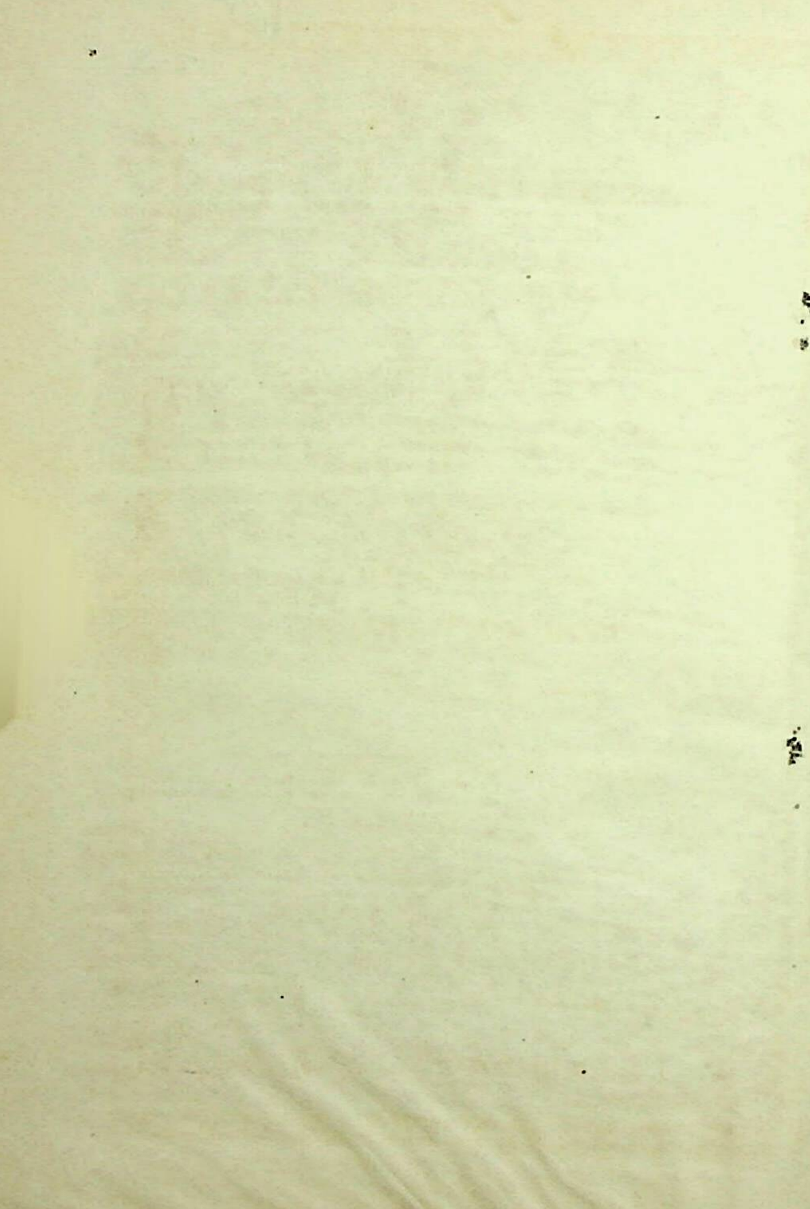
शांकर भाष्य भाषानुवाद

भाग २

वेदान्त केसरी कार्यालय,
बेलनगंज—आगरा।





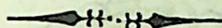


* ओ३म् *

ब्रह्म सूत्र ।

शांकर भाष्य भाषानुवाद ।

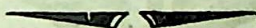
द्वितीय भाग



अनुवादक

ब्रह्मचारी विष्णु,

संपादक 'वेदान्त केसरी' ।



वेदान्त केसरी कार्यालय,

बेलनगंज—आगरा ।



१०००] प्रथम संस्करण संवत् १९८९

१०००] द्वितीय संस्करण संवत् २०२१ [

मुद्रक :—रामा प्रिंटिंग प्रेस,
रावतपाड़ा, आगरा।
फ़ोन २७३९



प्रकाशक :—
श्री योगानन्द आश्रम
सत्सङ्ग सभा रजि०
लालघाट, आगरा।

प्रस्तावना।



ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य भाषानुवाद का प्रथम भाग प्रकाशित होने पर वाचकवर्ग में द्वितीय भाग के लिये स्वाभाविक ही उत्कण्ठा बढ़ गई और द्वितीय भाग शीघ्रतर प्रकट करने के लिये हमें बार बार सूचनाएं मिलने लगी। हमने भी यही उचित समझा और एक वर्ष की अल्प अवधि में लिखनेका काम समाप्त किया, जिसके फल स्वरूप यह द्वितीय भाग आज वाचकों के सामने उपस्थित है। इस द्वितीय भाग के आरंभ में ब्रह्मसूत्र की अंतरंग बहिरंग समालोचना तथा इसके अन्याय भाष्यकारों के अभिप्राय तथा उनकी भी आःलोचना करने वाला एक निवंध प्रस्तावना रूप से देने का विचार था, क्योंकि इस प्रकार की आलोचना प्रतिपादित विषयको अधिक हृदयंगम करनेमें अत्यंत उपयोगी होती है; परन्तु ग्रन्थ प्रथम ही अधिक वृहत् होजाने से यह विचार हमें छोड़ देना पड़ा।

अब शांकर भाष्य का संपूर्ण अविकल अनुवाद वाचक वर्ग के सामने है। श्रीमत् शंकराचार्य का यही एक प्रधान ग्रंथ है

जिसने आचार्यश्री के लिये दार्शनिक जगत् में इतना अलौकिक यश संपादन किया। इसकी असंख्य विशेषताओं का वर्णन हम यहां पर नहीं कर सकते, विद्वान् पाठक इसको मनोयोग से पढ़ेंगे तो वे स्वयं ही उनके चित्तको आकृष्ट किये बिना न रहेंगी। और उनको निश्चय होगा कि भाष्य वास्तव ही में इतनी विशाल ख्याति के पात्र हैं। आचार्यश्री की सुमधुर वाणीका यथार्थ भाव सरल हिंदी में लाने का यथा संभव प्रयत्न किया गया है; संस्कृत में स्वल्प गति रखने वाले भी हमारे इस कथन का अनुभव कर सकते हैं और इसकी सहायता से मूल भाष्य का आनन्द भी उठा सकते हैं। आशा की जाती है कि अध्यात्म प्रेमी जन इससे योग्य लाभ उठा कर कार्यालय को उत्साहित करेंगे।

लालघाट, आगरा।
ता० ४-२-३३

ब्रह्मचारी विष्णु।

इस पुस्तक का यह द्वितीय प्रकाशन श्री योगानंद आश्रम सत्सङ्ग सभा रजि० लालघाट आगरा द्वारा किया गया है।

आगरा, लालघाट।
ता० १—७—६४

* ॐ *

अनुक्रमणिका

द्वितीय अध्याय तृतीय पाद।

उत्पत्ति श्रुति निर्णय।

द्वितीय अध्याय चतुर्थ पाद :

प्राण की उत्पत्ति और स्थान ।

तृतीय अध्याय प्रथम पाद ।

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद ।

जीव की अवस्थाओं का वर्णन ।

तृतीय अध्याय तृतीय पाद ।

विषय पृष्ठ

तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद ।

चतुर्थ अध्याय, प्रथम पाद।

चतुर्थ अध्याय दूसरा पाद।

चतुर्थ अध्याय तीसरा पाद ।

चतुर्थ अध्याय चतुर्थ पाद ।

स्वर्गीय श्रीमती श्यामा वाई जी ।



जिनसे इस पुस्तक की छपाई हेतु श्री कालीचरन जी द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है ।

ब्रह्म सूत्र ।

शांकर भाष्य भाषानुवाद

द्वितीय अध्याय, तृतीय पाद ।

वियदधिकरण । सू० १-७

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

वियद् आकाश न उत्पन्न नहीं होता; अश्रुतेः क्योंकि, [आकाश की उत्पत्ति की] श्रुति नहीं मिलती ।

वेदान्त ग्रन्थों में जगत् की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न २ प्रसंगों पर भिन्न २ प्रकार की उपश्रुतियां मिलती हैं । कोई श्रुतियां आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करती हैं, कोई नहीं करती । कोई वायु की उत्पत्ति बताती है कोई नहीं । जीव और प्राण की उत्पत्ति के संबंध में भी यही हाल है । इसी प्रकार किसी श्रुति के उत्पत्ति के क्रम आदि में भी अन्य श्रुति में विरोध मिल जाता है । और जिस प्रकार अन्य मतावलंबियों के मत में परस्पर विरोध आजाने से उनको अग्राह्य माना है, उसी प्रकार अपना पक्ष भी इस विरोध के कारण अग्राह्य हो जायगा ऐसी शंका के निर्मूलनार्थ तथा सब वेदान्त ग्रन्थों में आई हुई सृष्टि संबंधी श्रुतियों का अर्थ सुस्पष्ट करने के लिये आगे के ग्रंथ की रचना करते हैं । (श्रुति में आपस में विरोध है इस) पूर्वोक्त

शंका का निरसन होना यही श्रुतियों के स्पष्टार्थ करने का फल है। यहां प्रथम इसी का विचार करें कि आकाश की उत्पत्ति है या नहीं।

इस विषय में कोई ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि न वियदश्रुतेः' वास्तव में आकाश की उत्पत्ति होती ही नहीं; क्योंकि श्रुति के उत्पत्ति के प्रकरण में आकाश का निर्देश नहीं है। छांदोग्य उपनिषत् में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् [छां० ६।२।१] (हे सोम्य, यह पहिले एक और अद्वितीय ऐसा सत् ही था) इस मंत्रसे सत् शब्द से वाच्य ब्रह्म का उल्लेख करके 'तदैक्षत, तत्तेजोऽसृजत' [छां० ६।२।३] (उसने इच्छा की, उसने तेज उत्पन्न किया), इस प्रकार पंच महाभूतों में से बीच के तेज से आरंभ कर के तेज, जल और पृथ्वी इन्हीं की उत्पत्ति कही है। जिस का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा न हो उसका ज्ञान हमको केवल श्रुति ही करा सकती है। आकाश की उत्पत्ति प्रतिपादन करने वाली कोई श्रुति नहीं मिलती, इसलिये आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, यही सिद्ध होता है॥ १॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

तु परन्तु [अन्य श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति] अस्ति है।

परन्तु (तु) शब्द से अन्य पक्ष ग्रहण करने का बोध होता है। छांदोग्य उपनिषत् में आकाश की उत्पत्ति भले न हो, अन्य श्रुतियों में वह मिलती है। तैत्तिरीय उपनिषत् में 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञानरूप और अनंत है) ऐसा कह कर 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तै० २।१] (ऐसे इस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई), ऐसा कहा गया है। इस प्रकार कहीं २ सृष्टि का प्रारंभ तेज से तो कहीं आकाश से

दिया गया है, इसलिये दोनों श्रुतियों में विरोध प्रतीत होता है। यदि कहो कि इनकी एकवाक्यता करना युक्त है, तो वह ठीक है, एकावाक्यता करना युक्त तो है परन्तु यह भी समझ में नहीं आता कि वह कैसे हो। 'तत्तेजोऽसृजत' [छां० ६।२।३] (उसने तेज की सृष्टि की) इस श्रुति में निर्दिष्ट ईश्वर का 'तत्तेजोऽसृजत' और 'तदाकाशमसृजत' (उसने आकाश की सृष्टि की) इन दोनों श्रुतियों में उल्लिखित सृष्टियों के साथ संबंध नहीं घटता। यदि कहो कि एक वार उल्लिखित कर्ता का दो कर्तव्यों के साथ सम्बन्ध देखने में आता है; जैसे-'दाल बनाकर वह भात बनाता है' इसी प्रकार प्रथम आकाश की उत्पत्ति करके पश्चात् वह तेज की उत्पत्ति करता है ऐसा कह सकते हैं, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि छांदोग्य में तेज की उत्पत्ति प्रथम बताई है और तैत्तिरीय उपनिषत् में आकाश की उत्पत्ति प्रथम बताई है परंतु दोनों की प्रथम उत्पत्ति संभव नहीं। इस उदाहरण से अन्य श्रुतियों के विरोधका भी निरूपण हुआ समझना चाहिये! 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तै० २। १](ऐसे इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुति में भी उससे आकाश उत्पन्न हुआ और उससे तेज उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होने वाली दो वस्तुओं का एक ही उत्पन्न करने वाले के साथ एक ही समय सम्वन्ध लगाकर आकाश और तेज के साथ उसका एककालीन सम्वन्ध लगाना ठीक नहीं है। दूसरे, वायोरग्निः' [तै० २। १] (वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ) इस श्रुति में (तेज को उत्पत्ति) और ही प्रकार से कही है ॥ २॥

इसका कोई इस प्रकार उत्तर देते हैं--

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

[आकाश की उत्पत्ति की श्रुति] **गौणी गौण है असंभवात्**

[आकाश की उत्पत्ति] असम्भव होने से ।

श्रुति में आकाश की उत्पत्ति का कथन नहीं है इसीसे आकाश की उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध होता है। जो आकाश की उत्पत्ति कथन करने वाली अन्य श्रुति बताई गई है, उसको गौण श्रुति मानना ही युक्त है, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति ही असम्भव हैं। कणाद के मतानुयायियों के वर्तमान होते हुए कोई भी आकाश की उत्पत्ति सम्भवनीय नहीं बता सकता। कणाद के अनुयायी (वैशेषिक) आकाश की उत्पत्ति का इसलिये निषेध करते हैं कि आकाश की उत्पत्ति में उसकी कारण सामग्री का ही अभाव है। वास्तव में जितना जो कुछ उत्पन्न होता है, समवायी, असमवायी और निमित्त इन तीनों कारणों से उत्पन्न होता है। एक जाति के अनेक द्रव्य ही एक द्रव्य का समवायी कारण बनते हैं; परन्तु, आकाश को उत्पन्न करने वाले एक जाति के अनेक द्रव्य हैं नहीं कि जो आकाश का समवायी कारण बनें और उनके परस्पर संयोग को असमवायी कारण मानकर उससे आकाश की उत्पत्ति मानी जाय। इन कारणों का अभाव होने से उनको जोड़ने वाले या आकार देने वाले आकाश के निमित्त कारण की तो बात ही दूर रही। उत्पत्ति वाले तेज आदि का पूर्व काल में और उत्तर काल में भेद देखा जाता है। जैसे कि उत्पत्ति के पहिले तेज नहीं था पीछे उत्पन्न हुआ। परन्तु आकाश का इस प्रकार पूर्व और उत्तर काल में कुछ भी भेद नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति के पहिले जिस में अवकाश या छोटा बड़ा कैसा भी छिद्र नहीं था ऐसा क्या था यह कुछ ठीक कह नहीं सकते। दूसरे, पृथ्वी से विरुद्ध धर्म वाला होने से तथा विभु आदि लक्षणों से युक्त होने से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती यही सिद्ध होता है। इसलिये जैसे व्यव-

हार में 'आकाश करो' 'आकाश हुआ' आदि गौण प्रकार का प्रयोग होता है अथवा जैसे घट का आकाश, कमंडलु का आकाश या घर का आकाश, इस प्रकार एक ही आकाश का भेद व्यवहार गौण रीति से होता है, अथवा वेद में भी 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' (जंगली पशुओं को आकाश में यानी खुली जगह बाँधना चाहिये) इस प्रकार का गौण प्रयोग मिलता है, इसी प्रकार उत्पत्ति श्रुति को भी गौण ही मानना चाहिये ॥३॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

शब्दात् शब्द (श्रुति) से च भी [आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, यही सिद्ध होता है]।

श्रुति भी आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, यही प्रतिपादन करती है; क्योंकि वेद में कहा है कि 'षायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' [बृह० २।३।३] वायु और आकाश ये अविनाशी हैं) और अविनाशी की उत्पत्ति संभव नहीं। दूसरे; 'आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः' (ब्रह्म आकाश के समान व्यापक और नित्य है) इस प्रकार ब्रह्म को आकाश की उपमा देकर आकाश में भी वे धर्म हैं, ऐसा वेद में सूचित किया है और नित्य और व्यापक की उत्पत्ति नहीं बन सकती। 'स यथाऽनन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वेदितव्यः।' (जैसे उस आकाश का अन्त नहीं है वैसे ही आत्मा का अन्त नहीं है ऐसा जानना चाहिये) यह इसका उदाहरण है। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' [तै० १।६।२] (ब्रह्म का आकाश शरीर है), 'आकाश आत्मा' [तै० १।७।१] (आकाश आत्मा है यानी आकाश के समान आत्मा है) ये भी उसी के उदाहरण हैं। यदि आकाश की उत्पत्ति सम्भव हो तो वह ब्रह्म का विशेषण नहीं बन सकता; जैसे कि नील कमल का

विशेषण वनता है। इसीलिये, नित्य ऐसे आकाश के साथ ही ब्रह्म की समानता है ऐसा निश्चय होता है ॥ ४ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

एकस्य एक (उत्पन्न होना इस शब्द) का **ब्रह्मशब्दवत्** ब्रह्म शब्द के समान [गौण और प्रधान दोनों प्रकार का प्रयोग] **स्यात्** हो सकेगा

इस सूत्र में (उत्पत्ति) शब्द के सम्बन्धी शंका का उत्तर दिया गया है ।

शंका—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तै० २ । १] (ऐसे इस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई ।) इससे प्रारम्भ होने वाले प्रकरण में 'उत्पत्ति हुई' यह शब्द आगे के तेज आदि के सम्बन्ध में ही प्रधानता से कहा गया है और आकाश के सम्बन्ध में गौणरूप से उपयोग किया गया है, ऐसा कैसे सम्भव है ?

उत्तर—'उत्पत्ति' शब्द के एक होते हुए भी विषय के अनुसार उसका ब्रह्म शब्द के समान गौण और मुख्य अर्थ में प्रयोग होता है। जैसे एक ही 'ब्रह्म' शब्द का 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म।' [तै० ३ । २] (तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ब्रह्म है) इस प्रकरण में अन्न आदि के अर्थ में ब्रह्म का गौण प्रयोग और आनन्द के अर्थ में मुख्य प्रयोग हुआ है। वैसे ही ब्रह्मज्ञान साधन जो तप उसके अर्थ में ब्रह्म शब्द का लक्षणा से प्रयोग किया गया है, परन्तु साक्षात तो ज्ञेयरूप ब्रह्म के अर्थ ही में उसका प्रयोग किया गया है। वैसे ही यहाँ समझो ।

शंका—यदि आकाश की उत्पत्ति ही नहीं होती तो 'एकमेवाद्वितीयम्' [छां० ६ । २ । १] (ब्रह्म एक ही था, और कुछ भी नहीं था), इस प्रतिज्ञा का किस प्रकार से समर्थन होगा ? क्योंकि आकाश वस्तुरूप होने से उससे ब्रह्म सद्वितीय हो जाता है, फिर ब्रह्म को ही जान लेने से सब कुछ कैसे जाना जायगा ?

उत्तर—ब्रह्म एक ही था, यह केवल उसके कार्य की अपेक्षा से ही कहा गया है। जैसे व्यवहार में कोई कुम्हार के यहां जाकर मिट्टी, दंड, चक्र आदि अनेक पदार्थ देखता है और दूसरे दिन नाना प्रकार के मिट्टी के बर्तन चारों तरफ बिछे हुए देखकर वह कहता है कि कल यहाँ पर केवल मिट्टी ही थी। इस कथन से उसका यही अभिप्राय होता है कि पूर्व दिवस में मिट्टी का कार्य ही नहीं था, न कि दण्ड चक्र आदि नहीं थे ऐसा उसका अभिप्राय होता है। इसी प्रकार अद्वितीयता का प्रतिपादक श्रुतिवाक्य केवल अन्य अधिष्ठान का निषेध करता है। जैसे घटादि पात्र की प्रकृति यानी समवायी कारण रूप मृत्तिका का कुम्हार अधिष्ठाता पाया जाता है, वैसा जगत् की प्रकृति रूप ब्रह्म का कोई अन्य अधिष्ठाता नहीं है। वैसे ही आकाश को भिन्न पदार्थ मानने से ब्रह्म सद्वितीय नहीं होता, क्योंकि वस्तु के लक्षण भिन्न भिन्न होने ही से उन दो वस्तुओं को भिन्न माना जाता है। परन्तु उत्पत्ति के पूर्व ब्रह्म और आकाश में, मिले हुए जल और दूध के समान, लक्षणों का भेद नहीं होता तथा दोनों में व्यापकत्व, अमूर्तत्व आदि धर्म सामान्य होते हैं। उत्पत्ति के समय केवल ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति करने लगता है और आकाश निश्चल रहता है, इसीसे उसकी भिन्नता का निश्चय होता है। इसी प्रकार 'आकाश शरीरं ब्रह्म' [तै० १।६।२] (ब्रह्म का आकाश शरीर है) आदि श्रुतियों से भी ब्रह्म और आकाश की

अभिन्नता का ही निश्चय होता है। इसीलिये ब्रह्म के जान लेने से सब कुछ जाना जाता है, यह भी सिद्ध होता है।

जितने कार्य उत्पन्न होते हैं, उनका आकाश से देश और काल से भेद नहीं होता और आकाश का देश काल ब्रह्म के देश काल से भिन्न नहीं होता, इसीलिये ब्रह्म और उसके कार्यों को जान लेने से आकाश भी जाना जाता है। जैसे कोई दूध के घड़े में जल के विन्दु डाल दे तो दूध के ग्रहण करते ही उनका भी ग्रहण हो जाता है, दूध का ग्रहण हो जाय और पानी का न हो यह नहीं बनता; इसी प्रकार ब्रह्म और उसके कार्य के देश काल से आकाश का देश काल एक होने से ब्रह्म के ग्रहण से आकाश का भी ग्रहण हो ही जाता है। इसलिये आकाश की उत्पत्ति की श्रुति गौण है।

इस प्रकार पूर्व पक्ष करके उसका समाधान करते हैं कि--

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

अव्यतिरेकात् [कार्य कारण का] अभेद मानने से [और] **शब्देभ्यः** श्रुति प्रमाणों से [भी] **प्रतिज्ञाऽहानिः** प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती।

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतंमतमविज्ञातं विज्ञातम्।' [छां० ६।१।१] (जिससे न सुना हुआ सुना जाता है, न सोचा हुआ सोचा जाता है, न निश्चय किया हो उसका निश्चय हो जाता है), 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्व विदितम्।' [बृ० ४।५।६] (आत्मा ही का दर्शन करने से, श्रवण करने से, विचार करने से और उसको जान लेने से सब कुछ जाना जाता है।), 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

[मुण्ड० ४।५।६] (हे भगवन्, किसके जानने से यह सब जाना जाता है ?), 'न काचन मद्बहिर्धाविद्यास्ति ।' (कोई भी विद्या मेरे यानी आत्मा के बाहर नहीं है), इस प्रकार की प्रतिज्ञाएं वेदांत के प्रत्येक ग्रन्थ में मिलती हैं । उन प्रतिज्ञाओं की तब ही हानि नहीं होती जब कि सब वस्तुओं की एक ही ब्रह्म के साथ एकता हो । यदि उनमें भेद माना जाय तो एक ही को जानने से सब जाना जाता है, इस प्रतिज्ञा की हानि हो जाती है । यह अभेद उसी अवस्था में बन सकता है जब कि सब वस्तुएं एक ब्रह्म ही से उत्पन्न हुई हों ।

दूसरे, श्रुति में जिन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है उनसे प्रकृति का और उसके विकार का अभेद होता है, इस न्याय से ही यह प्रतिज्ञा सिद्ध होती है, ऐसा देखा जाता है; जैसे, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (जिससे न सुना हुआ सुना जाता है), यह प्रतिज्ञा करके कार्य कारण का अभेद बताने वाले मिट्टी आदि के दृष्टांत देकर इसी प्रतिज्ञा का समर्थन किया है । और उसीको सिद्ध करने के लिये आगे शब्द आते हैं कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।' [छां० ६।२।१] (हे सोम्य उत्पत्ति के पूर्व यह सब एक और अद्वितीय ऐसा सत् ही था), 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत्' [छां० ६।२।३] (उसने ईक्षण किया, उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार सब कार्य ब्रह्म ही के बताकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' [६।७।८] (यह सब उसी मय है) यहां से लेकर प्रपाठक के अन्त तक श्रुति (कार्य का ब्रह्म से) अभेद है यही बताती है । इसलिये यदि आकाश ब्रह्म का कार्य न हो तो ब्रह्म का ज्ञान होने से आकाश का ज्ञान नहीं होगा, और इससे प्रतिज्ञा की हानि हो जायगी और प्रतिज्ञा की हानि करके श्रुति को अप्रमाण बनाना ठीक नहीं । इसी प्रकार प्रत्येक वेदान्द ग्रन्थ में 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृह० २ । ४ । ६]

(यह सब जो कुछ है यह आत्मा ही है), ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्; [मुण्ड २ । २ । ११] (यह जो आगे दीखता है अमृत रूप ब्रह्म ही है) आदि भिन्न-भिन्न श्रुतियाँ भिन्न दृष्टान्तों द्वारा इसी प्रतिज्ञा को दुहराती हैं। इसलिये अग्नि आदि के समान आकाश भी उत्पन्न होता है।

'श्रुति का प्रमाण न होने से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती' ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति की श्रुति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' तै० २। १] (ऐसे उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) पहिले ही बता चुके हैं। यदि कहो कि बता चुके हो अवश्य परन्तु 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस श्रुति से उसका विरोध है; तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि सब श्रुतियों की एकवाक्यता है।

शंका—एकवाक्यता उन वाक्यों की हो सकती है जो एक एक से विरुद्ध न हों। यहां तो वाक्यों में विरोध है कि एक बार कथन किये हुए स्रष्टा का दो उत्पन्न हुए पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता, वैसे ही, दोनों प्रथम उत्पन्न हों या विकल्प से प्रथम उत्पन्न हों यह भी नहीं बन सकता।

समाधान—यह दोष नहीं प्राप्त होता ! तैत्तिरीय उपनिषत् में 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ः आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' [तैत्ति० २ । १] (ऐसे उस आत्मा ही से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ) इस प्रकार तेज की उत्पत्ति क्रम से तीसरी बताई है। इस श्रुति का अन्य कोई अर्थ ही नहीं बन सकता, परन्तु छांदोग्य उपनिषत् की श्रुति का अर्थ यों बन सकता है कि

आकाश और वायु उत्पन्न करके उसने तेज उत्पन्न किया। वास्तव में यह श्रुति तेज की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाली होने से अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध ऐसी आकाश की उत्पत्ति का निवारण नहीं कर सकती; क्योंकि एक ही वाक्य से दो व्यापार नहीं बन सकते। परन्तु, एक ही स्रष्टा क्रम से अनेक पदार्थ उत्पन्न करता है, ऐसी एकवाक्यता की कल्पना जव हो सकती है तव विरुद्ध अर्थ करके श्रुति को अप्रमाण वनाना ठीक नहीं है। दूसरे, हम पूर्व कथित श्रुति के स्रष्टा का दोनों उत्पन्न हुए पदार्थों के साथ सम्वन्ध भी नहीं प्रतिपादित करते, परन्तु अन्य श्रुतियों के अनुसार हम इन वस्तुओं का अन्य उत्पन्न हुई वस्तुओं में समावेश करते हैं। जैसे, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्'] छाँ० ३। १४। १] वास्तव में यह सब ब्रह्म है, उसी से उत्पन्न होता है उसी में लय होता है और उसी से चेष्टा करता है) इस श्रुति में सबकी उत्पत्ति ब्रह्म से कथन की गई है, परन्तु इससे अन्य श्रुति में जो कहा है कि प्रथम तेज की उत्पत्ति होती है उसका निवारण नहीं होता, इसी प्रकार तेज की उत्पत्ति एक श्रुति में ब्रह्म से कही है इससे अन्य श्रुति में जो कथन है कि प्रथम आकाश की उत्पत्ति होतो है उस क्रम का भी वह निवारण नहीं कर सकता।

शंका—इस श्रुति का उद्देश्य शम का एक विधि वताने का है, सृष्टि का क्रम वताने का नहीं है, क्योंकि 'तज्जलानिति शान्त उपासीत।' छां० ३। १४। १] उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लय होता है, उसीसे चेष्टा करता है, इसलिये शान्त होकर उसकी उपासना कर) ऐसी श्रुति है। अर्थात् यह सृष्टि सम्वन्धी श्रुति न होने से वह अन्य श्रुति में प्रसिद्ध सृष्टि क्रम का निवारण नहीं कर सकती। 'तत्तेजोऽसृजत'

(उसने तेज उत्पन्न किया) यह सृष्टि वाक्य है, इसलिये यहां पर श्रुति में जो क्रम दिया है वही ग्रहण करना चाहिये ।

समाधान—यह ठीक नहीं है. (इस श्रुति में) तेज का प्रथम कथन है, इतने ही के लिये अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध आकाश का परित्याग करना ठीक नहीं है, क्योंकि क्रम पदार्थ का धर्म हैं (उसका त्याग करने से धर्मी रूप पदार्थ का भी त्याग हो जाता है) दूसरे 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया), इस श्रुति में क्रम वाचक कोई शब्द नहीं है, केवल अर्थ से क्रम सूचित होता है; परन्तु 'वायोरग्निः' (वायु से अग्नि उत्पन्न होता है) इस दूसरे श्रुति से उसका निवारण हो जाता है । आकाश और तेज इनकी विकल्प से प्रथम उत्पत्ति होती है ऐसा कहे तो वह वन ही नहीं सकता और दोनों की साथ उत्पत्ति होती है, ऐसा कहें तो वैसा श्रुति ने स्वीकृत नहीं किया है. इस प्रकार ये दोनों पक्ष अग्राह्य हैं, इसलिये श्रुति में विरोध नहीं है। छान्दोग्य उपनिषत् में 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (जिससे नहीं सुना हुआ सुना जाता है) यह प्रतिज्ञा आरम्भ में की गई है। उसके समर्थन के लिये जो उत्पत्ति का वर्णन किया है उसमें आकाश का निर्देश नहीं है तो भी उसका ग्रहण करना ही पड़ता है। फिर जब तैत्तिरीय उपनिषत् में आकाश का स्पष्ट निर्देश है तो उसका ग्रहण क्यों न किया जाय ?

अब जो तुमने कहा था कि आकाश के देश काल से अन्य सब वस्तुओं का देश काल भिन्न न होने से ब्रह्म और उसके कार्यों को जान लेने से उस के साथ आकाश का भी ज्ञान हो जायगा, इसलिये प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती; वैसे ही,

'एकमेवाद्वितीयम' [छा० ६।२।१] (ब्रह्म एक ही है और कुछ भी नहीं है), इस श्रुति से भी विरोध नहीं आता, क्योंकि दूध और जल के समान आकाश का अभेद भाव बन सकता है। इस पर हमारा उत्तर है कि एक ब्रह्म के जानने से सब कुछ जाना जाता है, इस प्रतिज्ञा को क्षीरोदक न्याय के अनुसार घटाना ठीक नहीं, क्योंकि आगे इसमें मिट्टी आदि के भी दृष्टान्त दिये गये हैं, इसलिये सबका ज्ञान होता है, इस प्रतिज्ञा को प्रकृति विकार न्याय (कारणका ज्ञान होजाने से कार्यका ज्ञान होना, इस न्याय) से ही समझना चाहिये। यह सब का ज्ञान क्षीरोदक न्याय से होता है, ऐसा माने तो वह ज्ञान यथार्थ नहीं होगा; क्योंकि क्षीर के रूप से जाना हुआ उदक यथार्थता से जाना नहीं जाता। मनुष्यों के समान श्रुति भी मिथ्या, कपटी या झूठे अथवा इसी प्रकार के वचन से पदार्थों का ज्ञान कराती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। परन्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक ही है और कुछ भी नहीं है) इस श्रुतिमें जो स्पष्ट निश्चय किया है, उसको क्षीरोदक न्याय के अनुसार जानने से उस श्रुतिका विरोध होता है। ब्रह्म के ज्ञान से होने वाला सब पदार्थों का ज्ञान और ब्रह्म एक ही है और कुछ भी नहीं है यह निश्चय, ये दोनों बातें किसी एक वस्तु की अपेक्षा से यानो उस ब्रह्म के कार्य की अपेक्षा ही से हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। यदि ऐसा मानो तो ये दोनों बातें मिट्टी आदि में भी बन सकती हैं और श्रुति में आगे ब्रह्म के विषय में इन दोनों बातों का 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' [छां० ६।१।१] (हे श्वेतकेतो, तू अपने बराबर किसी को नहीं मानता, अपनी विद्वत्ता का अभिमान रखता है, किसी से बात तक नहीं करता,

तो क्या जिसके सुनने से सब सुना जाता है ऐसा उपदेश तूने अपने गुरु से कभी प्राप्त किया है ?) इस प्रकार जो अपूर्व यानी अद्भुत रीति से उपन्यास किया है वह योग्य नहीं होता। अर्थात् यह सबका ज्ञान निःशेष सब वस्तु का ज्ञान है और वह सब कुछ ब्रह्म का कार्य है, इसी अपेक्षा से ऐसा कथन है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६ ॥

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

तु परन्तु **लोकवत्** जगत् में **यावत्** जितने **विकारं** विकार [हैं उतने] **विभागः** विभाग [हैं]।

'परन्तु' (तु) यह शब्द (आकाश की उत्पत्ति) 'असंभव है' इस शंका के निवारणार्थ है। आकाश की उत्पत्ति ही संभव नहीं ऐसी शंका न करनी चाहिये, क्योंकि घड़ा, लोटा; डोल आदि अथवा कंकण, बाजूबंध, कुण्डल आदि अथवा सुई, बाण, खड्ग आदि जितना जो कुछ विकार समूह देखने में आता है, वह उतना ही विभक्त होता है ऐसा यहां पर देखने में आता है। परन्तु विकार न होते हुए कोई किसी से भिन्न हो ऐसा देखने में नहीं आता। आकाश पृथ्वी आदि से भिन्न है ऐसा देखने में आता है, इसलिये आकाश भी विकार ही है, ऐसा मानना चाहिये। इसी न्याय से दिशा, काल, मन और परमाणु आदि सब पदार्थ भी विकार ही हैं ऐसा समझना चाहिये।

शंका—आकाश आदि पदार्थों से आत्मा भी भिन्न हैं, अर्थात् घटादि के समान वह भी विकार है, ऐसा प्राप्त होता है।

समाधान—सो नहीं। क्योंकि 'आत्मन आकाश संभूतः' [तै० २।१] (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ ऐसी श्रुति है।

अब यदि आत्मा भी विकार ही हो तो आत्मा से पर ऐसा कुछ भी श्रुति से प्रतिपादित न किया होने से और आत्मा कार्य होने से आकाश आदि सब निरात्मक (यानी कारण रहित) हो जायंगे और इससे शून्यवाद की प्राप्ति हो जायगी।

दूसरे, आत्मा यह आत्मा होने ही से उसका निराकरण होगा, यह शंका ही नहीं बनती। सबका आत्मा स्वयं सिद्ध होने से वह कोई प्राप्त हुआ पदार्थ नहीं है (कि जिसका निवारण बन सके)। आत्मा की सिद्धि के लिये किसी प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पूर्व सिद्ध न हो ऐसे अन्य पदार्थ की सिद्धि के लिये आत्मा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ग्रहण करता है। आकाश आदि पदार्थ स्वयं सिद्ध हैं ऐसा कोई भी नहीं मानता, परन्तु प्रमाण आदि व्यवहार का आश्रय होने से आत्मा प्रमाण आदि व्यवहार का आश्रय होने से आत्मा प्रमाण आदि व्यवहार के पूर्व ही सिद्ध है, अर्थात् ऐसे आत्मा का निषेध हो ही नहीं सकता। पीछे से प्राप्त हुई वस्तु का ही निराकरण हो सकता है परन्तु स्वरूप का यानी अपना निषेध बन नहीं सकता। जो निषेध करता है वही उसका स्वरूप है। अग्नि का उष्णत्व अग्नि निवारण नही कर सकता। इसी प्रकार 'मैं ही वर्तमान काल में वर्तमान पदार्थों को जानता हूं, मैंने निकट तथा दूर के भूतकाल के पदार्थों को जाना था और मैं ही भविष्यत् काल में निकट तथा दूर भविष्यत् काल के पदार्थ जानूंगा' इस प्रकार वर्तमान, भूत और भविष्यत्, इन तीनों रूपों से ज्ञेय वस्तु यद्यपि बदलती रहती है तो भी उनको जानने वाला (मैं) कभी भी नहीं बदलता, वह सदा ही वर्तमान रहता है। देह के भस्म हो जाने से भी आत्मा नष्ट नहीं होता अथवा वर्तमान स्वरूप से भिन्न ऐसा अन्य स्वरूप उसका होता

है, यह कल्पना भी नहीं बनती। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निषेध न होने से आत्मा कार्य नहीं है, परन्तु आकाश कार्य है, ऐसा सिद्ध हुआ।

अब जो तुमने कहा था कि आकाश को उत्पन्न करने वाले एक जाति के अनेक द्रव्य (उत्पत्ति के पूर्व) थे नहीं, उस पर हमारा यह उत्तर है कि एक ही जाति के कारण कार्य की उत्पत्ति करते हैं और भिन्न जाति के नहीं करते यह नियम नहीं है। तन्तु और संयोग एक जाति के नहीं है। तन्तु द्रव्य है और संयोग उनका गुण है ऐसा माना है। तुरी, वेम आदि निमित्त कारण भी एक जातीय होते हैं ऐसा भी नियम नहीं है।

पूर्वपक्ष—एक ही जाति के कारण कार्य को उत्पन्न करते हैं, यह नियम केवल समवायी कारण के लिये है, ऐसा हम मानते हैं, अन्य कारणों के सम्बन्ध में नहीं।

समाधान—ऐसा मानें तो भी यह नियम सब स्थान पर काम नहीं देता। सूत, गाय के बाल आदि अनेक जाति के पदार्थों की बनी हुई एक रस्सी देखने में आती है। उसी प्रकार सूत, ऊन आदि के रंग बिरंगे कम्बल भी बनाये जाते हैं। एक ही जाति के कारण कार्य उत्पन्न करते है, यह नियम सत्ता और द्रव्यत्व आदि की जाति के सम्बन्ध में है, ऐसा कहो तो वह नियम भी व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि, (इस प्रकार से तो) सब ही पदार्थ सब ही पदार्थों की जाति के हैं यानी सब पदार्थ एक ही जाति के हैं, ऐसा प्राप्त होगा।

अनेक कारण ही कार्य को उत्पन्न करते हैं, एक नहीं करता, यह भी नियम नहीं है। क्योंकि, प्रथम कर्म मन और परमाणु ही से होता है ऐसा (तुमने) माना है। एक एक परमाणु और

मन अकेले ही– यानी अन्य किसी द्रव्य से युक्त होकर नहीं– प्रथम कर्म करते हैं ऐसा (तुमने) माना है। यदि कहो कि अनेक कारण ही कार्य की उत्पत्ति करते हैं, यह नियम केवल द्रव्य की उत्पत्ति के लिये है तो वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि परिणाम (एक ही द्रव्य का) देखने में आता है। यह नियम तब ही ठीक हो सकता है जब कोई भी द्रव्य संयोग द्वारा अन्य द्रव्य को उत्पन्न कर सकता । परन्तु देखा तो यह जाता है कि कारण ही किसी विशेष प्रकार को अवस्था को प्राप्त होता है उसी को कार्य कहते हैं; जैसे कहीं कहीं मिट्टी, बीज आदि अंकुर के रूप से परिणाम को प्राप्त होते हैं, इनमें अनेक कारण का परिमाण होता है, तो कहीं एक ही कारण का परिणाम होता है, जैसे अकेले दूध का दही परिणाम होता है। अनेक कारणों ही से कार्य की उत्पत्ति हो ऐसी कहीं ईश्वर ने आज्ञा नहीं दे रखी है। इसलिये श्रुति के प्रमाण से एक ही ब्रह्म से आकाश आदि क्रम से पाँचों महाभूत उत्पन्न हुए और पश्चात् क्रमशः सर्व जगत् उत्पन्न हुआ, यही निश्चय होता है। यही बात 'उप-संहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' [ब्र० सू० २ । १ । २४] इस सूत्र में कही गई थी।

तुमने कहा था कि आकाश की उत्पत्ति मानें तो उसके पूर्व काल से उत्तर काल में कुछ भी विशेष सम्भव नहीं, यह ठीक नहीं है। जिस विशेषता के लिये आकाश पृथिवी आदि से भिन्न ऐसे स्वरूप से इस समय जाना जाता है, वही विशेष उत्पत्ति के पूर्व नहीं था ऐसा जाना जाता है जैसे 'अस्थूलमनणु' [बृह० ३ । ८ । ८] (वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है।) आदि श्रुतियों

से पृथ्वी आदि के समान ब्रह्म का स्वरूप स्थूल नहीं है ऐसा जाना जाता है, वैसे ही, 'अनाकाशम्' [बृ० २ । ८ । ८] (वह आकाश के समान नहीं है,) इस श्रुति से आकाश के समान भी ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, ऐसा जाना जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति के पूर्व आकाश नहीं था।

तुमने कहा था कि 'आकाश के धर्म पृथिवी आदि (उत्पन्न होने वाले) पदार्थों के धर्म से भिन्न होने से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती', वह भी असत्य है; क्योंकि, आकाश की उत्पत्ति न होने का अनुमान श्रुति का विरोधी होने से मिथ्या ही माना जायगा। दूसरे, आकाश की उत्पत्ति के लिये भी अनुमान पूर्व में दिखा चुके हैं। अनित्य ऐसे गुणों का आश्रय होने से घट आदि के समान आकाश भी अनित्य है, इस प्रकार के अनुमान कर सकते हैं। यदि कहो कि इस अनुमान का आत्मा में व्यभिचार होगा तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा को वेदान्ती अनित्य गुणों का आश्रय नहीं मानते। वैसे ही आकाश की उत्पत्ति मानने वाले (अर्थात् वेदान्ती) उसको विभुत्व आदि गुणों से युक्त नहीं मानते।

'शब्दाच्च' [ब्र० सू० २ । ३ । ४] (श्रुति से भी सिद्ध होता है कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती) इस सूत्र से जो तुमने कहा उसका उत्तर यह है कि श्रुति में आकाश को अमृत कहा है। जैसे देवताओं को अमर कहते हैं वैसे ही इसको समझो; क्योंकि आकाश की उत्पत्ति और नाश है यह पूर्व ही प्रतिपादित किया गया है। 'आकाश वत्सर्वगतश्च नित्यः।' (आत्मा आकाश के समान सर्व व्यापी और नित्य है) इस श्रुति में भी आकाश की महानता प्रसिद्ध होने से उसकी उपमा आत्मा की अत्यन्त महानता निर्दिष्ट करने के लिये ही दी गई है, आत्मा

आकाश के समान है यह बताने के लिये नहीं। तीर के समान सूर्य दौड़ता है ऐसा जब लोग बोलते हैं तब सूर्य की गति अत्यन्त तीव्र है यही उसका अर्थ है सूर्य की गति बाण की गति के समान है ऐसे अभिप्राय से यह नहीं बोला जाता, इसी प्रकार यह भी है। इसी प्रकार आकाश के अनंतत्त्व के लिये उपमा देने वाली श्रुति को भी समझो। दूसरे 'ज्यायानाकाशात्' (आत्मा आकाश से बड़ा है), इस श्रुति से आत्मा से आकाश का परिमाण न्यून है यह सिद्ध होता है। वैसे ही 'न तस्य प्रतिमास्ति' [श्वे० ४ । १६] (आत्मा की प्रतिमा नहीं है) यह श्रुति आत्मा को किसी की भी उपमा नहीं दी जा सकती यही बताती है। 'अतोऽन्यदार्तम्' [बृ० ३ । ४ । २] (इससे यानी आत्मा से अन्य सब विनाशी है) यह श्रुति ब्रह्म से भिन्न ऐसे आकाश आदि सब विनाशी हैं यही प्रतिपादन करती है।

अब 'जैसे ब्रह्म शब्द का तप के अर्थ में गौण प्रयोग किया है, वैसे ही आकाश की उत्पत्ति की श्रुति भी गौण है' ऐसा जो कहा था उसका आकाश की उत्पत्ति का श्रुति और अनुमान दोनों प्रमाणों से परिहार किया गया है। इससे आकाश ब्रह्म का कार्य है यही सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

२ मातरिश्वाधिकरण ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

एतेन इससे **मातरिश्वा** वायु का **व्याख्यातः** व्याख्यान हुआ।

यह अतिदेश है (एक के धर्म का दूसरे में प्रयोग करने के उपदेश को अतिदेश कहते हैं)। इस आकाश के व्याख्यान से आकाश के आश्रय वाले वायु का भी व्याख्यान हुआ ऐसा समझना चाहिये। यहाँ यथायोग्य पूर्व और उत्तर पक्ष की रचना

कर लेनी चाहिये। (जैसे,) वायु की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि छांदोग्य उपनिषत् की उत्पत्ति की श्रुति में वायु की श्रुति नहीं है, यह एक पक्ष है। तैत्तिरीय उपनिषत् के उत्पत्ति प्रकरण में 'आकाशद्वायु' [तैं० २ । १] (आकाश से वायु की उत्पति हुई) ऐसी श्रुति है यह दूसरा पक्ष है। यहाँ श्रुति में विरोध की प्राप्ति होने से वायु की श्रुति गौण है, क्योंकि वायु की उत्पत्ति असम्भव इसलिये है कि 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' [वृ० १ । ५ । २२] (ऐसे इस वायु देव का नाश नहीं होता) इस श्रुति में वायु के नाश का निषेध किया गया है उसके तथा अविनाशी होने का प्रतिपादन करने वाली और भी श्रुतियाँ मिलती हैं।

सिद्धान्त यह है कि जितने विकारी पदार्थ हैं और जिनमें विभाग होते हैं, ऐसे सब पदार्थ अर्थात्, वायु भी, उत्पन्न ही होते हैं, क्योंकि ऐसा मानने से (येताश्रुतं श्रुतं भवति' इस प्रकार की श्रुतियों में मिलने वाली) प्रतिज्ञा का विरोध नहीं होता और श्रुति में जो लिखा है कि वायु का नाश नहीं होता, वह अपरा विद्या का कथन है और आपेक्षिक है' क्योंकि अग्नि आदि के समान वायु का नाश देखने में नहीं आता। श्रुति में वायु के अमृतत्व आदि धर्म कहे हैं, उसका निराकरण पहिले कर चुके हैं।

शंका—श्रुति के उत्पत्ति प्रकरण में आकाश और वायु की उत्पत्ति कहीं बताई है और कहीं नहीं भी बताई, यह बात दोनों के लिये समान है; तो दोनों के लिये एक ही अधिकरण बस था। जब दोनों की सिद्धि में कुछ भी अन्तर नहीं है तो दोनों का एक ही अधिकरण बनना चाहिये था। (एक

अधिकरण में एक का खण्डन करके) पृथक् अधिकरण से उसका अतिदेश यानी उसका खण्डन भी वैसा ही है ऐसा उपदेश करने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान —यह ठीक है, परन्तु मन्द बुद्धि वाले लोग केवल शब्द देखकर शंका करते हैं, उसके निवारण के लिये यह अतिदेश किया गया है; क्योंकि 'संवर्ग विद्या' आदि में उपास्य भाव से वायु का माहात्म्य वर्णन किया है। तथा श्रुति में वायु के नाश का निषेध किया है इसलिये वायु नित्य है ऐसी किसी को शंका होना भी सम्भव है (इसलिये भी यह अतिदेश किया गया है)।

३ असंभवाधिकरण।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ६ ॥

तु परन्तु **सतः** सत् स्वरूप ब्रह्म की **असंभवः** उत्पत्ति नहीं होती: **अनुपपत्तेः** क्योंकि (उसकी उत्पत्ति) सिद्ध नहीं होती।

जिनकी उत्पत्ति होना असम्भव है, ऐसे आकाश और वायु की भी उत्पत्ति होती है, यह सुनकर कोई यों समझ लेगा कि ब्रह्म की भी किसी पदार्थ से उत्पत्ति होती होगी। वैसे ही, आकाशादि विकारों ही से आगे के सब विकारों की उत्पत्ति होती है ऐसा जानकर आकाश के विकार से ही ब्रह्म की उत्पत्ति होती होगी ऐसा कोई मान लेगा। इन शंकाओं के दूर करने के लिये यह सूत्र लिखा गया है।

सत्स्वरूप ब्रह्म की उत्पत्ति और किसी पदार्थ से होती होगी यह शंका न करनी चाहिये, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। ब्रह्म केवल सत्स्वरूप है। केवल सत्स्वरूप पदार्थ से

ब्रह्म की उत्पत्ति होती है यह नहीं कह सकते; क्यों कि जिन दो पदार्थों में कुछ भी भेद नहीं होता उनमें कार्य कारण भाव नहीं बन सकता। किसी विशेष सत् पदार्थ से उसकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी नहीं मान सकते, क्योंकि व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता; सामान्य पदार्थ से विशेष पदार्थ उत्पन्न होते देखने में आते हैं। मृत्तिका आदि से घट आदि उत्पन्न होते हैं, परन्तु विशेष पदार्थ से सामान्य पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते।

असत् से सत् की उत्पत्ति होती है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत् का तो कोई स्वरूप ही नहीं है और 'कथमसतः सज्जायेत' [छां० ८।७।१] (असत् से सत् की उत्पत्ति किस प्रकार होगी ?) इस प्रकार श्रुति ने ही आक्षेप किया है। वैसे ही 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।' [श्वेता० ६।९] (वह कारण है और इन्द्रियों के स्वामी का स्वामी है, इसको कोई उत्पन्न नहीं करता न इसका कोई स्वामी है।) यह श्रुति ब्रह्म के उत्पादक का निषेध करती है। आकाश और वायु की उत्पत्ति संभव है यह बात हम बता चुके हैं; परन्तु ब्रह्म की उत्पत्ति संभव नहीं है, यही आकाश, वायु और ब्रह्म में भेद है। व्यवहार में एक विकार ही से दूसरे विकार की उत्पत्ति देखने में आती है, इसलिये ब्रह्म भी किसी पदार्थ का विकार ही है, यह नहीं बन सकता, क्योंकि किसी को मूल कारण न मानने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है और जो अन्तिम मूल कारण उपलब्ध होगा वही हमारा ब्रह्म है। इस प्रकार विरोध नहीं रहता।

४ तेजोऽधिकरण ।

तेजोऽतस्तथाह्याह ॥ १० ॥

अतः इस [वायु] से **तेजः** तेज [उत्पन्न] होता है; **हि** क्योंकि [श्रुति का] **तथा** वैसा ही **आह** कथन है ।

पूर्वपक्ष--छांदोग्य उपनिषत् में ब्रह्म को तेज का कारण कहा है । तैतिरीय उपनिषत् में तेज का कारण वायु है, ऐसा कहा है । इस प्रकार तेज के कारण सम्वन्धी श्रुतियों में परस्पर विरोध दिखाई देने से ब्रह्म ही तेज का कारण है, ऐसा प्राप्त होता है; क्योंकि श्रुति ने प्रथम 'सदेव' (पहले सत् ही था) ऐसा उपक्रम करके 'तत्तेजोऽसृजत' [६।२।२] (उसने तेज उत्पन्न किया) ऐसा उपदेश किया है ।

सब पदार्थों की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी जाय तब ही (एक के जानने से) सब जाना जाता है यह प्रतिज्ञा संभव है । दूसरे 'तज्जलान्' [छां० ८।७।१] (सब उससे उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है और उसी में स्थित है), इस श्रुति में सबका ही सामान्यता से ब्रह्म कारण है ऐसा कथन है । इसी प्रकार अन्य श्रुति में 'एतस्माज्जायते प्राणः [मुण्ड० २।१।३] (उससे प्राण उत्पन्न हुआ) ऐसा उपक्रम करके आगे उसी में सब किसी की सामान्यता से ब्रह्म से ही उत्पत्ति बताई है । तैत्तिरीय उपनिषद् में 'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' [तैत्ति० ३।६।१] (यह जो कुछ दीखता है, वह सब उसने तप से उत्पन्न किया) इस श्रुति में भी ऐसा सामान्य निर्देश है । इसलिये वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ ऐसी जहां क्रमदर्शक श्रुति है वहां वायु के पीछे अग्नि उत्पन्न हुआ इस प्रकार निर्देश है, ऐसा समझ लेना चाहिये ।

समाधान—तेज वायु ही से उत्पन्न होता है, क्योंकि श्रुति का कथन है कि वायु से अग्नि उत्पन्न होता है। यदि माना जाय कि तेज ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, न कि वायु से, तो 'वायोरग्निः' [तै० २।१।१] (वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ) इस श्रुति का बाध हो जायगा। यदि कहो कि यह श्रुति वायु के पीछे अग्नि उत्पन्न हुआ इस प्रकार के क्रम को दिखाती है ऐसा कहा है, तो वह ठीक नहीं है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः [तै० २।१।१] (ऐसे इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस पूर्ववर्ती वाक्य में 'उत्पन्न होना' इस क्रिया का अपादान जो आत्मा है उसका पंचमी विभक्ति से निर्देश किया है और उस उत्पन्न होना, इस क्रिया ही का (आगे आये हुए 'वायोरग्नि' इस श्रुति में) सम्बन्ध है। आगे भी 'पृथिव्या औषधयः' [तै० २ । १ । १] (पृथिवी से औषधियां उत्पन्न हुई) इस वाक्य में अपादान ही के अर्थ में पचमी का प्रयोग प्रतीत होता है। इसलिये 'वायु से अग्नि उत्पन्न होती है' इस वाक्य में भी 'वायु से' यह अपादान—पंचमी ही है, ऐसा प्रतीत होता है। 'वायोरग्नि' 'इसका वायु के पश्चात् अग्नि उत्पन्न होता है' ऐसा अर्थ करें तो 'पश्चात्' इस उपपद का वायु के साथ सम्बन्ध कल्पित ही है। परन्तु 'वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में 'से' इस अपादानकारक के अर्थ से वायु का सम्बन्ध पूर्व सिद्ध है, इसलिये यह श्रुति तेज ही की उत्पत्ति का प्रतिपादन करती है।

'तत्तेजोऽसृजत (उसने तेज उत्पन्न किया) यह दूसरी श्रुति भी तेज का कारण ब्रह्म है ऐसा दिखाती है, ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि ब्रह्म से परम्परा से तेज उत्पन्न होता है, ऐसा यदि माने तो भी कोई विरोध नहीं है।

प्रथम ब्रह्म ने आकाश और वायु उत्पन्न किये और वायु भाव को प्राप्त हुए ब्रह्म ने अग्नि उत्पन्न किया ऐसी कल्पना करो तो भी तेज की उत्पत्ति ब्रह्म से है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है, जैसे, गरम दूध उस गाय का कार्य है, दही भी उस गाय का कार्य है और आमिक्षा यानी गरम दूध और दही का मिश्रण भी उसी गाय का कार्य है। वैसे ही, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' [तै० २।७।१] (उसने स्वयं अपने को व्यक्त किया), यह श्रुति बताती है कि ब्रह्म ही विकार रूप से (जगत् में) अवस्थित रहता है। भगवद्गीता में भी भगवान् ने 'बुद्धिर्ज्ञानम-संमोहः' [गी० १०।४] (बुद्धि, ज्ञान, असंमोह) आदि से प्रारम्भ करके 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' [गी० १०।५] (मुझ ही से भूतों के पृथक् भाव उत्पन्न होते हैं) ऐसा कहा है। यद्यपि बुद्धि आदि अपने अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं यह प्रत्यक्ष दीखता है तो भी सब भाव मात्र जितने हैं उनका साक्षात् अथवा परम्परा से ईश्वर ही कारण है ऐसा कह सकते हैं।

इस प्रकार क्रम छोड़कर उत्पत्ति का कथन करने वाली श्रुतियों का व्याख्यान हुआ। इनका व्याख्यान और बहुत प्रकार से भी हो सकता है, परन्तु जिन श्रुतियों में उत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है, उनकी अन्य रीति से उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' [छां० ६।१।१] जिससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है) यह श्रुति की प्रतिज्ञा भी 'सब वस्तु एक सत् ही से उत्पन्न हों' इसी एक बात की अपेक्षा रखती है; न कि इस बात को कि सब वस्तुएं साक्षात् सत् ही से उत्पन्न हुई हों। इस प्रकार श्रुति में कुछ भी विरोध नहीं रहता ॥ १० ॥

५ अबधिकरण ।

आपः ॥ ११ ॥

आपः जल [तेज से उत्पन्न होता है] ।

'उससे उत्पन्न होता है, क्योंकि वैसा श्रुति का कथन है', ये शब्द यहां अध्याहृत हैं ऐसा समझना चाहिये इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह होता है कि जल तेज से उत्पन्न होता है, क्योंकि वैसा ही श्रुति का कथन है। 'तदपोऽसृजत' [छां० ६।२।३] (उसने जल उत्पन्न किया) तथा, अग्नेरापः (तै० २।१।१) (अग्नि से जल उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुति के प्रमाण होने से इस विषय में कुछ संशय ही नहीं रहता, तो भी तेज की उत्पत्ति कहने के पश्चात् और आगे पृथ्वी की उत्पत्ति कहने के पूर्व बीच का जल रह न जाय, इसलिये इस सूत्र का निर्माण किया गया है।

६ पृथिव्यधिकाराधिकरण ।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

[अन्न शब्द से] **पृथ्वी** पृथ्वी [विवक्षित है], **अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः** प्रकारण, लक्षण तथा अन्य श्रुति प्रमाण होने से ।

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त।' [छां० ६ । २ । ४] (उस जल ने विचार किया मैं बहुत होऊँ. उसने अन्न को पैदा किया) इस प्रकार श्रुति है। इसमें शंका होती है कि क्या अन्न शब्द से व्रीहि यव आदि या ओदन आदि भक्ष्य पदार्थ का कथन है या पृथ्वी का ? यहां पर व्रीहि आदि का ग्रहण करना ही ठीक है, क्योंकि व्यवहार में

अन्न शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध है। 'तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति' (इसलिये वह जहाँ वर्षा होती है वहां बहुत अन्न होता है) यह वाक्य भी इस अर्थ को पुष्ट करता है, क्योंकि वृष्टि से ही व्रीहि आदि बहुत होते हैं, पृथ्वी बहुत नहीं होती, ऐसा यदि कहो तो उसका उत्तर यह है कि अन्न शब्द से जल से उत्पन्न होने वाली पृथ्वी ही का निर्देश है, क्योंकि प्रकरण, रूप (लक्षण) तथा श्रुति प्रमाण से यही विदित होता है। 'तत्तेजोऽसृजत' (तिसने तेज को पैदा किया) 'तदपोऽसृजत' (उसने जल को पैदा किया) ऐसा महाभूत विषयक प्रकरण में कहा है, इसलिये यहाँ क्रम प्राप्त पृथ्वी रूप महाभूत का त्याग करके अकस्मात् ही व्रीहि आदि का ग्रहण करना युक्त नहीं है। वैसे ही, 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है) इस वाक्य शेष में दिया हुआ लक्षण भी पृथ्वी के अनुकूल दीखता है, क्योंकि ओदन आदि भक्ष्य पदार्थों का रूप कृष्ण ही हो ऐसा नियम नहीं है और व्रीहि आदि भी कृष्ण हों ऐसा नियम नहीं है। यदि कहो कि पृथिवी का रूप भी कृष्ण हो यह नियम नहीं है क्योंनि दूध शुभ्र और खेत लाल देखने में आता है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि अधिकता का ही ग्रहण होता है बहुधा पृथ्वी कृष्ण रूप ही होती है शुभ्र और लाल नहीं होती। पौराणिक लोग भी पृथ्वी की छाया को रात्रि कहते हैं और वह कृष्ण रूप वाली है इसलिये पृथ्वी का रूप कृष्ण है ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकरण की अन्य श्रुतियाँ भी जैसे, अद्भ्यः पृथिवी' (जल से पृथ्वी) ऐसा कथन है और, 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' [वृह० १। २। २] (जल की मलाई जो कठिन हो गई वही पृथ्वी हुई) यही कहती है। अब धान आदि की पृथ्वी से उत्पत्ति होती है ऐसा 'पृथिव्या

ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम्' [तै० २ । १ । १] (पृथ्वी से ओषधियाँ और औषधियों से अन्न उत्पन्न होता है), यह श्रुति बताती है ।

इस प्रकार 'अन्न' शब्द का अर्थ पृथिवी ही है ऐसा प्रतिपादन, प्रकरण आदि से जब स्पष्ट प्रतीत होता है तब उसका धान जौ आदि अर्थ किस प्रकार समझा जायगा ? 'अन्न' शब्द जो धान, जौ आदि अर्थ में प्रसिद्धि है उसका भी प्रकरण के देखते हुए बाध हो जाता है ।

श्रुति का आगे का भाग भी, अन्न आदि पृथ्वी का ही भाग होने से तद्द्वारा उदक से ही पृथिवी उत्पन्न होती है, यही सूचित करता है । अर्थात् प्रकृत श्रुति में 'अन्न' शब्द का अर्थ पृथ्वी ही है ऐसा सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

७ तदभिध्यानाधिकरण ।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात्सः ॥ १३ ॥

सः वह (परमेश्वर) **एव** ही **तदभिध्यानात्** उनका (कार्यों का) ध्यान करके [उन कार्यों की सृष्टि करता है]; **तु** क्योंकि **तल्लिंगात्** (श्रुति में) उसके [सर्व नियंतृत्व आदि] लक्षण [मिलते हैं] ।

आकाश आदि महाभूत स्वयं ही अपने विकारों को उत्पन्न करते हैं या परमेश्वर उन भूतों में रह कर उनके विकारों का ध्यान करते हुए उनको उत्पन्न करता है, ऐसा यहां पर संशय होता है ।

पूर्वपक्षः—महाभूत स्वयं ही अपने विकारों को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि, 'आकाशाद्वायुः वायोरग्निः [तै० २ । १ । १]

(आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न होता है) इस श्रुति में विकार उत्पन्न करने में उनकी स्वतंत्रता घोषित की गई है। यदि कहो कि अचेतनों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का निषेध किया गया है तो, 'तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त' [छां० ६। २। ४] (उस तेज ने इच्छा की, उस जल ने इच्छा की) इस श्रुति में पंच महाभूत भी चेतन हैं ऐसा ही प्रतिपादन किया है।

समाधानः—वह परमात्मा ही उन भूतों के रूप से अवस्थित होकर उनके विकारों का ध्यान करके उनको उत्पन्न करता है, क्योंकि ईक्षण परमेश्वर ही का लक्षण है। जैसे, शास्त्र वचन है कि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति' [बृह० ३। ७। ३] (जो पृथिवी में रहकर पृथिवी का अन्तरात्मा बनता है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो पृथिवी के भीतर रहकर पृथिवी को नियमन करता है), इत्यादि श्रुतियां चेतन की अध्यक्षता से ही भूतों की प्रवृत्ति होती है ऐसा निर्देश करती हैं। वैसे ही, 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' [तै० २। ६। १] (उसने इच्छा की कि 'मैं बहुत होऊँ, बहुत प्रजा उत्पन्न करूँ') इस प्रकार उपक्रम करके आगे 'सच्च त्यच्चाभवत्। तदात्मानं स्वयमकुरुत।' [तै० २। ६। १] (वह सत् यानी मूर्तिमान् वस्तु और त्यत् यानी मूर्ति रहित वस्तु हुआ, उसने स्वयं अपने को व्यक्त किया), इस प्रकार इस श्रुति में वह परमात्मा ही सबका आत्मा है ऐसा दिखाया है।

अब श्रुति में जो जल और तेज का ईक्षण कथन किया है, वह ईक्षण परमेश्वर के आवेश ही से बनता है ऐसा समझना

चाहिये; क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, [बृह० ३।७।२३] (उस ईश्वर से अन्य और कोई द्रष्टा नहीं है), इस श्रुति में ईश्वर से अन्य और कोई द्रष्टा नहीं है ऐसा कथन है। वैसे ही, 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' [छां० ६।२।३] (उसने इच्छा की कि 'मैं बहुत होऊँ और प्रजा उत्पन्न करूं') इस श्रुति से ईक्षण करने वाला जो सद्रूपी परमात्मा है उसी का प्रकरण चल रहा है ऐसा विदित होता है।

८ विपर्ययाधिकरण।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।। १४ ।।

तु वैसे ही [प्रलय का] **क्रमः** क्रम [उत्पत्ति के क्रम से] **विपर्ययेण** विपरीत है **च** और **अतः** इसलिये **उपपद्यते** वह युक्त ही है।

भूतों की उत्पत्ति के क्रमका विचार किया, अब आगे उनके लय का विचार किया जाता है। यहां पर विचार करना है कि भूतों का प्रलय किसी अनियमितरूप से होता है, अथवा उत्पत्ति के क्रम ही से होता है, अथवा उसके विरुद्ध क्रम से होता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' [तै० ३।१।१] (जिस ब्रह्म से ये भूत उत्पन्न होते हैं और जिससे ये उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं और जिसमें ये लीन होते हैं) इस श्रुति में पंच भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीनों ब्रह्म के स्वाधीन हैं ऐसा कथन किया है।

पूर्वपक्ष—इस श्रुति में क्रम के लिये कोई विशेष हेतु नहीं दिया होने से प्रलय का क्रम अनियमित माना जायगा अथवा

प्रलय के क्रम के सम्बन्ध में आकांक्षा उत्पन्न होने पर श्रुति में उत्पत्ति का जो क्रम बताया गया है उसी के अनुसार प्रलय का क्रम माना जायगा।

समाधानः—प्रलय का क्रम उत्पत्ति के क्रम से उल्टा हो यही ठीक है, क्योंकि व्यवहार में देखा जाता है कि जिस क्रम से जीना चढ़ जाते हैं उसके उल्टे क्रम ही से नीचे उतर आते हैं। मिट्टी से घड़ा, कूँजा आदि पदार्थ नाश को प्राप्त होकर मिट्टी ही में लीन होते हैं। वैसे ही जल से उत्पन्न हुआ वर्फ, ओले आदि पदार्थ जल ही में लीन होते हैं। इसलिये यही मानना योग्य है कि जल से उत्पन्न पृथिवी स्थितिकाल समाप्त होने पर जल ही में लीन हो जाती है और तेज से उत्पन्न हुआ जल तेज ही में लीन हो जाता है। इस क्रम से सब कार्य समूह अपने से सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर ऐसे अपने निकटवर्ती कारण में लीन होते हुए आखिर में अत्यन्त सूक्ष्म ऐसे मूल कारण परब्रह्म में लीन होते हैं, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि कार्य अपने निजी कारण को छोड़ कर अपने कारण के कारण में लीन होता है यह मानना ठीक नहीं है।

स्मृति में भी स्थान स्थान पर उत्पत्ति क्रम के विरुद्ध ही प्रलय का क्रम वतलाया है। जैसे जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्वापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥' (हे देवर्षे, जगत् को आधार भूत हुई पृथिवी जल में लीन होती है, जल तेज में और तेज वायु में लीन होता है) इत्यादि में, परन्तु श्रुति में जो उत्पत्ति क्रम बताया है वह उत्पत्ति के लिये ही है, वह प्रलय के लिये नहीं घट सकता। वैसे ही, यह क्रम प्रलय के लिये अनुकूल न होने से प्रलय में इसकी आवश्यकता नहीं है

क्योंकि, जब तक कार्य अवस्थित है तब तक कारण का नाश होता है ऐसा मानना ठीक नहीं है और कारण का नाश होने पर तो कार्य रह ही नहीं सकता। परन्तु कार्य का नाश होने पर कारण रह सकता है और मिट्टी आदि में यही देखा जाता है ॥ १४ ॥

६ अन्तराविज्ञानाधिकरण।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥

विज्ञानमनसी बुद्धि और मन की [उत्पत्ति और लय] **अन्तरा** बीच में ही कहीं **क्रमेण** क्रम से (मानना चाहिये) **तल्लिगात्** क्योंकि, (श्रुति में) उनके लक्षण मिलते हैं, **इति चेत** ऐसा यदि कहो तो **न** वह ठीक नहीं है **अविशेषात्** क्योंकि (इनमें और भूतों में कुछ) भेद नहीं है।

भूतों की जिस क्रम से उत्पत्ति होती हैं ठीक उसके उलटे क्रम से उनका लय होता है यह पहिले कह चुके हैं और आत्मा ही से उत्पत्ति तथा आत्मा ही में प्रलय होता है यह भी कथन किया गया है।

पूर्व पक्ष—इन्द्रियों सहित मन और बुद्धि का सद्भाव यानी अस्तित्व भी श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है, जैसे, 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुः' [कठ० ३ । ३] (बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम, तथा इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं) आदि में इनके लक्षण पाये जाते हैं। इसलिये

इनका भी बीच में कहीं उत्पत्ति और लय मानना पड़ेगा, क्योंकि सब वस्तु ब्रह्म ही से उत्पन्न होती है ऐसा माना गया है। वैसे ही, आथर्वण श्रुति के उत्पत्ति प्रकरण में पंचभूत और आत्मा के बीच में इन्द्रियों का निर्देश किया है। जैसे, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' [मुण्ड० २। १। ३] (इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, वैसे ही मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश वायु, तेज, जल और सबको धारण करने वाली पृथिवी, ये उत्पन्न होते हैं)। अर्थात इस श्रुति से पूर्व कथित पचभूतों की उत्पत्ति और प्रलय के क्रम का भंग होता है।

समाधान—उत्पत्ति क्रम का भंग इसलिये नहीं होता कि इनकी उत्पत्ति पृथक् नहीं होती। इन्द्रियां भूतों के ही विकार है इसलिये भूतों का उत्पत्तिप्रलय ही इनका उत्पत्ति प्रलय है। इसलिये, इनकी उत्पत्ति का भिन्न क्रम मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियां भूतों के ही विकार हैं ऐसा उनका वर्णन मिलता है; जैसे, 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् [छां० ६।५।४] (हे सोम्य, मन अन्नमय है, प्राण जलमय और वाणी तेजोमयी है)। कहीं कहीं भूत और इन्द्रियों का पृथक् निर्देश मिलता है वह ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से होता है यानी इन्द्रियां भूत रूप होते हुए भी उनमें भूतों से कुछ विशेषताएं होती हैं इसीलिये उनका विशेष रूप से पुनः निर्देश किया जाता है।

यदि इन्द्रियों को भूतों के विकार न माने तो भी इससे भूतों के उत्पत्ति क्रम में कुछ भी फरक नहीं होता। इन्द्रियां भले पहिले होती हों या भूत पहिले उत्पन्न होते हों; परन्तु, दी

हुई आथर्वण श्रुति में इन्द्रियां और भूतों का क्रम से निर्देश किया है, उनकी उत्पत्ति का क्रम उसमें नहीं बतलाया। अन्य स्थान पर भी भूतों का और इन्द्रियों का अलग अलग ही क्रम दिया है; जैसे, 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्तदात्मान मैक्षत तद्वाचमसृजत ।') पहिले यह सब प्रजापति ही था उसने इच्छा की और मन उत्पन्न किया; उस समय केवल वह मन ही था, उसने इच्छा की और वाणी उत्पन्न की)। इसलिये भूतों की उत्पत्ति के क्रम का भंग किसी प्रकार नहीं होता ॥ १५ ॥

१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरण

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो
भाक्तस्तभ्दावभावित्वात् ॥ १६ ॥

तद्व्यपदेशः इस (उत्पत्ति और नाश) का निर्देश **चराचरव्यपाश्रयः** चराचर (देहों) के सम्बन्ध में (मुख्यतया) होता है, तु परन्तु (यह निर्देश जीव के सम्बन्ध में) **भाक्तः** गौण प्रकार से होता है **तद्भावभावित्वात्** क्योंकि, उसके (शरीर के) भाव ही से (उसके जन्म मरण का निर्देश होता है।

'देवदत्त का जन्म हुआ, देवदत्त का मृत्यु हुआ' आदि लौकिक व्यवहार के अनुसार जातकर्म आदि संस्कार करने का शास्त्र में लिखा है। इससे जीव को भी उत्पत्ति प्रलय होते हैं ऐसी किसी को भ्राँति हो सकती है; इसीलिये हम उसका यहाँ निराकरण करते हैं —

जीव की उत्पत्ति और प्रलय नहीं होते, क्योंकि (जीव का देह के साथ नाश न हुआ हो उसी अवस्था में) उसका शास्त्र

में कथन किये हुए कर्मफल के साथ सम्बन्ध बनता है। शरीर के साथ यदि जीव का भी अन्त हो जाता हो तो दूसरे शरीर में इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करने के लिये शास्त्र में जो विधि निषेध बतलाये हैं वे व्यर्थ हो जायँगे। श्रुति भी है कि 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते।' [छां० ६। ११। ३] (जीव का छोड़ा हुआ यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता)। यदि कहो कि 'वह जन्मा, वह मरा' आदि लौकिक व्यवहार जीव के सम्बन्ध में होता है ऐसा पहिले कहा था तो वह सत्य ही कहा था, परन्तु यह जन्म मरण का व्यवहार जीव के संबंध में गौण रूप से होता है। यदि पूछो कि यह व्यवहार किस के संबंध में मुख्यता से होता है कि जिसकी अपेक्षा से यह व्यवहार गौण रूप से माना जाय; तो कहते हैं कि चराचर देहों के संबंध में यह व्यवहार मुख्य रूप से होता है। जन्म और मरण यह व्यवहार चलने वाले चर और न चलनेवाले वनस्पति आदि के अचर देहों के संबंध में ही मुख्य है, क्योंकि स्थावर और जंगम देह ही उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उनके संबंध में जन्म मरण शब्द का व्यवहार मुख्य है और उनमें रहने वाले जीव के लिये उनका व्यवहार गौण है, क्योंकि शरीर के भाव से वह युक्त होता है। जब शरीर की उत्पत्ति और नाश होता है तब ही जन्म और मरण शब्द का प्रयोग होता है अन्यथा नहीं। शरीर के साथ संबंध हुए बिना 'जीव जन्मा या मरा' ऐसा कथन कहीं भी नहीं मिलता। शरीर के संयोग और वियोग के निमित्त ही जन्म मरण शब्द का प्रयोग होता है ऐसा श्रुति का कथन है; जैसे 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' [बृह० ४।३।८] (ऐसा यह पुरुष जन्म पाता है यानी शरीर को प्राप्त करता है

और वह मरता है यानी शरीर से निकल जाता है)।

अब जातकर्म आदि जो संस्कार शास्त्र में कहे हैं वे शरीर ही के उत्पत्ति के अनुसार कहै हैं ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि जीव की तो उत्पत्ति ही सम्भव नहीं। जैसे परमात्मा से आकाश आदि की उत्पत्ति होती है वैसे परमात्मा से जीव की उत्पत्ति होती है या नहीं यह आगे के सूत्र में कहेंगे। इस सूत्र में इतना ही कहा है कि स्थूल उत्पत्ति और प्रलय देह के होते हैं जीव के नहीं ॥ १६ ॥

११ आत्माधिकरण।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

आत्मा आत्मा **न** (उत्पन्न) नहीं होता **अश्रुतेः** क्योंकि श्रुति में (आत्मा की उत्पत्ति) नहीं मिलती **नित्यत्वात्** वह नित्य है **च** और **ताभ्यः** श्रुति के भी वैसे ही प्रमाण मिलते हैं।

शरीर, इन्द्रिय आदि रूप पिंजरे का अध्यक्ष और कर्म फल से सम्वन्ध रखने वाला जीव नामक आत्मा आकाशादि के समान ब्रह्म से उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्म ही के समान उसकी भी उत्पत्ति नहीं होती, इस विषय में श्रुतियों में विरोध है। कुछ श्रुतियों में अग्नि की चिनगारियों का उदाहरण देकर जीवात्मा की परमात्मा से उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है, तो कुछ श्रुतियों में अविकारी परमात्मा का ही शरीर में प्रवेश होने से उसी को जीवावस्था प्राप्त होती है ऐसा कहा है। जीव उत्पन्न होता है ऐसा वहाँ कथन नहीं है।

पूर्वपक्षः—ऐसी अवस्था में जीव की उत्पत्ति माननी चाहिये; क्योंकि जीव की ब्रह्म से उत्पत्ति मानने ही से प्रतिज्ञा का विरोध नहीं होता। एक के जानने से यह सब जाना जाता है, इस प्रतिज्ञा का, जब सब कुछ ब्रह्म ही से उत्पन्न हुआ हो तब ही विरोध नहीं होता। यदि जीव कोई पृथक् तत्त्व माना जाय तब इस प्रतिज्ञा का विरोध होता है और अधिकारी परमात्मा को ही जीव मान नहीं सकते, क्योंकि उन दोनों के लक्षण भिन्न हैं। परमात्मा पाप रहितत्व आदि धर्मों से युक्त है और जीव उसके विरुद्ध धर्मों से युक्त है। वैसे ही, जीव का विभाग होने से भी वह विकार ही सिद्ध होता है, जैसे आकाश आदि विभाग वाले होने से वे सब विकार ही कहे जाते हैं और उनकी उत्पत्ति भी बताई गई है। इसलिये पुण्यपाप कर्मों से युक्त, सुख दुःख वाले और प्रति शरीर में विभक्त ऐसे जीवों की भी प्रपंच की उत्पत्ति के समय उत्पत्ति होना आवश्यक है। श्रुति में भी 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः।' [बृह० २। १। २०] (जिस प्रकार अग्नि से छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार परमात्मा से प्राण उत्पन्न होते हैं), इस प्रकार प्राण आदि भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति कहकर आगे 'सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' (ये सब ही आत्मा उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार कहते हुए जीवात्माओं की पृथक् उत्पत्ति बताई हैं। 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुल्लिगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥' [मुण्ड० २। १। १] (हे सौम्य, जैसे प्रदीप्त अग्नि से उसके यानी अग्नि के समान रूप वाली हजारों चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, वैसे ही उस अक्षर से भी नाना प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं)।

इस श्रुति में भी जीवों की उत्पत्ति और प्रलय का कथन किया गया है। क्योंकि, 'सरूपा:' इस श्रुति में (उसके समान) ये शब्द हैं और अक्षर के समान जीवात्मा ही है, क्योंकि दोनों चेतन हैं। यदि किसी बात के लिये श्रुति प्रमाण का अभाव हो तो उससे श्रुति में कही हुई किसी बात का निषेध नहीं कर सकते। यह नियम है कि अन्य श्रुतियों में जिसका विरोध न हो ऐसी कोई अधिक बात किसी श्रुति में कही हो तो उसी के अनुसार सब श्रुतियों का उपसंहार (अर्थ निर्णय) करना योग्य है। इसलिये परमात्मा का शरीरों में प्रवेश कथन करने वाली श्रुति का भी, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' [तै० २ । ७ । १] (उसने स्वयं अपने को व्यक्त किया) इत्यादि श्रुतियों के समान परमात्मा को जीव रूप विकारावस्था प्राप्त होती है, इसी प्रकार का अर्थ करना चाहिये। इससे जीवात्मा की उत्पत्ति होती है यही सिद्ध होता है।

समाधान—जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि श्रुति में उसकी उत्पत्ति का कथन नहीं है। बहुत स्थान पर उत्पत्ति प्रकरण में इसकी उत्पत्ति का कथन नहीं मिलता। यदि कहो कि, किसी श्रुति में कोई बात न हो इसलिये उससे अन्य श्रुति में जो कथन है उसका निषेध नहीं होता; यह प्रथम कह चुके हैं, तो वह तुमने ठीक ही कहा है। परन्तु हम कहते हैं कि जीव की उत्पत्ति का संम्भव ही नहीं, श्रुति से ही उसका नित्यत्व सिद्ध होता है। सूत्र में 'च' यानी 'और' शब्द है, उससे जीव के अजत्व आदि धर्म अभिप्रेत हैं, इससे भी जीव का नित्यत्व ही सिद्ध होता है। इसलिये अज और नित्य ऐसे जीव की उत्पत्ति का संभव नहीं।

अब जीव के नित्यत्व की श्रुतियां बताते हैं—"न जीवो म्रियते" [छां० ६।११।३] (जीव मरता नहीं); "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म ।" [बृ० ४।४।२२] (ऐसा यह महान्, अज, जरा मरण रहित, अमर और निर्भय आत्मा ब्रह्म ही है); "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" [कठ० २।१८] (ज्ञानी उत्पन्न नहीं होता और मरता भी नहीं); 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' [कठ० २।१८] (यह अज, नित्य, शाश्वत और पुराना है); 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविषत्' [तै० २।६।१] (उसको यानी शरीर को उत्पन्न करके उसीमें वह प्रविष्ट हुआ); 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' [छां० ६।३।२] (ऐसे जीव रूप से प्रवेश करके मैं नाम रूप को व्यक्त करूं); 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' [बृ० १।४।७] (ऐसे इस आत्मा ने नखाग्रों तक प्रवेश किया); 'तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह ब्रह्म तू है); 'अहं ब्रह्मास्मि' [बृ० १।४।१०] (मैं ब्रह्म हूँ); 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' [बृ० २।५।१९] (सबका अनुभव करने वाला यह आत्मा ब्रह्म है), इत्यादि श्रुतियां जीव के नित्यत्व का प्रतिपादन करके जीव की उत्पत्ति का निषेध करती हैं ।

पूर्वपक्ष में कहा था कि जीव विभाग युक्त होने से विकार रूप है इसलिये उसकी उत्पत्ति माननी चाहिये । उसका उत्तर यह है कि जीव स्वयं विभाग युक्त नहीं है; क्योंकि 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० ६।११] (सब भूतों में गुप्त रूप से रहने वाला, सर्वव्यापक और सब भूतों का अन्तरात्मा रूप ऐसा देव एक है), ऐसी श्रुति है । जीव का जो विभाग प्रतीत होता है वह बुद्धि आदि की उपाधि से उसी प्रकार भासता है, जिस प्रकार घट आदि की उपाधि से

आकाश के विभाग प्रतीत होते हैं। शास्त्र में भी कहा है कि कि 'सवा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः।' [बृ० ४।४।५] (ऐसा यह आत्मा ब्रह्म है, वही विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय और श्रोत्रमय है)। यह श्रुति भी एक और अविकारी ऐसे ब्रह्म रूप ही जीव है और वह विज्ञानमय आदि अनेक भावमय है यही दिखाती है। अब श्रुति में जीव को विज्ञानमय आदि इसलिये कहा है कि जीव का विज्ञान आदि से भिन्न ऐसा स्वरूप व्यक्त नहीं है; वह सदा ही विज्ञान आदि से आच्छादित प्रतीत होता है। जैसे किसी कामी पुरुष को वह स्त्रीमय है ऐसा कहते हैं, वैसे ही यहां पर समझना चाहिये। श्रुति में कहीं कहीं जीव के उत्पत्ति प्रलय कहे हैं, वे भी जीव के उपाधि के संबंध से ही कहे हैं यानी उपाधि की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति और उपाधि के लय से इसका लय कहा जाता है ऐसा समझना चाहिये।' प्रज्ञानघन एवऐतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' [बृ० ४।५।१३] (प्रज्ञानघन रूप आत्मा ही इन भूतों से निकलता है और उनके पीछे नाश को प्राप्त होता है; मरने के पश्चात् उसको कुछ भी ज्ञान नहीं रहता), इस श्रुति का भी यही अभिप्राय है। फिर इसी स्थान पर, प्रलय उपाधि का ही होता है, आत्मा का नहीं, यही बात "मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न व अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" (भगवान् ने मुझे मोह में डाला है, मरने के पश्चात् उसको कुछ भी ज्ञान नहीं रहता यह मेरी समझ में नहीं आया) इस प्रकार का प्रश्न उठाकर श्रुति ने आगे प्रतिपादित किया है कि' 'नवाअरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति धर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति।' [बृ० ४।५।१४]

(अरी, तू मोह में पड़े ऐसा मैं कुछ भी नहीं कहता, यह आत्मा अविनाशी है, इसके स्वरूप का नाश नहीं होता केवल उसका विषयों से सम्बन्ध छुट जाता है), । अविकारी ब्रह्म ही जीवावस्था को प्राप्त होता है, ऐसा मानने से भी (एक आत्मा के जानने से सब कुछ जाना जाता है इस) प्रतिज्ञा का बाध नहीं होता । जीव ब्रह्म का भेद कहा है वह भी उसकी उपाधि के लिये ही है; क्योंकि, 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' [बृ० ४।३।१५] (अब आगे मोक्ष प्राप्ति के लिये ही उपाय कहो) इस श्रुति में प्रकृत विज्ञानमय आत्मा को संसार के कोई भी धर्म नहीं होते, ऐसा कह कर वह परमात्म स्वरूप है । यही प्रतिपादित किया है, इसलिये जीव की उत्पत्ति भी नहीं होती और नाश भी नहीं होता, यह सिद्ध हुआ ।। १७ ।।

१२ ज्ञाधिकरण ।

ज्ञोऽत एव ।। १८ ।।

अतएव इसलिये [जीवात्मा] ज्ञ नित्य ज्ञान स्वरूप है ।

दर्शनकारों में मत भेद होने के कारण यहाँ यह सन्देह होता है कि जीवात्मा वैशेषिकों के मतानुसार स्वयं अचेतन होते हुये उसका ज्ञान यह धर्म है अथवा साँख्यों के मत के अनुसार वह नित्य ज्ञानस्वरूप है ।

पूर्वपक्ष—जीवात्मा का ज्ञान गुण बाहर से प्राप्त हुआ है । जैसे अग्नि और घट का संयोग हो जाने से उससे घट में रक्तता यानी लाली आदि गुण प्राप्त होते हैं, वैसे ही आत्मा और मन का संयोग हो जाने पर ज्ञान गुण की उत्पत्ति होती है । यदि जीव का ज्ञान गुण नित्य ही होता तो सोये हुए को, मूर्छित को तथा पिशाचग्रस्त ऐसे मनुष्य को भी ज्ञान बना

रहता। परन्तु पीछे पूछने पर 'हमको कुछ भी ज्ञान नहीं था' ऐसा वे कहते हैं और स्वस्थ होने पर फिर ज्ञानयुक्त होते हैं, ऐसा देखने में आता है। अर्थात् जीव को कभी कभी ज्ञान होता है, इसलिये उसका ज्ञान आगंतुक ही है।

इसी पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि 'इसीलिये जीवात्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है' क्योंकि जीवात्मा की उत्पत्ति ही नहीं होती, अविकारी परब्रह्म ही को उपाधि से जीवत्व की प्राप्ति होती है। 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म' [बृ० ३। ६। २८] (ब्रह्म विज्ञानस्वरूप और आनन्द स्वरूप है); 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म।' [तै० २। १ १] (ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है); 'अनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव।' [बृह० ४।५।१३] (आत्मा भीतर नहीं है, वाहर नहीं है; वह सर्व व्यापी और ज्ञानस्वरूप है) इत्यादि श्रुतियों में परब्रह्म चैतन्य स्वरूप है ऐसा कथन किया है। यदि यह परब्रह्म ही जीव है तो उष्णता और प्रकाश जैसे अग्नि के स्वरूप हैं, वैसे जीव का भी नित्य ज्ञान ही स्वरूप है ऐसा विदित होता है। विज्ञानमय की यानी जीवात्मा की प्रक्रिया में इस प्रकार की श्रुतियां हैं—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' [बृ० ४। ३। ११] (वह स्वयं सोता नहीं परन्तु सोई हुई इन्द्रियों को वह प्रकाश करता है यानी जानता है), 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।' [बृ० ४। ३। ६] (यहाँ पर यह पुरुष स्वप्रकाश होता है।), नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।'। बृ० ४। ३। ३०] (ज्ञाता के ज्ञान का कभी भी नाश नहीं होता।) इत्यादि।

'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा।' [छां० ८।१२।४] (यहां जो मैं इसका वास लेता हूँ, ऐसे जो जानता है वह आत्मा है); इस श्रुति में 'यह मैं जानता हूँ, यह मैं जानता हूँ, इस

प्रकार से इन्द्रिय द्वारा आत्मा को ज्ञान का अनुसंधान होता है ऐसा कहा हुआ होने से आत्मा ज्ञानस्वरूप है यही सिद्ध होता है। यदि कहो कि आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप है तो प्राण आदि इन्द्रियाँ निरर्थक हो जायेंगी, तो वह ठीक नहीं; क्योंकि ज्ञान के गंध आदि जो विशेष प्रकार के विषय हैं उनका निश्चय करने के लिये इन्द्रियाँ उपयोगी हैं। यही बात 'गंधाय घ्राणम्' [छाँ० ८। १। ४] (गंध के ज्ञान के लिये घ्राण है), इत्यादि श्रुतियों में कहा है।

पूर्वपक्ष में जो कहा है कि सोये हुये मनुष्यों को ज्ञान नहीं होता, उसका श्रुति ने ही निरसन किया है। सोये हुए जीव के विषय में 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यतिनहि द्रष्टु-र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ।' [बृ० ४। ३। २३] (उस समय जो देखता नहीं है वह देखते हुए भी नहीं देखता; क्योंकि द्रष्टा के दृष्टि का कभी नाश नहीं होता, वह तो अविनाशी है। परन्तु वहाँ आत्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है जिसको वह देखे) इत्यादि से यही बात कही है कि यहाँ जो ज्ञान का अभाव प्रतीत होता है, वह जीव में ज्ञान शक्ति के अभाव से नहीं है; परन्तु वहाँ जानने का विषय ही नहीं है इसीलिये ज्ञान नहीं होता। जैसे आकाश में प्रकाश की प्रतीति नहीं होती इसका कारण प्रकाश का स्वरूप नहीं है यह नही, परन्तु वहाँ प्रकाशित करने के लिये कोई वस्तु ही नहीं है, इसीलिये उसकी प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार यह समझना चाहिये। अब वैशेषिक आदि मतों में जो तर्क किये हैं वे श्रुति विरुद्ध होने से मिथ्या हैं इसलिये आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप ही है, यही हम निश्चय करते हैं ॥ १८ ॥

१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरण । सू० १९–३२

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

[जीव अणु है, क्योंकि उसकी] उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् उत्क्रान्ति गति और आगमन की [श्रुतियाँ मिलती हैं]।

अब यहाँ जीव का परिणाम कौन है इसका विचार किया जाता है कि क्या वह अणु परिमाण वाला है, मध्यम परिमाण वाला है या महत्परिमाण वाला है।

शंका—आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि वह नित्य ज्ञान स्वरूप है, ऐसा पूर्व सूत्र में ही प्रतिपादित किया है। इसलिये परमात्मा ही जीव है ऐसा प्राप्त हुआ और परमात्मा अनंत है यह श्रुति में प्रसिद्ध है, तव जीव के परिणाम का यहां विचार ही कहाँ वन सकता है ?

समाधान—यह ठीक है, परन्तु श्रुति में जीव की उत्क्रान्ति गति और आगमन कहा है, इसलिये जीव मर्यादित है यही प्रतीत होता है। वैसे ही कहीं कहीं श्रुति में जीव अणु परिमाण है, ऐसा स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन है। इसलिये इन श्रुतियों में आपस में विरोध नहीं है यह प्रतिपादित करने के लिये यह विचार प्रारम्भ किया है।

पूर्वपक्ष—श्रुति में जीव की उत्क्रान्ति, गति और आगमन का कथन है, इसलिये जीव मर्यादित परिमाण वाला अर्थात् अणु परिमाण वाला है। 'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति ।' [कौषीत० ३ । ३] (जव वह इस शरीर में से निकल जाता है तव वह इन वाक् आदि सब के सहित ही निकल जाता है) इस श्रुति में उत्क्रान्ति का कथन है। 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ।'

[कौषीत० १ । २] (जो जीव इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रलोक ही को प्राप्त होते हैं), इस श्रुति में जीव की परलोक में गति बताई है और 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे !' [बृ० ४।४।६] (उस लोक से जीव इस लोक में कर्म करने के लिए लौट आता है) इस श्रुति में उसका पुनरागमन भी बताया है । इस प्रकार जीव के उत्क्रान्ति, गति और पुनरागमन का श्रुति में कथन होने से वह परिच्छिन्न है यही मानना पड़ता है, क्योंकि व्यापक के गति की कल्पना नहीं बनती । और यदि जीव परिच्छिन्न है तो वह अणु परिमाण ही है, क्योंकि उसके शरीर परिमाण का खण्डन जैन मत के खण्डन में किया गया है ॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

च और उत्तरयोः पीछे के दो [गति और आगमन] का स्वात्मना अपने आत्मा (कर्ता) के साथ [संबंध होने से जीव अणु ही है] ।

जैसे कोई अपने गांव का स्वामित्व विना चलन क्रिया किये भी छोड़ सकता है, वैसे ही जीव के कर्मों का क्षय होने पर उसका भी विना चलन क्रिया किये देह का स्वामित्व छुटेगा और इस प्रकार विना हलचल किये भी उसकी उत्क्रान्ति यानी मृत्यु बन सकेगी । परन्तु आगे कहा हुआ उसका परलोक में गमन और फिर से इस लोक में आगमन विना हलचल किये नहीं बन सकताः क्योंकि गम् धातु की गमन क्रिया का आधार उस गति का कर्ता वही होता है । इसलिये जब आत्मा का मध्यम परिमाण नहीं है (मध्यम परिमाण का खंडन पूर्व कर

चुके हैं), तो उसका गमनागमन तब ही बन सकता है जब कि वह अणु परिमाण हो। और इस प्रकार जीव को गति और आगमन संभवित होने से 'उत्क्रान्ति' का अर्थ भी 'शरीर से अलग होना' ही है ऐसा विदित होता है; क्योंकि यदि जीव देह से पृथक् ही न हो तो उसका परलोक गमन और प्रत्यागमन नहीं हो सकता। तथा 'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीर देशेभ्यः' [बृ० ४।४।२] (आंख से शिर से अथवा शरीर के अन्य अवयवों से जीव के पीछे पीछे प्राण उत्क्रान्त होते हैं) इस श्रुति में उत्क्रान्ति की क्रिया के अपादान रूप से शरीर के अवयवों का निर्देश किया है। इसी प्रकार 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' [बृह० ४।४।१] (निद्रावस्था में वह तेज के अंश रूप इन्द्रियों को ग्रहण करके हृदय में प्रवेश करता है) 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्' [बृह० ४।३।११] (तेजस्वी ऐसे इन्द्रिय समूह को लेकर वह फिर अपने स्थानपर आजाता है यानी जाग्रत होजाता है) इन श्रुतियों से शरीर के भीतर भी जीव का गमनागमन होता है ऐसा जानने में आता है। इससे भी जीव का अणु परिमाण ही सिद्ध होता है।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

(जीवात्मा) **अणुः** अणु परिमाण **न** नहीं है **अतच्छ्रुतेः** क्योंकि श्रुतिमें उसका (अणु परिमाण से) भिन्न परिमाण लिखा है, **इति चेत्** यदि ऐसा कहो तो **न** वह ठीक नहीं है; **इतराधिकारात्** क्योंकि (जहाँ ऐसा कहा है) वह जीव का प्रकरण नहीं है।

और इसलिये भी आत्मा के अणुत्व में संदेह है कि श्रुति ने उसका अन्य परिमाण भी कहा है। श्रुति में आत्मा के लिए

अणु परिमाण से अन्य परिमाण का कथन मिलता है, जैसे 'स वा एव महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय· प्राणेषु।' [बृह० ४।४।१२] (प्राणों में जो यह विज्ञानमय है वही महान् और अज ऐसा आत्मा है), 'आकाशवत्सर्व गतश्च नित्यः।' 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म।' [तै० २।१।१] (आत्मा आकाश के समान सर्व व्यापक और नित्य है। ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनंत है।) इत्यादि। यदि कहो कि इस प्रकार की श्रुतियां आत्मा के अणु परिमाण का निषेध करती हैं तो यह दोष ठीक नहीं है; क्योंकि (जिस प्रकरण में ये श्रुतियां आतीं हैं) वह इतर संबंधी है यानी जीव संबंधी नहीं है। परमात्मा के वर्णन में श्रुति यह भिन्न परिमाण का कथन करती है। वेदान्त ग्रन्थों में प्रधानता से परमात्मा का ही ज्ञेय रूप से कथन होता है। वैसे ही 'विरजः पर आकाशात् [बृ० ४।४।२०] (आत्मा दोष रहित और आकाश से भी पर है), इस प्रकार की श्रुतियों से उन स्थानों पर विशेष रूप से परमात्मा का ही प्रकरण चल रहा है ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। 'योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु' [बृ० ४।४।२२] (प्राणों में जो यह विज्ञानमय आत्मा है) इस श्रुति में आगे जीवात्मा ही को महान् अवश्य बताया है, परन्तु शास्त्र-दृष्टि से यह निर्देश वामदेव के (कथन के) समान औपचारिक है [वामदेव को गर्भ में ही ज्ञान था इसलिये वह गर्भ ही से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहता था]। अर्थात् श्रुतिमें अणु परिमाण से भिन्न परिमाण का कथन है वह परमात्मा के सम्बन्ध में है, इसलिये जीव का अणुपरिमाण मानने में कुछ भी विरोध नहीं आता॥ २१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्याम् च ॥ २२ ॥

च और **स्वशब्दोन्मानाभ्याम्** श्रुति के साक्षात् शब्द द्वारा तथा [जीव के] अत्यन्त सूक्ष्मत्व के श्रुति कथन द्वारा [जीवात्मा अणु है यही सिद्ध होता है]।

जीव का अणु परिमाण इसलिये भी है कि श्रुति में अणु परिमाण वाचक शब्द साक्षात् मिलते हैं। जैसे; 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पंचधा संविवेश ।' [मुण्ड० ३।१।६] (वह अणु आत्मा अन्तःकरण से जानना चाहिये, जिसमें पांच प्रकार के प्राण समाविष्ट हुए हैं), इस श्रुति में प्राणों के सम्बन्ध से जीव ही को अणु बताया है, ऐसा विदित होता है। 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः ॥' [श्वेता० ५।८] बाल के अग्र के सौ भाग करके और उनमें से एक भाग के पुनः सौ भाग करे तो उसके एक भाग के बराबर जीवात्मा होता है), इस श्रुति में जीव का जो अत्यन्त सूक्ष मान बताया है उससे भी जीवात्मा का अणु परिमाण ही निश्चित होता है। आराग्रमात्रोह्यवरोऽपि दृष्टः' [श्वे० ५।८] (अंकुश के अग्र भाग के समान अथवा उससे भी न्यून आत्मा देखा जाता है), इस श्रुति में भी आत्मा का एक और अत्यन्त निकृष्ट परिमाण बताया है।

यदि कोई शंका करे कि जीव को अणु मानने से वह एक· देशी हो जायगा और उसको सर्व देह का अनुभव होता है, उसका बाध होगा; क्योंकि, देखा यही जाता है कि गंगा के गहरे जल में गोता लगाने से सब शरीर में सरदी का अनुभव होता है, तथा धूप में रहने से सब शरीर में गरमी का अनुभव होता है, तो उसका उत्तर आगे देते हैं कि—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

अविरोधः इसमें विरोध नहीं है, **चन्दनवत्** चंदन के समान।

जैसे चन्दन का एक बिंदु शरीर के किसी एक भाग में लगाया हो तो भी उसका सब शरीर को आनन्द प्राप्त होता है; वैसे ही जीव भी शरीर के एक देश में रह कर सब शरीर का अनुभव कर सकेगा। उसका त्वचा के साथ सम्बन्ध होने से उसको सब शरीर में अनुभव की प्राप्ति करने में कोई विरोध नहीं दीखता, क्योंकि आत्मा का त्वचा से सम्बंध है और त्वचा सब शरीर में वर्तमान है ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदिहि ॥ २४ ॥

अवस्थितिवैशेष्यात [चन्दन बिंदु की] एक विशिष्ट स्थान पर स्थित होने से [वह दृष्टांत ठीक नहीं है] **इति चेत्** यदि ऐसा कहो तो **न** वह ठीक नहीं है; क्योंकि [जीव की स्थिति] **हृदि** हृदय में **हि** ही [है ऐसा] **अभ्युपगमात्** माना गया है।

शंका:—'चन्दन के समान विरोध नहीं है' ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता नहीं है। जोवात्मा शरीर के किसी एक भाग में रहता होता तो चन्दन का दृष्टांत ठीक लगता। चंदन का एक विशिष्ट स्थान पर रहना और उससे सब शरीर को आनन्द मिलना ये दोनों बातें प्रत्यक्ष हैं। परन्तु जीवात्मा के विषय में तो उसको

सब शरीर में अनुभव मिलता है इतना ही प्रत्यक्ष है, उसकी एक देश में स्थिति प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसा कहो तो उसका अनुमान हो सकता है परन्तु वहाँ अनुभव का तो संभव ही नहीं क्योंकि, जीवात्मा को सब शरीर में जो अनुभव मिलता है वह जीवात्मा त्वचा इन्द्रिय के समान सब शरीर में व्यापक है इसलिये मिलता है, या जीवात्मा आकाश के समान सर्वव्यापी है इसलिये मिलता है, अथवा वह चंदन विंदु के समान शरीर के विशेष स्थान पर है इसलिये मिलता है, इस शंका का निरसन ही नहीं होता।

समाधान—यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि जीवात्मा का विशेष स्थान माना गया है। चन्दनविंदु के समान जीवात्मा का भी शरीर के एक देश में विशेष स्थान है ऐसा माना गया है। किस प्रकार माना गया है वह कहते हैं। वेदान्त ग्रन्थों में यह आत्मा हृदय में ही रहता है ऐसा लिखा है। जैसे 'हृदि ह्येष आत्मा।' [प्रश्न० ३।६] (यह आत्मा हृदय में है) 'स वा एष आत्मा हृदि।' [छां० ८।३।३] (ऐसा यह आत्मा हृदय में ही है), कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।' [बृ० ४।३।७] (आत्मा कौनसा है पूछो तो जो विज्ञानमय है, प्राणों में और हृदय में जो ज्योतिः स्वरूप पुरुष है, वही आत्मा है)। अर्थात् दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में विषमता न होने से पहिले जो कहा था कि 'चंदन के समान विरोध नहीं है' वह ठीक ही है ॥२४॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

वा अथवा **लोकवत्** जैसे लोक में देखा जाता है **गुणाद्** [वैसे जीव के चैतन्य] गुण के कारण [विरोध की प्राप्ति नहीं होती]।

अथवा जीवात्मा अणु होते हुए भी उसका चैतन्य गुण सब शरीर में व्यापक होने से उससे सब शरीर व्यापी कार्य होने में कुछ भी विरोध नहीं दीखता। जैसे व्यवहार में मणि, दीप आदि पदार्थ कोठरी के एक भाग में हो तो भी उनकी प्रभा सब कोठरी में फैलनेवाली होने से वह सब कोठरी में अपना कार्य उत्पन्न करती है; वैसे ही यह जानो। चंदन सावयव होने से उसके सूक्ष्म अवयव चारों ओर फैल जाने से उससे सब शरीर को आनन्द होता है, परन्तु जीव अणु होने से उसमें अवयव ही नहीं हैं कि जिनसे वह सब शरीर में व्याप्त होगा, ऐसी कोई शंका करे तो उसके निरसनार्थ यह सूत्र लिखा है ॥२५॥

फिर भी शंका रहती है कि गुणी को छोड़कर अन्य स्थान पर गुण कैसे रह सकेंगे ? वस्त्र का गुण जो शुभ्रता वह वस्त्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आता। यदि कहो कि दीप की प्रभा तो उसको छोड़कर अन्यत्र दीखती है, तो वह ठीक नहीं है। प्रदीप की प्रभा भी द्रव्य ही है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि घनी भूत अवयवों वाला तेज द्रव्य ही प्रदीप है और अत्यन्त विरल अवयवों वाला तेज द्रव्य ही प्रभा है। इसका उत्तर आगे देते हैं—

व्यतिरेको गंधवत् ॥ २६ ॥

गंधवत् गंध के समान [चैतन्य गुण जीवात्मा से] व्यतिरेकः पृथक् [रह सकेगा]।

जैसे गंध गुण होते हुए भी वह सुगंधी पदार्थ को छोड़कर पाया जाता है; पुष्प आदि सुगन्धी पदार्थ दूर हो तो भी उनसे सुगंध की प्राप्ति होती है, वैसे ही जीवात्मा अणु है तो भी उसका चैतन्य गुण उसको छोड़कर रह सकेगा। इसलिये गुण

होने ही के कारण रूप आदि गुणों के समान चैतन्य अपने आश्रय से पृथक् नहीं रह सकता, यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। गंध यह गुण होते हुए भी उसका अपने आश्रय से पृथक् रहना देखने में आता है। यदि कहो कि गंध के आश्रय रूप गंधद्रव्य के साथ ही पृथक् देखने में आता है तो वह ठीक नहीं है। यदि ऐसा होता तो मूल द्रव्यगंध के पृथक् होजाने से घट जाना चाहिए! परन्तु वह द्रव्य पहिले से स्वल्प भी क्षीण नहीं होता, ऐसा देखने में आता है; क्योंकि यदि वह घट जाता तो उसके गुरुत्व (वजन) आदि भी घट जाते।

शंका :—जिन गंध के आश्रय रूप अवयवों का मूल द्रव्य से वियोग होता है। वे अत्यंत सूक्ष्म होने से [मूल द्रव्य के गुरुत्व आदि में] जो न्यूनाधिकता उत्पन्न होती है वह देखने में नहीं आती। गंध परमाणु सूक्ष्म होते हैं, वे ही जब चारों ओर फैल कर नासिकापुट में प्रवेश करते हैं तब गंध का ज्ञान होता है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि गंध परमाणु तो अतीद्रिय होते हैं और नागकेसर आदि में सुगंध स्पष्ट मालूम होती है। दूसरे, व्यवहार में ऐसी प्रतीति नहीं होती कि गंधवाले द्रव्य का गंध लिया गया, परन्तु गंध का ही अवघ्राण किया, ऐसा ही लोगों का अनुभव होता हैं। रूप आदि गुणों की प्रतीत उनके आश्रय को छोड़कर नहीं होती इसलिये गंध की भी आश्रय से पृथक् प्रतीति मानना युक्त नहीं है, ऐसा कोई कहे तो वह ठीक नहीं; क्योंकि जहाँ प्रत्यक्ष अनुभव है वहाँ अनुमान की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये लोगों का जैसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका निरूपणकर्ता को वैसे ही अनुमान करना चाहिये, उसके विरुद्ध नहीं। रस यह गुण है और जीभ से जाना जाता है, वैसे

हीं, रूप आदि भी गुण होने से जीभ से जाने जा सकते हैं, ऐसा (अनुमान द्वारा) कोई नियम प्रतिपादित नहीं कर सकता॥२६॥

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

च और [श्रुति भी] तथा वैसा ही **दर्शयति** कथन करती है।

जीवात्मा हृदय में रहता है और वह अणु परिमाण है, ऐसा कथन करके आगे श्रुति 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' [छां० ८ । ८ । १] (लोम पर्यंत और नखों के अग्र पर्यंत आत्मा शरीर में प्रविष्ट हुआ है , ऐसा कहकर जीवात्मा चैतन्य गुण से सब शरीर में व्याप्त रहता है ऐसा कथन करती है ॥२७॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

[जीवात्मा चैतन्य गुण से ही सब शरीर में व्याप्त रहता है;] क्योंकि **पृथक्** [श्रुति में वैसा] अलग **उपदेशात्** उपदेश किया है।

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' [कौशी० ३ । ६] (बुद्धि से शरीर पर आरोहण करके), इस श्रुति में जीवात्मा को कर्ता और बुद्धि को करण, इस प्रकार दोनों का पृथक् उपदेश किया है। इसलिये यह जीवात्मा चैतन्य गुण ही से सब शरीर में व्याप्त रहता है, ऐसा विदित होता है। 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय [बृ० २ । १ । १७] (इन्द्रियों की शक्तिरूप प्राणों के ज्ञान द्वारा ज्ञान प्राप्त करके) इस श्रुति में कर्तारूप जीवात्मा से चैतन्य का पृथक् वर्णन किया है इससे भी जीवात्मा अणु है यही अभिप्राय दृढ़ होता है ॥ २८ ॥

इस पूर्वपक्ष पर हमारा यह उत्तर है—

तद्‌गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

तु परन्तु (जीव में) **तद्‌गुणसारत्वात्** उसके यानी बुद्धि के गुण प्रधान होने से **प्राज्ञवत्** ईश्वर के समान **तद्व्यपदेशः** उसका वर्णन है ।

परन्तु शब्द से सूत्रकार पूर्वपक्ष का निराकरण प्रारम्भ करते हैं । आत्मा अणु है यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि श्रुति में जीवात्मा की उत्पत्ति का कथन नहीं है, परब्रह्म ही का (जीव रूप से शरीर में) प्रवेश होता है ऐसा कथन है और दोनों के ऐक्य का भी श्रुति में उपदेश होने से परब्रह्म ही जीव है, यही प्रतिपादन किया गया है । जब परब्रह्म ही जीव है तब जितना परब्रह्म है उतना ही जीव होना चाहिये और परब्रह्म सर्वव्यापक है ऐसा श्रुति का कथन है, इसलिये जीवात्मा भी सर्व व्यापक है, यही सिद्ध हुआ और ऐसा हो जब ही 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' [बृ० ४।४।२२] (प्राणों में जो विज्ञानमय है, ऐसा यह आत्मा महान् और अज है), इस प्रकार की श्रुतियों में तथा स्मृतियों में जो जीव का विभुत्व प्रतिपादित है उसका समर्थन होता है । यदि जीव अणु हो तो उसको संपूर्ण शरीर में अनुभव नहीं हो सकता । यदि कहो कि त्वचा के संबंध से जीव को ऐसा अनुभव हो सकता है तो वह ठीक नहीं है । यदि ऐसा ही माने तो कांटा लगने पर सब शरीर में वेदना होनी चाहिये, क्योंकि, त्वचा और कांटे का संबंध संपूर्ण त्वचा से है और त्वचा सब शरीर भर व्याप्त रहती है, परन्तु जिसको कांटा लगता है उसको तो पांव के तलुवे में ही वेदना होती है ।

अणु पदार्थका गुण सब शरीरमें व्याप्त रह सकता; क्योंकि, गुण तो गुणी के देश में ही रहता है। यदि गुण गुणी को छोड़ कर रहेगा तो वह उसका गुण ही नहीं रहेगा। प्रदीप की प्रभा भी एक प्रकार का द्रव्य ही है, ऐसा कहा गया है और गन्ध भी गुण होने से अपने आश्रय के साथ ही दूर जा सकता है, यदि आश्रय छोड़े तो वह उसका गुण ही नहीं रहेगा। द्वैपायन ने भी यही कहा है—'उपलभ्याप्सु चेद्गंधं केचिद्ब्रयुरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम्।' (जल में गंध पाकर यदि कोई गंध जलका गुण है ऐसा कहें तो वे अज्ञानी हैं। वह गंध तो पृथिवी का ही है और वह जल और वायु का आश्रय करता है, ऐसा ही जानना चाहिये)। यदि जीव का चैतन्यगुण सब शरीर को व्याप्त रहेगा तो जीव अणु नहीं रहेगा; क्योंकि, जिस प्रकार उष्णता और प्रकाश अग्नि का स्वरूप है वैसे ही चैतन्य जीव का स्वरूप है। यहां चैतन्य गुण और आत्मा गुणी, इस प्रकार भेद नहीं है। जीव का शरीर के समान परिमाण है, इस मत का खंडन कर चुके हैं, इसलिये शेष रहा हुआ जो जीव विभु है यह पक्ष उसको ही मानना पड़ेगा।

यदि कोई शंका करे कि, जीवात्मा अणु है ऐसा श्रुतिमें क्यों कहा है, तो उसका उत्तर देते हैं कि जीव में 'तदगुणसारत्वात्' (इस के गुणों की प्रधानता से प्रतीति होने से , ऐसा व्यवहार होता है। उसके यानी बुद्धि के जो गुण हैं उन्हीं को तद्गुण कहा है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि जो बुद्धि के गुण हैं वे ही सार यानी प्रधान हैं, जिस संसारी जीव में उसीको तद्गुण-सार और उसीके भाव को तद्गुणसारत्व कहते हैं। बुद्धि के गुण आत्मा में न हों तो वह संसारी नहीं बन सकता। अकर्ता, अभोक्ता और असंसारी, ऐसे आत्मा में बुद्धि रूप उपाधि के

धर्मों का अध्यास होता है, इसीलिये उसको कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि लक्षण वाला संसारित्व प्राप्त होता है और इसीलिये आत्मा में बुद्धि के धर्मों की प्रधानता हो जाने से जो परिमाण (वास्तव में) बुद्धि का है वही आत्मा का परिमाण है, ऐसा व्यवहार होता है और बुद्धि की उत्क्रांति आदि क्रियाएँ होती हैं वे ही जीव की उत्क्रांति आदि क्रियाएँ हैं, ऐसा व्यवहार होता है; वास्तव में जीव की कोई भी क्रिया वा परिमाण नहीं है।

'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते।' [श्वेता० ५।६] (वालाग्र का सौवाँ भाग लेकर, उसका सौवाँ भाग जितना होता है उतना वह जीवात्मा होता है और वही अनन्त मानने के योग्य है), इस श्रुति में आरम्भ में जीव को अणु वताकर वही अनन्त है ऐसा कथन है। यह वर्णन, जीवात्मा का अणुत्व आरोपित माना जाय और अनन्तत्व वास्तविक माना जाय, तब ही ठीक वैठता है; क्योंकि, जीव में अणुत्व और अनन्तत्व दोनों वास्तविक हैं यह कल्पना ही नहीं वन सकती। उसमें अनंतत्व आरोपित है, यह भी मान नहीं सकते क्योंकि, जीवात्मा परब्रह्म स्वरूप है, यही प्रतिपादन करने का सभी उपनिषदों का अभिप्राय है। 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः।' [श्वेता० ५ । ८] (बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से वह अंकुश के नोंक के समान अथवा उससे भी छोटा देखने में आता है); इस श्रुति में भी जीव का जो अंकुश के नोंक केसमान परिमाण वतलाया है; वह भी बुद्धि के गुण के संबंध ही से वतलाया है आत्मा के स्वरूप से नहीं। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।' [मुण्ड० ३ । १ । ६] (यह अणु आत्मा अन्तः-

करण से जानने योग्य है), इस श्रुति में जीव को अणु परिमाण नहीं कहा है; क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों से जो नहीं जाना जा सकता, विशुद्ध ज्ञान से वह जाना जाता है यह परमात्मा के वर्णन में आया है। वैसे ही, जीव का मुख्यता से अणु परिमाण है यह [किसी प्रकार] सिद्ध भी नहीं होता। इसलिये, श्रुति में जीवात्मा के अणु परिमाण का जो कथन है वह उसको कठिनता से जाना जाता है इसलिये है, अथवा बुद्धि के उपाधि से है, ऐसा समझना चाहिये।

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' [कौषी० ३।६] (बुद्धि से शरीर पर आरोहण करके) इस प्रकार की श्रुतियों में भी जीव का जो पृथक् निर्देश किया है, वहां उसका उसके उपाधि भूत 'बुद्धि से शरीर पर आरोहण करता है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। अथवा, गुड़िया का शरीर कहते हैं इस प्रकार वह भी पृथक् भाव केवल व्यवहार मात्र के लिये ही है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि यहाँ एक गुण और दूसरा गुणी ऐसा भेद भी नहीं संभवता, यह पहिले बता चुके हैं। श्रुति में हृदय उसका आश्रय स्थान है ऐसा कहा है, वह भी हृदय बुद्धि का आश्रय होने से कहा है। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि।' [प्रश्न० ६। ३] (किसकी उत्क्रान्ति से मेरी उत्क्रान्ति होगी और किसकी स्थिति से मेरी स्थित होगी), 'स प्राणमसृजत' [प्रश्न० ६। ४] (उसने प्राण उत्पन्न किया), इन श्रुतियों में उत्क्रान्ति आदि भी उपाधि के अधीन है, ऐसा प्रतिपादन किया है। जीवात्मा को वास्तविकता से उत्क्रान्ति ही नहीं है, इसलिये उसको परलोक गमन और पुनरागमन भी वास्तविकता से नहीं होते, ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि शरीर से निकले बिना गमनागमन बन ही नहीं सकता॥

इस प्रकार उपाधि के गुण ही जीव में प्रधानता से प्रतीत होने से ही उसको अणुपरिमाणवाला आदि कहा गया है, जैसे ईश्वर के संबंध में भी कहते हैं। जिस प्रकार सगुण उपासना में उपाधि के जो गुण होते हैं वे ही प्राज्ञ यानी ईश्वर में प्रधान होने से 'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा ।' [छां० ३ । १४ । २] (परमात्मा धान या जौ से भी सूक्ष्म है), 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।' [छां० ३।१४।२] (वह मनोमय, प्राणरूपी शरीर वाला, सर्वगन्ध, सर्वरस, सत्यकाम और सत्य संकल्प है ।) इत्यादि श्रुतियों में वह सूक्ष्म है, ऐसा व्यवहार होता है, वैसा ही यहां पर समझना चाहिये ॥२६॥

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि बुद्धि के गुण ही प्रधानता से आत्मा में आ जाने से यदि आत्मा संसारी बनता है, ऐसा माना जाय तो बुद्धि और जीवात्मा दोनों भिन्न होने से उनके संयोग का अन्त कभी न कभी अवश्य होगा। अब बुद्धि का वियोग होने पर आत्मा का ज्ञान होने से या तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा या संसारित्व नहीं रहेगा। इस शंका के उत्तर में आगे का सूत्र है—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

यावदात्मभावित्वात् जब तक जीव भाव है तब तक [बुद्धि की] स्थिति होने से **च** और **तद्दर्शनात्** [शास्त्र में] वैसा प्रमाण होने से **दोषः** [यह] दोष **न** नहीं प्राप्त होता।

पूर्व में कहे हुए दोष की आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जब तक जीव भाव है तब तक बुद्धि का

संयोग रहता ही है। जब तक यह आत्मा संसारी होता है, जब तक इसका सम्यक् ज्ञान द्वारा संसारित्व निवृत्त नहीं होता, तब तक इसका बुद्धि से संयोग नहीं छूटता। और जब तक इसको बुद्धि की उपाधि से संबंध है तब तक जीव का जीव भाव और संसारी भाव भी बना रहता है। परमार्थ से देखा जाय तो बुद्धि की उपाधि से कल्पना किये हुए जीव के स्वरूप को छोड़कर जीव कोई भिन्न पदार्थ नहीं है; न नित्यमुक्तस्वरूप और सर्वज्ञ ऐसे ईश्वर को छोड़कर और कोई चेतन तत्त्व उपनिषदों के तत्त्व निरूपण में उपलब्ध होता है। 'नान्योस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' [बृ० ३।७।२३] (इससे भिन्न ऐसा कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ।' [छां० ६।८।७ [(इससे भिन्न ऐसा कोई देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला नहीं है), 'तत्त्वमसि' [छां० ६।१।६] (वह तू है), 'अहं ब्रह्माऽस्मि' [बृ० १।४। ७] (मैं ब्रह्म हूँ) आदि सैकड़ों श्रुतियों से यही सिद्ध होता है।

कोई पूछे कि जब तक जीव संसारी है तब तक उससे बुद्धि का संयोग रहता है, यह कैसे जाना जाय, तो कहते हैं कि वैसा श्रुति में कथन है। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनु संचरति ध्यायतीव लेलायतीव।' [बृ० ४।३।७] (जो प्राणों में विज्ञानमय है; जो हृदयमें रहने वाला तेजोमय पुरुष है, वही आत्मा है। वह समान होने से दोनों लोक में गमन करता है, मानो ध्यान करता हो वा गमन करता हो), इस श्रुति में यही बात बताई है। वहां विज्ञानमय का अर्थ बुद्धिमय समझना चाहिये, क्योंकि श्रुति में अन्य स्थान पर जैसे कि 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राण-

मयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' [बृ० ४।४।५] (वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय और श्रोत्रमय है) इसमें विज्ञानमय का मन आदि के साथ उल्लेख किया है और बुद्धिमय का अर्थ बुद्धि के गुण जिसमें प्रधान है वह, यही है। स्त्रियों से प्रेम आदि विशेष होने से यह देवदत्त स्त्रीमय है ऐसा जैसे लोग कहते हैं, वैसा ही यह कथन है। 'समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति [बृ० ४। ३। ७] (वह समान होने से दोनों लोकों में संचार करता है), यह श्रुति परलोक को गमन करते समय भी जीव का बुद्धि से वियोग नहीं होता, ऐसा कथन करती है। वह किसके समान है, ऐसा कोई पूछे तो बुद्धि उसके समीप होने से उसी के समान वह है. ऐसा समझना चाहिये। यही भाव 'ध्यायतीव लेलायतीव' [बृ० ४।३।७] (मानो ध्यान करता हो, चलता हो) इस श्रुति में दिखाई देता है। उसका अभिप्राय यही है कि वह न तो स्वयं ध्यान करता है न चलता है, परन्तु बुद्धि के ध्यान करने से ध्यान करता सा और बुद्धि के चलने से चलता सा प्रतीत होता है।

आत्मा का बुद्धि की उपाधि से सम्बन्ध मिथ्या ज्ञान पर ही निर्भर है और उस मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान को छोड़ कर और किसी से भी नहीं होती। इसलिये जब तक जीव ब्रह्म स्वरूप है यह बोध नहीं होता तब तक उसका बुद्धि रूप उपाधि से सम्बन्ध टूटता नहीं। यही भाव श्रुति बताती है कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥' [श्वेता० ३। ८] (आदित्य के समान तेज वाले तथा अन्धकार से भी परे ऐसे उस पुरुष को मैं जानता हूँ। उसीको जानने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है, मोक्ष का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है) ॥ ३० ॥

यदि कोई कहे कि सुषुप्ति और प्रलय में जीवात्मा का बुद्धि से सम्वन्ध होता है ऐसा मान नहीं सकते; क्योंकि श्रुति ही कहती है कि 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति ।' [छां० ६ । ८ । १] (हे सोम्य, उस समय वह सत् से संपन्न हो जाता है वह अपने में लीन हो जाता है) और प्रलय सब विकारों ही का होता है ऐसा स्वीकार किया गया है, इसलिये जब तक जीव संसारी हैं तब तक उसका बुद्धि से सम्बन्ध रहता है ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

इसका उत्तर देते हैं—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

पुंस्त्वादिवत् पुरुषत्व के लक्षणों के समान तु ही **अस्य** इस [बुद्धि के संयोग] की **सतः** [बीजरूप से] रहे हुए की **अभिव्यक्तियोगात्** [आगे] अभिव्यक्ति होने से [सुषुप्ति आदि में भी बुद्धि संयोग मानना युक्त है]।

जिस प्रकार, जगत् में पुरुषत्व के चिन्ह बाल्यादि अवस्थाओं में बीज रूप होने के कारण पाये नहीं जाते, इसलिये उस समय वे न हों ऐसा प्रतीत होता है और तरुणावस्था में वे प्रकट हो जाते हैं । ये यदि अविद्यमान ही होते तो उत्पन्न ही न होते; क्योंकि ऐसा माने तो वे नपुंसक में भी उत्पन्न होने चाहिये । इसी प्रकार, बुद्धिसंयोग भी बीजरूप से सुषुप्ति और प्रलय में विद्यमान ही रहता है और वही जागने के समय और सृष्टि के समय पुनः प्रकट हो जाता है, ऐसा मानना ही ठीक है; क्योंकि, किसी की अकस्मात् यानी बिना कारण के उत्पत्ति ही नहीं हो सकती । 'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ।'

[छां० ६।६।२] (सुषुप्ति में सत् से युक्त होकर हम सत् से युक्त होते हैं ऐसा लोग नहीं जानते), 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा।' [छां० ६।६।३] (वे इस लोक में बाघ या सिंह होते हैं यानी जैसे पहिले थे वैसे ही होते हैं), इत्यादि श्रुतियों में सुषुप्ति अवस्था से जो उत्थान होता है वह अज्ञानरूपी बीज के अस्तित्व ही से होता है, यही बताया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब तक जीवात्मा संसारी है तब तक उसका बुद्धि आदि उपाधियों से संबंध बना रहता है ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगोऽन्यतरनियमो
वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः [अन्तःकरण का अस्तित्व न मानें तो अनुभव की] प्राप्ति नित्य होगी या कभी भी नहीं होगी **वा** अथवा **अन्यथा** अन्य प्रकार से मानें [यानी अन्तःकरण का अस्तित्व न मानें तो] **अन्यतरनियमः** दोनों में से एक की शक्ति का प्रतिबंध मानना पड़ेगा।

जीवात्मा की उपाधि रूप अन्तःकरण यानी आन्तर इन्द्रिय का श्रुति में भिन्न २ स्थानों पर मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि अनेक प्रकार से वर्णन किया है। कहीं पर उसकी वृत्ति के विभाग करके संशय आदि वृत्ति वाले आंतर इन्द्रिय को मन और निश्चयात्मक वृत्ति युक्त को बुद्धि ऐसा कहा है। इस प्रकार वर्णन किये हुए अन्तःकरण का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ेगा। यदि अन्तःकरण के अस्तित्व को न माने तो ज्ञान की या तो नित्य प्राप्ति होगी या उसकी कभी भी प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा, इन्द्रिय और विषय ये ज्ञान के साधन जब समीप होंगे

तब ज्ञान सदा ही होता रहेगा और जब ये पास होते हुए भी ज्ञान रूपी कार्य न बन सका तो ज्ञान कभी होगा ही नहीं, परंतु व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता। अथवा, दोनों में से एक की यानी आत्मा की या बुद्धि की शक्ति का प्रतिबंध होता है ऐसा मानना पड़ेगा, परंतु आत्मा की शक्ति का प्रतिबंध संभव नहीं, क्योंकि आत्मा अविकारी है। इन्द्रियों की शक्ति का प्रतिबंध भी संभव नहीं, क्योंकि पूर्व और उत्तर क्षण में जब इन्द्रियों की शक्ति का प्रतिबंध नहीं है तो बीच ही में उसकी शक्ति का प्रतिबंध होता है ऐसा कह नहीं सकते। अर्थात् जिसका अवधान होने से ज्ञान होता है और अवधान न होने से नहीं होता वही मन है। श्रुति भी है कि 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्।' [बृ० १।५।३] (मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं सुना), 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति।' [बृ० १।५।३] (मन ही से देखता है, मन ही से सुनता है); 'कामः संकल्पो विचि, कित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।' [बृ० १।५।३] (काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि तथा भय ये सब मन ही है), इस श्रुति में काम आदि मन की वृत्तियां हैं ऐसा कहा है। अर्थात् बुद्धि के धर्मों की प्रधानता से ही बुद्धि के धर्मों से आत्मा का निर्देश होता है, ऐसा कहा है सो ठीक ही है ॥ ३२ ॥

१४ कर्त्रधिकरण । सू० ३३–३९

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

[जीव] कर्ता कर्ता है क्योंकि शास्त्रार्थवत्त्वात् [ऐसा माने तब ही] शास्त्र सार्थक होते हैं।

बुद्धि के धर्मों की प्रधानता आत्मा में होती है यह पूर्व अधिकरण में बताया। अब जीव के और भी धर्म हैं उसके बताते हैं कि, जीव को कर्ता मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा माने तब ही शास्त्र सार्थक होते हैं।

यजन करना चाहिये, हवन करना चाहिये, दान देना चाहिये; इस प्रकार का विधि प्रतिपादन करने वाले शास्त्र जीव को कर्ता माने तब ही सार्थक होते हैं अन्यथा वे निरर्थक हो जांयगे; क्योंकि, शास्त्र जो वास्तविक कर्ता होगा उसीको कर्तव्य का उपदेश देते हैं; परन्तु जीव यदि कर्ता न हो तो शास्त्र का उपदेश अयुक्त होगा। वैसे ही, 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।' [प्र० ५।९] (विज्ञान स्वरूप ऐसा यह पुरुष देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, बोध करने वाला और कर्ता है), यह श्रुति इस शास्त्र को सार्थक करती है ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

विहारोपदेशात् [श्रुति में जीव के] गमन का उपदेश है इसलिये [जीवात्मा कर्ता है]।

और जीव इसलिये भी कर्ता है कि श्रुति में जीव की प्रक्रिया में जीवात्मा स्वप्न में विहार करता है, ऐसा कहा है; जैसे, 'स ईयतेऽमृतो यत्रकामम्।' [बृ० ४।३।१२] (अमृत स्वरूप वह इच्छानुसार गमन करता हैं) और 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते।' [बृ० २।१।१८] (अपने शरीर में वह इच्छानुसार संचार करता है) ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

उपादानात् ग्रहण करता है इसलिये [जीवात्मा कर्ता है]।

और इसलिये भी जीवात्मा कर्ता है कि श्रुति में जीव की प्रक्रिया में जीव इन्द्रियों को ग्रहण करता है ऐसा कहा है; जैसे, 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' [बृ० २१ । १ १७] (इन प्राणों की ज्ञानशक्ति को बुद्धि से ग्रहण करके) तथा, 'प्राणान्गृहीत्वा' [बृ० २ । १ । १८] (प्राणों को लेकर) ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

च और **क्रियायाम्** क्रियाओं में **व्यपदेशात्** [जीवात्मा का कर्ता रूप-से] निर्देश किया हुआ होने से [जीव कर्ता है;] **न चेत्** यदि ऐसा न होता तो **निर्देशविपर्ययः** [श्रुति में] विरुद्ध उपदेश पाया जाता ।

और इसलिये भी जीव कर्ता है कि लौकिक और वैदिक क्रियाओं में जीवात्मा को ही श्रुति ने कर्ता बताया है—जैसे, विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।' [तै० २ । ५ । १] (विज्ञान यानी जीवात्मा यज्ञ करता है और कर्म करता है) । यदि कहो कि विज्ञान शब्द बुद्धि के अर्थ में पाया जाता है, इससे जीव का कर्तृत्व किस प्रकार निर्दिष्ट होगा, तो वह ठीक नहीं । यहां जीव ही का निर्देश है, बुद्धि का नहीं । यदि यहाँ पर जीव का निर्देश न होता तो श्रुति में उसके विरुद्ध निर्देश मिलता यानी यानी 'विज्ञान द्वारा' इस प्रकार निर्देश मिलता; क्योंकि अन्य स्थानों पर जब बुद्धि के अर्थ में विज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ उसका करण विभक्ति में प्रयोग देखा जाता है; जैसे, 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान-

मादाय ।" [बृह० २।१।१७] (विज्ञान से यानी बुद्धि से ग्रहण करके) । परन्तु यहां तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' [तै० २।५।१] (विज्ञान यानी जीवात्मा यज्ञ करता है) इस श्रुति में (विज्ञान शब्द का) कर्ता के साथ समानाधिकरण से निर्देश किया है, इसलिये यहाँ पर बुद्धि से भिन्न ऐसा आत्मा ही कर्ता है यही सूचित होता है इसमें कुछ भी दोष नहीं है ।। ३६ ।।

पूर्वपक्ष---यदि बुद्धि से भिन्न ऐसा जीवात्मा कर्ता हो तो वह स्वतंत्र होने से सर्वदा वह अपना प्रिय और हित ही करेगा उससे विपरीत कभी नहीं करेगा । परन्तु जीवात्मा तो इससे विपरीत यानी अपना अप्रिय और अहित करता हुआ दिखाई देता है । स्वतंत्र आत्मा में ऐसी अनियमित प्रवृत्ति ठीक नहीं प्रतीत होती । इसका उत्तर देते हैं—

उपलब्धिवदनियमः ।। ३७ ।।

उपलब्धिवत् अनुभव के समान [जीवात्मा की प्रवृत्ति का भी] **अनियमः** नियम नहीं है ।

जिस प्रकार यह आत्मा अनुभव करने में स्वतंत्र होते हुए भी कभी इष्ट और कभी अनिष्ट ऐसे दोनों प्रकार के अनुभव करता है उसी प्रकार वह कभी इष्ट और कभी अनिष्ट कर्म भी करेगा । अनुभव के लिये भी सामग्री प्राप्त करनी पड़ती है, इसलिये अनुभव करने में भी जीव स्वतंत्र नहीं है; ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि विषयों को समीप लाना यही अनुभव की सामग्री प्राप्त करने का हेतु है । परन्तु आत्मा चेतन होने से अनुभव करने में उसको किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती । कर्म करने में भी जीव को अत्यन्त स्वतन्त्रता नहीं है;

क्योंकि कर्म करने में वह विशेष देश, काल तथा करणों की अपेक्षा रखता है। परन्तु केवल सहाय की अपेक्षा रखने ही से कर्ता के कर्तापने की निवृत्ति नहीं होती। ईधन आदि की अपेक्षा रखने वाला रसोइया भी रसोई का कर्ता होता ही है और सहकारियों के वैचित्र्य से आत्मा की कभी इष्ट और कभी अनिष्ट में प्रवृत्ति होती है तो इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

शक्तिविपर्ययात् बुद्धि की करण शक्ति का नाश हो जायगा इसलिये [भी जीव कर्ता है]।

और इसलिये भी बुद्धि से पृथक् ऐसे जीव को कर्ता मानना चाहिये कि यदि विज्ञान शब्द के अर्थ रूप बुद्धि ही कर्ता हो जायगी तो उसकी शक्ति का विपर्यय हो जायगा, यानी बुद्धि की करण शक्ति नष्ट हो जायगी। और कर्तृशक्ति प्राप्त हो जायगी। परन्तु इस प्रकार बुद्धि को कर्तृशक्ति प्राप्त हो जाने से 'अहं यानी मैं' इस ज्ञान का बुद्धि ही विषय होती है, ऐसा मानना पड़ेगा; क्योंकि 'मैं जाता हूँ, आता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, आदि सब स्थानों में अहंकार पूर्वक ही सब प्रवृत्ति होती है, ऐसा देखने में आता है। इस प्रकार के कर्तृत्व से युक्त बुद्धि के लिये जो सब कार्य कर सके ऐसे अन्य साधन की कल्पना करनी पड़ेगी; क्योंकि, कर्ता सामर्थ्य वाला हो तो भी साधन के सहायता से ही कर्म करने में प्रवृत्त होता है ऐसा देखने में आता है। इसलिये यह केवल शब्द के लिये वाद है वस्तु में कुछ भी भेद नहीं है; साधनों से कर्ता भिन्न होता है यह सब स्वीकार करते हैं ॥ ३८ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

[अन्यथा] **च** और **समाध्यभावात्** समाधि का हो जायगा इसलिये [जीव ही कर्ता है]।

उपनिषदों में कथन किये हुए आत्मानुभव के लिये वेदान्त ग्रन्थों में समाधि का उपदेश दिया जाता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' [बृ० २।४।५] (आत्मा का दर्शन, श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिये), 'स अन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' [छां० ८।७।१] (उसकी खोज करनी चाहिये उसको जानने की इच्छा करनी चाहिये), तथा, 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' [मुण्ड० २।२।६] (ॐ रूप से आत्मा का ध्यान करो) इस प्रकार का उपदेश श्रुति में मिलता है वह भी आत्मा में कर्तृत्व ही न हो तो युक्त नहीं होता।

१५ तक्षाधिकरण।

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

[जीवात्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है] **च** परन्तु **यथा** जिस प्रकार **तक्षा** वढ़ई **उभयथा** दोनों प्रकार से [दिखाई देता है वैसा ही जीव है]।

अब तक "शास्त्र को साफल्य प्राप्त होता है" आदि हेतु बता कर जीव का कर्तृत्व बताया। अब विचार करते हैं कि वह स्वाभाविक है या उपाधिकृत है।

शंका—शास्त्र को साफल्य प्राप्त होता है, इत्यादि कारणों से जीव को कर्तृत्व स्वाभाविक ही है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि वैसा न मानने के लिये कोई कारण नहीं है।

समाधान—जीव का कर्तृत्व स्वाभाविक है यह संभव नहीं; क्योंकि ऐसा माने तो उसको मोक्ष की संभावना ही नहीं रहेगी। यदि आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक हो तो उसका कर्तृत्व छूट ही नहीं सकता, जैसे अग्नि से उष्णता अलग नहीं हो सकती। और कर्तृत्व से रहित न हो उसको पुरुषार्थ की यानी मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि कर्तृत्व ही दुख रूप है।

शंका—कर्तृत्व के रहते हुए भी कर्तृत्व के कार्य का यानी क्रिया का अभाव हो जाने से पुरुषार्थ की सिद्धि होगी और कार्य का परिहार उसके निमित्त के परिहार से होगा, जैसे, अग्नि में दहन शक्ति के रहते हुए भी लकड़ी न होने से उसकी दहन क्रिया का अभाव हो जाता है।

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि निमित्त शक्ति लक्षणात्मक सम्बन्ध से युक्त होने से उनका सर्वथा अभाव बन ही नहीं सकता। यदि कहो कि मोक्ष के साधन का श्रुति में प्रतिपादन होने से मोक्ष की सिद्धि होगी, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि साधन से प्राप्त पदार्थ अनित्य होता है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त ऐसे आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से मोक्ष होता है, ऐसा माना जाता है परन्तु जीव का कर्तृत्व स्वाभाविक मान लेने से ऐसा ज्ञान बन नहीं सकता। इसलिये आत्मा का कर्तृत्व उसमें उपाधि के धर्मों का आरोप करने ही से प्राप्त होता है, वह स्वाभाविक नहीं हैं। श्रुति ऐसा ही कथन करती है—'ध्यायतीव लेलायतीव' [बृ० ४ । ३ । ७] (ध्यान करता सा गमन करता सा), 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।' [कठ० ३ । ४ ।] (इन्द्रिय और मन से युक्त ऐसे

आत्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं), ये श्रुतियाँ उपाधि-युक्त आत्मा को ही कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि विशेष धर्म प्राप्त होते हैं ऐसा कथन करती है; 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा' [बृ० ४ । ३ । २३] (इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है) ऐसी श्रुति भी है। इसलिये विवेकी पुरुषों की दृष्टि में परमात्मा से भिन्न ऐसा कोई कर्ताभोक्ता जीव है ही नहीं।

शंका—यदि बुद्धि आदि से भिन्न और कर्ता ऐसा चेतन जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न न हो तो परमात्मा ही संसारी, कर्ता और भोक्ता वन जायगा।

समाधान—यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये धर्म अविद्या से उपस्थित होते हैं। श्रुति भी कहती है कि 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।' [बृ० २ । ४ । १४] (जहां द्वैत होने की सी प्रतीति होती है वहाँ एक दूसरे को देखता है), इस वाक्य में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म अज्ञान की अवस्था में होते हैं ऐना कह कर विज्ञान की अवस्था में उन ही कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों का 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' [बृ० २ । ४ । १४] (परन्तु जब उसको सव आत्मरूप ही हो जाता है तब वह किससे क्या देखे ?) ऐसा कहकर निवारण किया है। वैसे ही, स्वप्नावस्था और जाग्रत अवस्था की उपाधि के सम्बन्ध से जीव को आकाश में उड़ने वाले श्येन पक्षी के समान श्रम होते हैं ऐसा कहकर आगे सुषुप्तावस्था में परमात्मा से युक्त ऐसे उसको उनका अभाव होता है ऐसा कहा है। श्रुति में 'तद्वा अस्यैतदाप्त-काममात्मकाममकामरूपं शोकान्तरम्।' [बृह० ४ । ३ । २१] (वास्तव में वही इस आत्मा का आप्तकाम, आत्मकाम, काम

रहित और शोक रहित ऐसा रूप है) इस प्रकार प्रारम्भ कर के 'एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमोलोक ऐषोऽस्य परम आनन्दः ।' बृ० ४ । ३ । ३२ । (यही इस आत्मा की उत्तम गति है, यही इसकी श्रेष्ठ संपत्ति है, यही इसका उत्तम लोक और यही इसका उत्तम आनन्द है), ऐसा उपसंहार किया है। यही बात सूत्रकार इस सूत्र से कहते हैं कि जिस प्रकार बढ़ई दोनों प्रकार से दिखाई देता है वैसा जीवात्मा भी दोनों प्रकार से है।

सूत्र का 'च' शब्द 'परन्तु' के अर्थ में प्रयोग किया है। अग्नि की उष्णता के समान जीवात्मा का कर्तृव्य स्वाभाविक है ऐसा नहीं मानना चाहिये, परन्तु जिस प्रकार जगत् में बढ़ई वसूला आदि औजार हाथ में लेकर काम करने लगता है और दुःखी होता है और वही जब वसूला आदि औजार अलग रख देता है और स्वस्थ, शांत और व्यापार रहित होता है तब सुखी होता है; इसी प्रकार स्वप्नावस्था और जाग्रत अवस्था इन दोनों अवस्थाओं में अविद्याजनित द्वैत से युक्त जीवात्मा को कर्तृव्य प्राप्त होता है और वह दुःखी होता है और वही अपने श्रम दूर करने के लिये जब सुषुप्त अवस्था में, अपना स्वरूप जो परब्रह्म है उसमें प्रवेश करता है, तब वह शरीर इन्द्रिय आदि संघात से अलग होकर कर्तृत्व का त्याग करता है और सुखी हो जाता है। इसी प्रकार मोक्षावस्था में भी अज्ञानरूप अंधकार का ज्ञानदीप से नाश करके वह अद्वय और कर्तृत्व रहित होकर सुखी होता है। बढ़ई का दृष्टांत इतने ही अंश में समझना चाहिये कि बढ़ई 'तरासना' आदि विशिष्ट कार्य के लिये आवश्यक ऐसे विशिष्ट साधन द्वारा ही कर्ता बनता है, अपने शरीर की अपेक्षा से वह अकर्ता ही है। इसी प्रकार यह जीव भी

सब व्यापारों में मन आदि इन्द्रियों की अपेक्षा से ही कर्ता होता है, स्वयं तो अकर्ता ही बना रहता है। इस दृष्टांत से यह नहीं समझना चाहिये कि वढ़ई के समान आत्मा को अवयव भी हैं और जैसे बढ़ई हाथ आदि अपने अवयवों से वसूला आदि साधन ग्रहण करता है या त्याग करता है वैसा आत्मा भी अपने अवयवों द्वारा मन आदि साधनों का ग्रहण या त्याग करता होगा।

अब शास्त्र को सार्थकता प्राप्त हो जाती है इत्यादि कारणों से जीवात्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक है ऐसा जो पूर्वपक्ष में कहा है, सो ठीक नहीं है। विधि शास्त्र तो जीवात्मा को जो कर्तृत्व प्राप्त हुआ है—फिर वह कर्तृत्व चाहे स्वाभाविक हो या औपाधिक हो—उसको मान कर ही विशेष कर्तव्य का उपदेश करता है, जीवात्मा को कर्तृत्व है यह वात वह सिद्ध नहीं करता और न आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक है; क्योंकि, श्रुति में जीव परब्रह्म स्वरूप है ऐसा कहा है यह हम पहिले ही कह चुके हैं। अर्थात् अज्ञान जनित ऐसा कर्तृत्व मानकर ही विधि शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकती है। शास्त्र में 'विज्ञान स्वरूप पुरुष कर्ता है' ऐसा जो कथन है वह अनुवाद रूप होने से [अन्यत्र प्रतिपादित वस्तु का केवल निर्देश करना, इसको अनुवाद कहते हैं] जीव को जिस प्रकार कर्तृत्व प्राप्त हुआ है उसी का अर्थात् अविद्या से प्राप्त कर्तृत्व ही का अनुवाद हो सकता है।

इससे विहार (गमन) और परिग्रहण [सूत्र ३४-३५ में ये जीव के कर्तृत्व के कारण बताये गये हैं] इनका निराकरण हुआ समझना चाहिये, क्योंकि विहार और परिग्रहण का निर्देश भी अनुवाद रूप ही है।

शंका—'स्वप्नावस्था में सब इन्द्रियां विलीन होने से वह अपने शरीर में इच्छानुसार गमन करता है' इस प्रकार पहले दी हुई श्रुति में जो गमन का निर्देश किया है, उससे केवल आत्मा ही को कर्तृत्व प्राप्त होता है। वैसे ही, तदेषां प्राणानां-विज्ञानेन विज्ञानमादाय' बृह० २। १। १७] (इन इंद्रियों की ज्ञानशक्ति को बुद्धि से ग्रहण करके) इस ग्रहण विषयक श्रुति में भी कारण रूप इन्द्रिय और बुद्धि को कर्म और करण की विभक्ति लगाई है, इससे केवल आत्मा ही को कर्तृत्व प्राप्त होता है।

समाधान—स्वप्नावस्था में भी आत्मा को इन्द्रियों का सर्वदा अभाव नहीं होता क्योंकि; 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोक-मतिक्रामति।' [बृ० ४। ३। ७] (स्वप्न में बुद्धियुक्त होकर इस लोक का अतिक्रमण करता है), इस श्रुति में स्वप्नावस्था में भी बुद्धि का संबंध रहता है ऐसा कहा है। स्मृति भी कहती है कि 'इन्द्रियाणामुपरमे मनोनुपरतं यदि। सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्न दर्शनम्॥ (इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त हो जांय परन्तु मन यदि बना रहे तो वह विषयों का सेवन करता है, इसी को स्वप्न दर्शन कहते हैं) काम आदि मन की वृत्तियाँ हैं यह श्रुतिप्रसिद्ध है और इन सब का स्वप्न में अनुभव होता है। इसलिये मन सहित ही जीव स्वप्नावस्था में विचरण करता है यही मानना पड़ेगा। परन्तु, स्वप्न का विहार-क्रीड़ा भी वासनामय ही होती है, पारमार्थिक नहीं होती, इसीलिये 'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्।' [बृ० ४। ३। १३] (स्त्रियों के साथ जैसे आनन्द का उपभोग करता हो वा भयप्रद पदार्थ देखता हो) इस प्रकार श्रुति में

सादृश्यता से स्वप्न का वर्णन मिलता है। लोग भी स्वप्न का वर्णन इसी प्रकार करते हैं; जैसे, 'मैं पहाड़ के शिखर पर चढ़ा हुआ हूँ और वड़े बड़े वन देख रहा हूँ' ऐसा ही वे सादृश्य से कहते हैं।

ग्रहण सम्वन्धी श्रुतियों में यद्यपि कर्म और करण विभक्तियों का साधनों के लिये प्रयोग किया है, तो भी, उनसे सम्वन्ध रखने वाले जीवात्मा ही को कर्तृत्व प्राप्त होता है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि अकेला जीवात्मा कर्ता वन नहीं सकता यह पहिले बता चुके हैं। लोग कहते हैं कि योद्धागण युद्ध करते हैं; योद्धाओं की सहायता से राजा युद्ध करता है, इस प्रकार के अनेक वाक्प्रयोग देखने में आते हैं। इन्द्रियों के व्यापार रुक जाते हैं, इतना ही उपादान श्रुतियों का अभिप्राय है, किसी की स्वतन्त्र कर्तृत्व का प्रतिपादन करना इनका अभिप्राय नहीं है; क्योंकि, निद्रावस्था में इच्छा न होते हुए भी इन्द्रियों के व्यापार बंद हो जाते हैं, ऐसा देखने में आता है।

'विज्ञानं यज्ञं तनुते' [तै० २। ५। १] यह प्रमाण दिया गया था, परन्तु इससे तो बुद्धि का कर्तृत्व ही सिद्ध होता है; क्योंकि विज्ञान शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध है और आगे मन का भी उल्लेख आता है। 'तस्य श्रद्धैवशिरः' [तै० २। ४] (उसका श्रद्धा सिर है) इस श्रुति में विज्ञानमय आत्मा के श्रद्धा आदि अवयव हैं, ऐसा कहा है और श्रद्धा आदि बुद्धि के धर्म हैं यह प्रसिद्ध ही है। वैसे ही, 'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।' [तै० २। ५। १] (सब इन्द्रियाँ ज्येष्ठ और ब्रह्म रूप ऐसी बुद्धि की उपासना करते हैं), यह उसी के आगे का कथन है और ज्येष्ठत्व और प्रथम उत्पत्ति बुद्धि की है यह प्रसिद्ध

है। इसी प्रकार 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तर क्रमो यद्यज्ञः।' (चित्त और वाणी का जो उत्तरोत्तर क्रम होता है वही यज्ञ है) इस अवान्तर श्रुति में यज्ञ वाणी और बुद्धि द्वारा होता है ऐसा निश्चय किया है।

बुद्धि आदि करणों में कर्तृत्व शक्ति मानने से उनकी करण शक्ति में बाधा नहीं पहुँचेगी, क्योंकि जितने करण (साधन) हैं उन सबको अपने व्यापार में कर्तृत्व अवश्य प्राप्त होता है। बुद्धि आदि करणों का करणत्व अनुभव के निमित्त है और वह अनुभव आत्मा को होता है। परन्तु उस अनुभव के हेतु भी आत्मा को कर्तृत्व की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह नित्य अनुभव स्वरूप है। अनुभव करने वाले को अहंकारपूर्वक कर्तृत्व भी नहीं हो सकता क्योंकि, अहंकार का भी अनुभव होता है। और इस प्रकार मानने से अब अन्य करण की कल्पना करने की भी आवश्यकता नहीं रहती क्योकि बुद्धि को ही हमने करण माना है।

'समाधि का अभाव हो जायगा' इस पूर्वपक्षी के कथन का खंडन 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ब्र० सू० २।३।३९] इस सूत्र के खंडन ही से हो जाता है; क्योंकि जीव को जैसा (उपाधिकृत) कर्तृत्व प्राप्त होता है वैसा उसको ग्रहण करके ही उसके लिये समाधि का उपदेश किया है, इसलिये आत्मा में कर्तृत्व उपाधि के निमित्त ही है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ४० ॥

१६ परायत्ताधिकरण। सू० ४१-४२

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

तु परन्तु **परात्** परमात्मा से [जीवात्मा को कर्तृत्व की प्राप्ति होती है] **तच्छ्रुतेः** क्योंकि वैसी ही श्रुति मिलती है।

अज्ञान अवस्था में यह जो जीवात्मा को उपाधिकृत कर्तृत्व प्राप्त होता है ऐसा कहा है, उस कर्तृत्व के प्राप्त होने में उसको परमेश्वर की अपेक्षा है या नहीं, यह विचार उत्पन्न होता है।

पूर्वपक्ष—यहाँ ऐसा ही मानना चाहिये कि जीव के कर्तृत्व में ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। क्यों ? इसलिये कि वैसी अपेक्षा होने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यह जीव राग द्वेषादि दोषों से युक्त और अन्य कारक (बुद्धि आदि) सामग्री से संपन्न होने से कर्तृत्व का अनुभव कर सकता है। ईश्वर उसमें क्या करेगा ? खेती आदि के कामों में जिस प्रकार बैल आदि की आवश्यकता होती है, वैसे ही ईश्वर नामक साधन की अपेक्षा होती है, ऐसा जगत में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त, जीवों के लिये क्लेशरूप कर्तृत्व उत्पन्न करने वाले ईश्वर को नैर्घृण्य यानी निर्दयता के दोष की प्राप्ति होगी और जिसका फल भिन्न भिन्न ऐसा कर्तृत्व देने वाले ईश्वर को वैषम्य (विषमता) दोष की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि 'वैषम्य नैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् ' [ब्र० सू० १।४।१७] (ईश्वर को वैषम्य और नैर्घृण्य, इन दोषों की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि इसके लिये धर्माधर्म की अपेक्षा होती है), ऐसा पहिले ही कह चुके हैं; तो जब ईश्वर को अपेक्षा रहने का संभव हो तब ही वह ठीक है। अब प्राणियों में यदि धर्म और अधर्म हों तब ही ईश्वर को उसकी अपेक्षा रहना संभव है और जीव को कर्तृत्व होगा तब ही उसके धर्माधर्म बन सकते हैं। परन्तु यदि यह कर्तृत्व ही ईश्वर के अधीन हो, तो फिर वह और किसकी अपेक्षा रखेगा ? इसके अतिरिक्त, ऐसा मानने से जीव को न किये हुए की प्राप्ति होगी ऐसा भी दोष प्राप्त होता है। इसलिये

जीव में कर्तृत्व स्वाभाविक है यानी किसी की अपेक्षा से रहित है।

इस पूर्वपक्ष का तु शब्द से निराकरण करते हुए 'परात्तु तच्छ्रुते' यह सूत्र कहते हैं।

समाधान—अज्ञान अवस्था में अज्ञान से अन्धा हुआ और शरीर इन्द्रिय आदि के समूह से मैं भिन्न हूं, ऐसा न समझने वाला जो जीवात्मा है, उसको कर्म का अध्यक्ष, सब भूतों का एक मात्र निवास स्थान, सर्व साक्षी और सबको चेतना प्रदान करने वाले, ऐसे परमेश्वर ही से अर्थात् उसकी आज्ञा से ही कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप संसार की प्राप्ति होती है और केवल उसी की कृपा द्वारा ही विज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा ही मानना युक्त है; क्योंकि वैसी श्रुति है।

यद्यपि जीव रागादि दोषों से युक्त और करणादि सामग्री संपन्न है, और यद्यपि खेती आदि के कामों में ईश्वर कारण नहीं माना जाता, तथापि सभी प्रवृत्तियों का हेतु रूप कर्ता ईश्वर ही है, यही श्रुति का निश्चय है। इस प्रकार श्रुति है कि 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवा-साधु कर्म कारयति तं यतधो निनीषत्ते ॥' कौष० ३।८] (यह परमेश्वर ही जिनकी इस लोक से उन्नति हो ऐसा चाहता है, उनसे शुभ कर्म कराता है और जिनकी इस लोक से अवनति चाहता है, उनसे वह परमेश्वर ही बुरे कर्म कराता है), तथा 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमंतरो यमयति' (जो आत्मा से रहकर आत्मा का भीतर से नियमन करता है) इत्यादि प्रकार की श्रुतियां मिलती हैं ॥ ४१ ॥

यदि कोई कहे कि ईश्वर कर्म कराता है ऐसा मानने से वैषम्य और नैर्घृण्य (निष्ठुरता) ये दोष ईश्वर में प्राप्त होंगे और जीव को न किये हुए कर्म के फल की प्राप्ति होगी; तो आगे के सूत्र से उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तुविहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

तु परन्तु **विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः** विहित और निषिद्ध उपदेश की व्यर्थता न प्राप्त हो इसलिये [ईश्वर जीव के] **कृतप्रयत्नापेक्षः** किये हुए प्रयत्न की अपेक्षा रखता है।

सूत्र में 'परन्तु' शब्द पूर्व कथित दोषों की निवृत्ति दर्शक हैं। जीव के किये हुए धर्म अधर्म रूप प्रयत्न की अपेक्षा रखकर ही ईश्वर जीव से कर्म कराता है, इसलिये, पूर्व कथित दोषों की प्राप्ति नहीं होती। जीव के किये हुए धर्म अधर्म के अनुसार उनको अच्छा या बुरा फल देने में ईश्वर वर्षा के समान कवल निमित्त कारण बनता है। जैंसे, इस जगत् में छोटी बड़ी बेलें या धान जौ आदि अपने अपने अलग अलग (असाधारण) बीजों से उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनके उपजाने में पर्जन्य एक साधारण कारण रूप होता है। यदि पर्जन्य न हो तो रस, फूल, फल आदि की विचित्रता नहीं उत्पन्न होती, उनके अपने अपने बीज न हों तो भी भिन्नता उत्पन्न नहीं होती, इसी प्रकार जीवों के किये हुए कर्मों की अपेक्षा ही से ईश्वर उनको शुभाशुभ फल देता है ऐसा ही मानना युक्त है।

यदि कहो कि जीव कर्तृत्व अन्य किसी के (ईश्वर के) अधीन है, तो ईश्वर को जीव के प्रयत्न की अपेक्षा है, यहीं नहीं संभवता, तो यह दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि, यद्यपि जीव का कर्तृत्व परमात्मा के अधीन है तो भी कर्ता जीव ही है। जीव

ही करता है और उससे ईश्वर कर्म कराता है। विशेष यह है कि पूर्व प्रयत्न को अपेक्षा रखते हुए ही यह प्रयत्न उससे कराता है और उसके पूर्व की अपेक्षा ही से वह प्रयत्न कराया था। इस प्रकार से यह संसार अनादि होने से कुछ भी दोष नहीं प्राप्त होता।

परन्तु ईश्वर को जीवकृत प्रयत्न की अपेक्षा है, यह कैसे जाना जाता है ? कहते हैं कि 'विधि और निषेध का प्रतिपादन व्यर्थ न हो जाय' इत्यादि कारणों से। क्योंकि ऐसा मान लें तब ही स्वर्ग की इच्छा करने वाला यज्ञ करे, ब्राह्मण को न मारे, इत्यादि विधि निषेध का उपदेश व्यर्थ नहीं होता, अन्यथा निरर्थक हो जाता है। जीव के अत्यंत परतंत्र होने पर ईश्वर ही उसको विहित कर्मों में प्रवृत्त करता है और निषिद्ध कर्मों से निवारण करता है, ऐसा मानने से ईश्वर विहित कर्म करने वाले को दुःख देता है और निषिद्ध कर्म करने वाले को भी सुख देता है ऐसा प्राप्त होने से वेदों को माहात्म्य ही नष्ट हो जायगा। ईश्वर को जीवकृत प्रयत्न की नितान्त आवश्यकता नहीं है, ऐसा मानें तो लौकिक प्रयत्न भी व्यर्थ हो जायंगे और देश काल और कारण ये भी व्यर्थ हो जायंगे। और पूर्व कथित दोष (न किये हुए कर्मों के फल की प्राप्ति) भी प्राप्त हो जायगा; ये सब दोष सूत्र में "इत्यादि" शब्द से सूचित किये गये हैं ॥ ४२ ॥

१७ अंशाधिकरण। सू० ४३–५३।

अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि
दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥

अंशः [जीवात्मा परमात्मा का] अंश है; **नानाव्यपदेशात्** क्योंकि [श्रुति में जीवात्मा और परमात्मा] भिन्न हैं ऐसा

कथन किया गया है। **अन्यथा चापि** और अन्य प्रकार से भी कथन किया गया है। **एके** कुछ लोग [ईश्वर ही] **दाशकितवादित्वम्** पारधी जुआरी आदि हैं ऐसा **अधीयते** पाठ करते हैं।

जीव और ईश्वर में उपकार्य उपकारक भाव का सम्बन्ध है ऐसा कहा गया है। परन्तु यह संबंध स्वामी और सेवक या अग्नि और चिनगारियों के समान परस्पर सम्बद्ध ऐसी दो वस्तुओं में ही बनता है ऐसा जगत में देखा जाता है। अर्थात् जीव और ईश्वर में उपकारी उपकारक संबंध है ऐसा मानने पर वह संबंध स्वामी सेवक का सा है अथवा अग्नि और चिनगारियों का सा है,, इसका निर्णय करना होगा। पूर्वपक्षी का कहना है कि या तो जीव ईश्वर के नियमन में नहीं है (जैसा कि अग्नि और चिनगारियों के सम्बन्ध में है), अथवा स्वामी सेवक सम्बन्ध के प्रकारों में से नियम्य नियामक भाव का संबंध प्रसिद्ध होने से उसी प्रकार का संबंध इनमें होना चाहिये। इसके उत्तर में सूत्रकार 'जीवात्मा इत्यादि सूत्र कहते हैं।'

जैसी अग्नि की चिनगारियाँ होती है वैसा जीव ईश्वर का अंश है यही मानना ठीक है। अंश के समान अंश होता है और परमात्मा निरवयव होने से उसका मुख्य रूप से अंश नहीं बन सकता। और यदि ईश्वर निरवयव है, तो वही जीवात्मा क्यों नहीं है यानी दोनों को भिन्न क्यों मानना चाहिये? जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं, ऐसा श्रुति में व्यवहार किया गया है। 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' [छां० ८। ७। १] (उसको खोजना चाहिये, उसको जानने की इच्छा करना चाहिये),

'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' [बृ० ४। ४। २२] (इसी को जानने से वह मुनि हो जाता है), 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरोयययति' (वह आत्मा में रहकर आत्मा का भीतर से नियमन करता है) इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा और परमात्मा भिन्न है, ऐसा व्यवहार पाया जाता है वह दोनों को भिन्न न माने तो युक्त नहीं होता।

अब इनमें स्वामी सेवक संबंध है ऐसा माने तो श्रुति का भेद निर्देश अधिक युक्त प्रतीत होता है, ऐसा कोई कहे तो उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि 'अन्यथादि' (और अन्य प्रकार से भी कथन किया गया है)।

जीवात्मा परमात्मा का अंश है, यह केवल उनका श्रुति में भिन्न कथन किया है, इतने ही से नहीं, परन्तु श्रुति में उनका अन्य प्रकार से यानी दोनों अभिन्न हैं ऐसे कथन से भी विदित होता है। अथर्ववेद की एक शाखा के अनुयायी ब्रह्मसूत्र में 'पारधीपन और जुआरीपन आदि ब्रह्म ही के धर्म हैं' ऐसा कहते हैं; जैसे, 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' (दाश ब्रह्म है, दास ब्रह्म है और ये जुआरी भी ब्रह्म ही है) इत्यादि। दाश उनको कहते है जो पारधी नाम से प्रसिद्ध है, स्वामी के लिये अपने शरीर से कष्ट करते हैं उनको दास कहते हैं और जुआ खेलने वालों को कितव कहते हैं; ये सभी ब्रह्म ही हैं। इस वाक्य में नीच जाति के प्राणियों के उदाहरण देकर श्रुति कथन करती है कि नाम रूप से उत्पन्न हुए शरीर इन्द्रिय आदि के संघात में प्रविष्ट हुए सब जीव ब्रह्म ही हैं। अन्य श्रुतियों में भी ब्रह्म की प्रक्रिया में इसी बात का विस्तार किया है। 'त्वं स्त्री त्वं पुमा-

नसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः ।' [श्वे० ४।३ (तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार और कुमारी है, तू ही बुढ़ापे में लकड़ी लेकर चलता है, तू ही चारों ओर उत्पन्न होता है), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते ।' [तै० आ० ३ । १२ । ७] (ज्ञानवान् आत्मा सब रूपों को उत्पन्न करके उनके नाम रखते हुए उन नामों से बुलाया करता है), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' [बृ० ३।७।२३] (इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियों से यही बात सिद्ध होती है। और जैसे अग्नि और चिनगारियों में उष्णता यह गुण सामान्य है, वैसे जीव और ईश्वर में चैतन्य गुण समान है। अर्थात् इस प्रकार जीव और ईश्वर में भेद और अभेद दोनों वर्तमान होने से जीव ईश्वर का अंश है यही विदित होता है ॥ ४३ ॥

और कैसे जाना जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है ?

मंत्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

च और **मंत्रवर्णात्** मंत्र वर्ण से भी [जीवात्मा परमात्मा का अंश है ऐसा विदित होता है]।

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥' [छां० ३।१२।६] (इतनी इस गायत्री नामक पुरुष की महिमा है, इससे पुरुष और महान् है; सब भूत इसका एक पाद है और उसके तीन पाद प्रकाशवान् आत्मा में स्थित हैं), इस प्रकार मंत्र वर्ण से भी यही बात सूचित होती है । यहाँ 'भूत' शब्द से स्थावर जंगम का निर्देश किया गया है; क्योंकि 'अहिंसन् सर्व भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' [छां० ८।१५] (तीर्थों को छोड़कर अन्य सब स्थान पर हिंसा

न करने वाला) इस प्रकार प्रयोग मिलता है। अंश, पाद और भाग, ये सब एक ही अर्थ के शब्द हैं, इनसे भी अंश भाव की सिद्धि होती है ॥४४॥

और किस प्रकार जाना जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है ?

अपि च स्मर्यंते ॥ ४५ ॥

अपि च और स्मर्यंते स्मृति में भी ऐसा ही कहा है।

भगवद्गीता में भी जीव ईश्वर का अंश ऐसा कहा है; जैसे 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' [भ० गी० १५ । ७] (जीवलोक में मेरा ही एक सनातन अंश जीव बना हुआ है)। इससे भी अंशत्व विदित है।

परन्तु 'नियम्य नियामक भाव इस लोक में केवल स्वामी सेवक ही में देखा जाता है' ऐसा पूर्वपक्षी का कहना है। (उसका उत्तर यह है कि) यद्यपि इस लोक में ऐसा ही प्रसिद्ध है तो भी ईश्वर और जीव में अंश अंशित्व और नियम्य नियामक ऐसे दोनों भावों का शास्त्र द्वारा निश्चय होता है। अत्यन्त उत्कृष्ट उपाधि से युक्त ईश्वर, अत्यन्त निकृष्ट उपाधि से युक्त जीव का नियमन करता है ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है ॥ ४५ ॥

पूर्वपक्ष—जीव ईश्वर का अंश है ऐसा माना जाय, तो उसके संसार दुःखों के भोग से जिसका वह अंश है ऐसे अंशी ईश्वर को भी दुःख होगा। जैसे, इस लोक में देवदत्त के हाथ पाँव आदि में से किसी अवयव में दुःख होने से अवयवी देवदत्त को पीड़ा होती है वैसा ही यह समझो। इसीलिये ईश्वर को प्राप्त हुए जीवों को और भी अधिक दुःख प्राप्त होगा और पश्चात् पूर्व की

संसार अवस्था ही इससे अच्छी थी ऐसा उनको प्रतीत होगा और ऐसा होने से सम्यक् ज्ञान निरर्थक होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इसका समाधान कहते हैं—

प्रकाशादिवनैवं परः ॥ ४६ ॥

परः परमात्मा **प्रकाशादिवत्** प्रकाश आदि के समान है **एवं** [जीवात्मा दुःखी होता है] वैसा **न** [वह दुःखी] नही होता।

जैसे जीवात्मा संसार दुःखों का अनुभव करता है, वैसे परमात्मा संसार दुःखों का अनुभव नहीं करता यह हम प्रतिज्ञा से कहते हैं। क्योंकि, जैसे जीव अज्ञान की जाल में फँसकर देहादिको ही अपने आत्मा के समान मानने लगता है और उनके दुखों से मैं दुःखी हूँ, ऐसा अविद्या जनित दुःख के उपभोग का अभिमान करता है, वैसे परमात्मा को न शरीर आदि में अहंभाव है, न दुःख का अभिमान है। जीव को होने वाला दुःख का अभिमान भी सच्चा नहीं है। अज्ञान से उत्पन्न हुए नाम रूप और उनसे उत्पन्न हुए शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधियों से मैं पृथक् नहीं हूं ऐसी जो उसे भ्रांति होती है उसीका वह फल है। जैसे, जीवात्मा को शरीर का अभिमान भ्रांति के कारण होने से उस शरीर का दाह, छेद आदि होने से उस दुःख का वह अनुभव करता है वैसे ही पुत्र मित्र आदि में भी स्नेह वश "मैं ही पुत्र हूं, मैं ही मित्र हूँ" इस प्रकार उनमें, मानो उसने प्रवेश किया हो वैसे, उनके अभिमान की भ्रांति से ही उनके दुःखों का अनुभव करता है। इसलिये, भ्रांति वश मिथ्या अभिमान धारण करने ही से उस अभिमान से ही दुःख का अनुभव होता है ऐसा निश्चय होता है।

लोगों में (दुःख का) व्यतिरेक देखने में आता है, उससे भी यही निश्चय होता है। जैसे, पुत्र, मित्रादि का सम्बन्ध रखने वाले उसके सम्बन्ध के अभिमानी कई पुरुष बैठे हों और अन्य पुरुष भी बैठे हों, और "पुत्र मर गया, मित्र मर गया" इस प्रकार घोषणा की जाय, तो जिनको पुत्र मित्र भाव का अभिमान हो उनही को उसका दुःख होता है; उस अभिमान से रहित हों, ऐसे परिव्राजक को उसका दुःख नहीं होता। इससे विदित होता है कि लौकिक पुरुष को भी सम्यक् दर्शन सार्थक होता है। फिर विषय शून्य अपने से अन्य और किसी वस्तु को न देखने वाले, नित्य और केवल चैतन्य स्वरूप मैं हूं ऐसा मानने वाले को वह सार्थक हो जाय इसमें कहना ही क्या है। इसलिये तत्त्वज्ञान निरर्थक होगा ऐसा कहने का प्रसंग नहीं आता।

सूत्र में "प्रकाश आदि के समान" कहा है, वह दृष्टांत के लिये कहा है। जैसे आकाश को व्यापने वाला चन्द्र, सूर्य का प्रकाश उँगली आदि की उपाधि के संबंध से, उपाधि के सीधे टेढ़ेपन से वह भी टेढ़ा सीधा हुआ सा भासता है, परन्तु वास्तव में टेढ़ा सीधा नहीं होता; अथवा, घट आदि के हिलने पर उसका आकाश भी चलायमान प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह चलता नहीं; अथवा जैसे जल से भरा हुआ पात्र आदि हिलने पर उसमें पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिंब हिल जाय, तो भी जिसका वह प्रतिबिंब है ऐसा सूर्य नहीं हिलता; वैसे ही अज्ञान से उत्पन्न हुआ और बुद्धि आदि की उपाधियों से युक्त ऐसा जीव नामक ईश्वर का अंश दुःखी होने पर भी उस अंश से युक्त ऐसा ईश्वर दुःखी नहीं होता। इतना ही नहीं परन्तु, जीव को भी जो दुःख की प्राप्ति होती है वह भी अज्ञान ही से होती है;

यह पहिले ही कह चुके हैं। इस बात के अनुसार ही "तत्त्वमसि" [छां० ६।८।७] (वह तू है), इत्यादि वेदान्त के महा-वाक्य, अज्ञान से प्राप्त हुआ जीव भाव नष्ट होने पर वह जीव ब्रह्म ही होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं, इसलिये जीव के दुःखों से परमात्मा को दुःख प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त नहीं होता ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

च और **स्मरन्ति** स्मृतियों में भी [यही] कहा है।

व्यास आदि ने अपने स्मृति ग्रन्थों में यही कहा है कि जीव के दुःखों से ईश्वर दुःखी नहीं होता; जैसे—"तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्र-मिवाम्भसा॥ कर्मात्मात्वपरो योऽसौ मोक्षवंधैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः॥" (उनमें जो परमात्मा है वह नित्य और निर्गुण है। जैसे कमल का पत्ता पानी से लेपायमान नहीं होता, वैसे वह कर्मफलों से लेपायमान नहीं होता और दूसरा कर्म स्वरूप है, वह मोक्ष और बंध से युक्त है और वह सतरह पदार्थों के समुदाय से भी युक्त है)।

सूत्र का 'च' शब्द सूचित करता है कि "श्रुति में भी ऐसा ही कहा है" यह अव्याहृत समझना चाहिये; जैसे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' [श्वे० ४।६] (उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा कुछ भी न खाते हुए केवल देखता रहता है), 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः' [कठ० ५।११] (इसी प्रकार सब भूतों का अन्तरात्मा एक है, वह वाहर के सुखदुःखों से लेपायमान नहीं होता)।

पूर्वपक्ष—यदि सब भूतों का अन्तरात्मा एक ही है तो, लोगों में प्रचलित और वेदों से कथन किये हुए विधिनिषेध किस प्रकार बन सकेंगे ? जीव ईश्वर का अंश है यह पहिले ही कह चुके हैं, तब जीव ईश्वर का अंश होने से केवल जीव के लिये पृथक् रूप से विधि निषेध बन सकता है, इसमें पूछना ही क्या है ? ऐसा यदि कहो तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है; क्योंकि, जीव और ईश्वर अभिन्न है, ऐसा प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां जीव ईश्वर का अंश नहीं है, यही प्रतिपादन करती है; जैसे, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' [तै० २।६।१] (उसको उत्पन्न करके उसीमें उसने प्रवेश किया)' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' [बृ० ३।७।२३] (इसके अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं है). 'मृत्यो सः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [बृ० ४।४।१६] (जो यहां नानात्व देखता है वह वारम्वार जन्म मरण को प्राप्त होता है), 'तत्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है), 'अहं ब्रह्माऽस्मि' [बृ० १।४।१०] (मैं ब्रह्म हूं) इत्यादि।

जीव और ईश्वर का भेद है और अभेद भी है। दोनों बातें श्रुति में प्राप्त होने से जीव ईश्वर का अंश है ऐसा कहा है। अब यह कथन तब ही ठीक होगा जब श्रुति का अभिप्राय भेद और अभेद दोनों का प्रतिपादन करने का हो, परन्तु वास्तव में तो श्रुति का अभिप्राय अभेद का प्रतिपादन करने ही का है; क्योंकि, जीव ब्रह्म है ऐसा ज्ञान होने ही से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। श्रुति में भेद का जो कथन है वह स्वाभाविक दीखने वाले भेद का ही वर्णन है; क्योंकि, ब्रह्म निरवयव होने से जीवत्मा उसका मुख्य अंश हो यह नहीं बन सकता यह पूर्व कह चुके हैं। इसलिये एक परमात्मा जो सब भूतों का अन्तरात्मा है वही जीव रूप से अवस्थित है यही सिद्ध होता है। अब इस अवस्था में विधि

निषेध किस प्रकार युक्ति युक्त होगा सो कहना होगा ॥ ४७ ॥

इसका उत्तर देते हैं—

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबंधाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

अनुज्ञापरिहारौ विधिनिषेध **देहसंबंधात्** देह के संबंध [से होते हैं] **ज्योतिरादिवत्** जैसे ज्योति आदि में होता है ।

'ऋतौ भार्यामुपेयात' (ऋतुकाल में भार्या के साथ सहगमन करे) यह विधि है; 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' (गुरु की स्त्री से संयोग नहीं करना चाहिये) यह निषेध है । वैसे ही, 'अग्निषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' (अग्नि और सोम देवता के लिये पशु की हिंसा करे) यह विधि है और "न हिंस्यात्सर्व भूतानि" (किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये) यह निषेध है । लोक व्यवहार में भी 'मित्र को सहायता करनी चाहिये' यह विधि है और 'शत्रु को नष्ट करना चाहिये' यह निषेध है । इस प्रकार के विधिनिषेध आत्मा के एक होते हुए भी देह के सम्बन्ध से बन सकते हैं । देह के साथ जो सबंध होता है उसको देह संबंध कहते हैं । देह सम्बन्ध से और क्या अभिप्राय है ? 'शरीर आदि संघात ही मैं हूँ' इस प्रकार जो विपरीत ज्ञान होता है, वही देह सम्बन्ध है । मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं अंधा या आंख वाला हूँ, मैं मूर्ख या पण्डित हूँ' इस प्रकार का विपरीत ज्ञान प्राणीमात्र में दिखाई देता है । इस विपरीत ज्ञान का निवारण तत्त्व ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी से भी नहीं हो सकता । तत्त्व ज्ञान के पूर्व सब प्राणी इस भ्रांति से युक्त रहते हैं । इस प्रकार, आत्मा एक ही है ऐसा मानें तब ही अविद्या से उत्पन्न हुए शरीर आदि उपाधि के संबंध से भेद की प्राप्ति होने से विधिनिषेध बन सकते है ।

यदि कहो कि तत्त्वज्ञान युक्त मनुष्य को विधि निषेध निरर्थक ही हो जायँगे तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञानी कृतार्थ हुआ होने से वह विधिनिषेध के उपदेश का भाजन नहीं बन सकता। जो हेय और उपादेय के भाव से युक्त हो, वही उपदेश के योग्य होता है, परन्तु जो आत्मा के अतिरिक्त और हेय और उपादेय ऐसी वस्तु देखता ही नहीं उसको उपदेश कैसे बन सकता है? आत्मा आत्म प्राप्ति के उपदेश के योग्य है, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है आत्मा शरीर से भिन्न है ऐसे जानने वाला ही उपदेश के योग्य होता है, ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि देहादि संघात में अहंभाव होने ही से वह विधि निषेध के उपदेश के योग्य बनता है। आत्मा शरीर से भिन्न है ऐसा जानने वाला मनुष्य ही विधि निषेध के उपदेश का पात्र है, यह जो कि सत्य है तो भी उसमें भी, 'जैसे आकाश घटादि से सम्बद्ध नहीं है, वैसा मैं भी शरीरादि से सम्बद्ध नहीं हूँ', ऐसा जिसको ज्ञान नहीं है, उसी को 'मैं उपदेश के योग्य हूँ' यह अभिमान उत्पन्न होता है। मेरा शरीरादि से कोई सम्बन्ध नहीं है' ऐसे समझने वाला कोई भी मनुष्य (जैसे सुषुप्ति अवस्था में) उपदेश के पात्र हो ऐसा देखने में नहीं आता; फिर आत्मा का एकता से बोध करने वाला ज्ञानी किस प्रकार उपदेश का पात्र बनेगा।

तत्वज्ञानी उपदेश के पात्र न होने से वे स्वेच्छाचारी बनेंगे, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र अभिमान ही प्रवृत्ति का हेतु होता हैं और ज्ञानियों में अभिमान किंचित् भी नहीं होता इसलिये, विधि निषेध देह के सम्बन्ध ही से प्रवृत्त होते हैं, यही सिद्ध हुआ।

ज्योति आदि उदाहरणों से यह बात समझ सकते हैं। ज्योति जैसे सर्वत्र एक ही है, तो भी मुर्दे जलाने वाले अग्नि का लोग त्याग करते हैं, अन्य अग्नि का त्याग नहीं करते। जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक ही होता है, तो भी अपवित्र स्थान में पड़े हुए प्रकाश का त्याग किया जाता है और पवित्र स्थान पर उसका कोई त्याग नहीं करता। जैसे गोमूत्र और गोबर पवित्र मानकर ग्रहण किया जाता है परन्तु वही पदार्थ अन्य पशु के हों तो कोई नहीं लेता। वैसे ही यह समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

च परन्तु **असंततेः** [सब शरीरों के साथ जीव का] सम्बन्ध न होने से **अव्यतिकरः** [कर्म और फल का संकर नहीं होता]।

शंका—आत्मा के एक होते हुए भी उस भिन्न-भिन्न देहों की उपाधि से उसको विधि निषेध प्राप्त भले हों, परन्तु आत्मा को एक मानने से जीव का कर्म और फल से जो सम्बन्ध है उसमें व्यवस्था नहीं रहेगी, क्योंकि सब शरीरों का स्वामी तो एक ही है।

समाधान—यह ठीक नहीं है; क्योंकि जीव व्यापक नहीं है। कर्ता भोक्तारूप जीव का सब शरीरों से एक साथ संबद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि जीवत्व उपाधि के अधीन है, यह पहिले ही कह चुके हैं। उपाधि व्यापक नहीं है इसलिये जीव भी व्यापक नहीं है। इसलिये कर्म और कर्मफल का संकर नहीं होता ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५०॥

च और [जीव परमात्मा का] **आभासः** आभास **एव** ही है [इसलिये कर्मफल का संकर नहीं होता]।

जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान जीव परमात्मा का प्रतिबिंब है ऐसा समझना चाहिये। वह साक्षात् परमात्मा नहीं है, न उससे भिन्न ऐसी कोई अन्य वस्तु भी है। इसलिये जैसे एक जल में पड़े हुए प्रतिबिंब के कम्पित होजाने से अन्य जलों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब कम्पित नहीं होते; वैसे हीं एक जीव का कर्म से या कर्मफल से सम्बन्ध हो जाय तो भी उनका अन्य जीवों से सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार कर्म और फलों का किंचित् भी संकर नहीं होता। अपरंच, प्रतिबिंब अज्ञान से भासता है, इसलिये उस प्रतिबिंब पर आधार रखने वाला यह संसार भी अज्ञान ही से भासता है ऐसा कहना पड़ेगा और अज्ञान का निरास होने पर परमार्थ दृष्टि से जीव ब्रह्म स्वरूप है ऐसा जो श्रुति में उपदेश मिलता है यह भी युक्तियुक्त है, ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु जिनके मत में आत्मा अनेक हैं और वे सर्वव्यापक हैं उनके मत में ही यह अव्यवस्था प्राप्त होती है। वह कैसे प्राप्त होती है सुनो—

आत्मा अनेक, सर्वव्यापक, केवल और चैतन्य स्वरूप निर्गुण और निरतिशय हैं। उस आत्मा के लिये उपयोगी और सब आत्माओं को साधारण ऐसा 'प्रधान' नामक पदार्थ है। इस प्रधान ही से आत्मा को भोग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह सांख्यों का मत है।

आत्मा अनेक सर्वव्यापक, घट भीत आदि के समान द्रव्य-रूप और स्वयं अचेतन है। अत्यन्त सूक्ष्म और अचेतन ऐसे

अन्तःकरण उस आत्मा के साधन हैं। इनमें से आत्म रूपी द्रव्य का अन्तःकरण रूप द्रव्य से संयोग हो जाने से उन-उन आत्माओं में इच्छा आदि नौ विशेष गुणों की उत्पत्ति होती है और उन गुणों का सब आत्माओं में संकर न होते हुए वे प्रत्येक आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, यही संसार है और आत्मा के नौ गुणों के उत्पत्ति का अत्यन्त अभाव हो जाय वही मोक्ष है। यह वैशेषिकों का मत है।

सांख्यों के मत में सब आत्मा चैतन्य स्वरूप होने से और प्रधान का सामीप्य आदि बातें सबको साधारण होने से एक आत्मा का सुख दुःख से संबंध हो जाने से सब आत्माओसे सुख दुःख का संबंध प्राप्त होता है। यदि कहो कि पुरुष के मोक्ष के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होनेसे कर्म फल की व्यवस्था होगी अन्यथा प्रधान की प्रवृत्ति केवल अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये है ऐसा मानना पड़ेगा और फिर कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, तो इस कथन में कोई सार नहीं; क्योंकि इष्ट हेतु की सिद्धि हो इतने ही पर कर्मफल की व्यवस्था कैसे बन सकेगी यह बात समझ में नहीं आती। परन्तु उसकी कोई उपपत्ति (कार्य कारण सम्बन्ध) बतलाई जाय तो समझ में आ सकती है। यदि उपपत्ति न बताई जा सके तो पुरुष के मोक्ष रूप इष्ट हेतु की सिद्धि नहीं होगी। इतना ही नहीं, परन्तु कर्मफल के व्यवस्था में कुछ भी हेतु न होने से उसमें अव्यवस्था हो जायगी।

वैशेषिकों के मत में भी जब एक आत्मा के साथ मन का संयोग होता है उस समय अन्य आत्माओं के साथ भी उसका सम्बन्ध अवश्य होगा; क्योंकि (संयोग के लिये) सामीप्य आदि हेतु सामान्य ही हैं और हेतु सामान्य होने से कार्य भी समान

ही होंगे । इसलिये एक आत्मा के साथ सुख दुःख का संबंध प्राप्त होने से सब आत्माओं में समान सुख दुःख का संयोग होगा ॥ ५० ॥

अदृष्ट से उसकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी, यह सूत्रकार आगे कहते हैं—

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

अदृष्टानियमात् अदृष्ट का कोई नियम न होने से [कर्म-फल की उससे व्यवस्था नहीं बन सकती]।

आत्मा अनेक है, वे आकाश के समान सर्व व्यापक हैं और उनकी संनिधि प्रत्येक शरीर के लिये बाहर से और भीतर से समान है। ऐसी अवस्था में जीव शरीर, मन और वाणी से धर्म अधर्म रूप अदृष्ट संपादन करता है (यह साँख्य और वैशेषिक दोनों का मत है) । अब सांख्यों के मत में वह अदृष्ट आत्मा में न रहकर प्रधान ही में रहता है और प्रधान सब आत्माओं को एक समान होने से, प्रत्येक जीव को सुख दु.ख के जो भिन्न २ भाग होते हैं, उनकी व्यवस्था उस अदृष्ट से नहीं बन सकता । वैशेषिकों के मत में भी पहिले कहा है वैसे ही, आत्मा और मन का संयोग सर्वत्र समान है, इसलिये उसमें भी अमुक आत्मा का अमुक अदृष्ट है, ऐसा नियम होने के लिये कोई भी कारण न होने से अदृष्ट के लिये वही दोष यहां पर प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

यदि कोई कहे कि मैंने यह फल प्राप्त किया, इसका मैं परि-हार करूँगा, प्रयत्नपूर्वक मैं ऐसा करूँगा, ऐसे विचार करने की प्रत्येक आत्मा की प्रवृत्ति होती है और इन विचार आदि से

अदृष्ट और आत्मा के स्वस्वामीभाव संबंध का नियमन होगा; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, यह सूत्रकार आगे कहते हैं—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

च और **अभिसंध्यादिषु** विचार आदि के सम्बन्ध में **अपि** भी **एवम्** ऐसा ही है [यानी वही दोष प्राप्त होता है]।

आत्मा और मन के संयोग से विचार आदि होते हैं। यह संयोग सब आत्माओं के साथ समान होने से सब आत्माओं का सामीप्य आदि होते हुए ही ये विचार आदि किये जाते हैं, इसलिये ये विचार आदि भी अदृष्ट की व्यवस्था के कारण हैं ऐसा नहीं कह सकते। अर्थात् पूर्व कथित दोष यहां भी प्राप्त होता है॥ ५२॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

प्रदेशात् [शरीर में स्थित आत्मा का प्रदेश होने से [कर्मफल की व्यवस्था बनेगी] **इति** ऐसा **चेत्** [यदि कहो] तो **अन्तर्भावात्** [सब आत्माओं का सब शरीरों में] अन्तर्भाव होने से **न** [कर्मफल की] व्यवस्था बन नहीं सकेगी।

अब कोई कहे कि यद्यपि आत्मा सर्व व्यापक है तो भी उसका शरीर में रहे हुए मन से संयोग होता है और वह संयोग शरीर से मर्यादित हुए आत्मा के प्रदेश ही में होता है, इसलिये मर्यादित प्रदेश से विचार आदि की, सुख दुःख की और अदृष्ट की व्यवस्था बन जायगी तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि, उनका अन्तर्भाव है। सब आत्मा एकसे सर्व व्यापक होने से उन सबका सब शरीरों में अन्तर्भाव होता है। इसलिये, शरीर से मर्यादित हुए

आत्मा का एक प्रदेश है, ऐसा वैशेषिक नहीं मान सकते। और यदि आत्मा के इस प्रदेश की कल्पना कर भी लें, तो आत्मा प्रदेशरहित होने से उसका प्रदेश भी काल्पनिक ही रहेगा और यह काल्पनिक प्रदेश सच्चे कार्य का नियमन नहीं कर सकेगा। शरीर भी सब आत्माओं के संनिधि में ही उत्पन्न होता है, इसलिये इसी आत्मा का यह शरीर है अन्य का नहीं ऐसा उस शरीर के संबंध में निश्चय नहीं हो सकेगा।

आत्मा के विशिष्ट प्रकार के प्रदेश होते हैं ऐसा मान लें, तो भी समान सुखदुःख का उपभोग करने वाले दो आत्मा एक ही शरीर से उसका उपभोग कर सकेंगे; क्योंकि, दोनों आत्मा का अदृष्ट भी एक ही प्रदेश पर रह सकेगा। जैसे, देवदत्त ने जिस प्रदेश में सुखदुःख का अनुभव किया उस प्रदेश से देवदत्त का शरीर दूर हो जाय और यज्ञदत्त का शरीर उस प्रदेश में आ जाय तो उसको भी देवदत्त के समान ही सुखदुःख का अनुभव होता है ऐसा देखने में आता है। अब यदि देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनों का अदृष्ट एक ही प्रदेश में नहीं रहता हो तो ऊपर लिखी हुई बात बनती नहीं।

अपरंच, आत्मा का प्रदेश होता है, ऐसा मानने वालों के मत में स्वर्ग आदि का उपभोग भी नहीं बनेगा, क्योंकि ब्राह्मण आदि के शरीरों में अदृष्ट उत्पन्न होता है और स्वर्ग आदि का भोग अन्य प्रदेश ही में बन सकता है।

यदि आत्मा अनेक हैं, तो वे सर्वव्यापक नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा कहीं दृष्टान्त नहीं मिलता। जो बहुत हों और सब एक ही स्थान में हों ऐसे कौन पदार्थ हैं कहो! यदि कहो कि रूप आदि पदार्थ ऐसे ही हैं, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि रूप

आदि भी धर्मी रूप से एक ही हैं और उनके लक्षणों से भिन्नता भी है। परन्तु बहुत आत्माओं के लक्षणों से भिन्नता नहीं है। अन्त्यविशेष से (यदि आत्मा भिन्न २ हैं, तो उनको भिन्न २ रखने वाला कुछ विशिष्ट धर्म प्रत्येक आत्मा में होना चाहिये, इस कल्पित धर्म ही को अन्त्यविशेष कहते हैं) भेद बन सकता है ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माने तो भेद की कल्पना से अन्त्यविशेष की सिद्धि और अन्त्यविशेष की कल्पना से भेद की सिद्धि, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष की प्राप्ति होती है। ब्रह्म प्रतिपादकों के मत में आकाश आदि पदार्थ भी सर्वव्यापक सिद्ध नहीं होते; क्योंकि आकाश आदि पदार्थ कार्य हैं, ऐसा वे मानते हैं। अर्थात् आत्मा एक है, यही मत सर्व दोषरहित है, ऐसा सिद्ध हुआ।

इति श्री ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद के
द्वितीय अध्याय का तृतीय पाद
समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय, चौथा पाद ।

१ प्राणोत्पत्ति अधिकरण । सू० १-४

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

तथा इसी प्रकार **प्राणाः** प्राण [उत्पन्न होते हैं] ।

आकाश आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रुति का जो परस्पर विरोध था उसका तीसरे पाद में परिहार किया । अब इस पाद में प्राण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रुति में जो आपस में विरोध है, उसका सूत्रकार परिहार करते हैं ।

पहिले 'तत्तेजोऽसृजत' [छां० ६।२।३] (उसने तेज उत्पन्न किया) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तैत्ति० २।१।१] (ऐसे उस आत्मा ही से आकाश उत्पन्न हुआ), आदि श्रुतियों के उत्पत्ति प्रकरण में प्राणों की उत्पत्ति नहीं दी गई है । कहीं कहीं तो प्राणों की उत्पत्ति होती ही नहीं, ऐसा कथन मिलता है, जैसे, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' [तै० २।७], 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयः ॥' (यह जगत् पहिले असत् ही था । आगे पूछते हैं—वह असत् क्या था ? कहते हैं —वे ऋषि ही पहिले का असत् था । प्रश्न करते हैं—वे ऋषि कौन थे ? कहते हैं--प्राण ही वे ऋषि थे) । इस श्रुति में जगत् के उत्पत्ति के पहिले प्राणों का अस्तित्व था ऐसा कहा है । परन्तु और स्थानों में प्राणों की उत्पत्ति का वर्णन पढ़ने में आता है । जैसे, 'यथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः

सर्वे प्राणाः' [बृ० २।१।२०] (जैसे जलते हुए अग्नि से छोटी छोटी चिनगारियां उठती हैं, वैसे ही इस आत्मा से सब प्राण उत्पन्न होते हैं), 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।' [मुण्ड० २।१।३] (इससे प्राण, मन और सब इंद्रियां उत्पन्न होती हैं), 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्।' [मु० २।१।८] (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्।' [प्र० ६।४] (जिसने प्राण उत्पन्न किये, फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्न उत्पन्न किये)। भिन्न भिन्न स्थान की इन भिन्न भिन्न श्रुतियों में आपस में विरोध होने से और उसका निश्चय करने के लिये कोई उपाय नहीं बताया हुआ होने से कुछ भी निश्चय नहीं होता ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। अथवा उत्पत्ति के पहिले प्राणों का अस्तित्व होने से उनके उत्पत्ति की श्रुति गौण है, यही मानना पड़ता है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'तथा प्राणाः' इस सूत्र से देते हैं।

शंका—इस सूत्र में 'तथा' अर्थात् 'इसी प्रकार' ये शब्द क्यों कहे? क्योंकि जिसकी उपमा दी जाय ऐसा कोई प्रकरण अभी आरम्भ नहीं हुआ। आत्मा सर्वगत और नाना हैं, ऐसा मानने वालों के पक्ष में दूषण देने का प्रकरण पूर्व पाद के अन्त में आया है, वह सादृश्य के अभाव से उपमा के योग्य नहीं है। सादृश्य हो तब ही उसकी उपमा दी जा सकती है; जैसे, जैसा सिंह है वैसा बलवर्मा है। यदि अदृष्ट की समानता बताने के लिये यानी अदृष्ट सब आत्माओं की संनिधि में उत्पन्न होता है, इसलिये इस आत्मा का यह अदृष्ट है ऐसा नियम नहीं बन सकता, वैसे ही प्राण भी अमुक आत्मा के हैं ऐसा प्राणों के

लिये भी प्रत्येक आत्मा के सम्बन्ध में नियम नहीं बन सकता, ऐसी समानता का प्रतिपादन करने के लिये 'तथा' इस प्रकार शब्द का प्रयोग है ऐसा यदि कहो तो उसका उत्तर यह है कि, पहिले शरीर का नियम नहीं हो सकता ऐसा कहा है उसीसे इसका भी उत्तर हो जाता है। अर्थात् उसको यहां फिर से कहने से पुनरुक्ति होगी। इसी प्रकार प्राणों को जीव की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे सिद्धान्त ही में विरोध आता है। जीव की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा पहिले कह चुके हैं और यहाँ पर प्राणों की उत्पत्ति होती है ऐसा प्रतिपादन करना है। इसलिये सूत्र स्थित 'तथा' शब्द असंबद्ध ही सा प्रतीत होता है।

समाधान—यह ठीक नहीं है। उदाहरण में दिये हुए उपमान के साथ भी प्राणों का सम्बन्ध बताया जा सकता है। यहाँ प्राणों की उत्पत्ति बताने वाले सब वाक्य उदाहरण रूप हैं; जैसे, 'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वेलोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरंति।' [बृ० २। १। २०] (इस आत्मा से सब प्राण सब लोक, सब देव तथा सब भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि। यहाँ पर जैसे लोक आदि परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण भी उत्पन्न होते हैं ऐसा अर्थ है। वैसे ही, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।' [मुण्ड० २। १। ३] (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां तथा आकाश, वायु, तेज, जल और सब को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है), इत्यादि वाक्यों में भी आकाश आदि के समान प्राणों की उत्पत्ति होती है ऐसा जानना चाहिये। अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' [जै० अ० ३। ४। १५] (सोममाशन करते हुए कोई विकार होजाय तो वैसे ही समझना चाहिये) ऐसे स्थानों में

दूर के उपमान के साथ भी संबंध मिलाया जाता है। जैसे पूर्व पाद के आरम्भ ही में कथन किये हुए आकाश आदि परब्रह्म के विकार हैं ऐसा प्राप्त हुआ है, वैसे ही प्राण भी परब्रह्म के विकार हैं ऐसा अर्थ लगाना चाहिये। प्राण के विकार (कार्य) होने में क्या प्रमाण है ऐसा पूछो तो, श्रुति ही उसके लिये प्रमाण है। श्रुति में प्राणों की उत्पत्ति ही कहीं कहीं नहीं लिखी है इसलिये प्राणों की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा जो कहा है सो अयुक्त है, क्योंकि अन्य स्थान में प्राणों की उत्पत्ति का कथन है। एक श्रुति में कहीं पर एक बात नहीं कहीं हो इससे वही बात अन्यत्र श्रुति में कथन की गई हो उसका निवारण नहीं हो सकता। इसलिये श्रुति का प्रमाण दोनों के लिये समान होने से आकाश आदि के समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं; ऐसा ठीक ही कहा है॥ १॥

गौण्यसंभवात् ॥ २ ॥

गौण्यसंभवात् [प्राणों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति की] गौणता असंभव होने से [प्राण उत्पन्न होते है यही सिद्ध होता है]।

पहिले (पूर्वपक्ष में) कहा था कि उत्पत्ति के पूर्व प्राणों के अस्तित्व का श्रुतिप्रमाण होने से प्राणों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति गौण है, उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि गौणता असंभव होने से [प्राणों की उत्पत्ति ही सिद्ध होती है]। 'गौण्यसंभव' का अर्थ है कि गौण श्रुति का होना असंभव है। प्राणों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति गौण नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने से प्रतिज्ञा की हानि हो जाती है। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। [मुण्ड० १। १। ३]

(हे भगवन्, किस वस्तु का ज्ञान होने से इन सब पदार्थों का ज्ञान होता है), इस श्रुति में एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये श्रुति कहती है कि 'एतस्माज्जायतेप्राणः' [मुण्ड० २ । १ । ३] (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इत्यादि । यह प्रतिज्ञा प्राण आदि सब जगत् ब्रह्म का कार्य है ऐसा माने तब ही सिद्ध होती है, क्योंकि उपादान कारण से भिन्न कोई कार्य नहीं होता । परन्तु प्राणों के उत्पत्ति की श्रुति गौण मानने से प्रतिज्ञा की ही हानि होती है । आगे श्रुति प्रतिज्ञा का इस प्रकार उपसंहार करती है कि— 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' [मुण्ड० २।१।१०] (कर्म और तप यह सब पुरुष ही है, यह सब परम अमृत ब्रह्म ही है), 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' [मुण्ड० २।२।११] (ब्रह्म ही सब विश्व है और वही सबसे श्रेष्ठ है) । इसी प्रकार 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' [बृ० २।४।५] (अरे, आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, चिंतवन से और ज्ञान से इस सबका ज्ञान होता है) ऐसी श्रुतियों में यही प्रतिज्ञा की गई है ऐसे समझना चाहिये ।

शंका—फिर उत्पत्ति के पहिले प्राणों का अस्तित्व श्रुति में क्यों कहा है ?

समाधान—श्रुति ने जो प्राणों का अस्तित्व कहा है, वह मूल कारण रूप से नहीं कहा है, क्योंकि, 'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।' [मुण्ड० २।१।२] (आत्मा प्राण रहित, मनरहित शुद्ध और श्रेष्ठ अक्षर से भी पर है); इस श्रुति में मूल कारण प्राणादि सब विशेष धर्मों से रहित है, ऐसा कहागया है । इसलिये उत्पत्ति के पहिले प्राणों का अस्तित्व कहा है वह

अवान्तर कारणरूप से है, यानी प्राणों के जो विकार हैं उनकी अपेक्षा से यह कथन है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि, व्यक्त नाम रूपों की जो अनेक अवस्थाएं हैं उनमें भी कार्य कारण भाव होता है, यह बात श्रुति और स्मृति में भी प्रसिद्ध है।

पहिले, वियदधिकरण में [ब्र० सू० २।३।३] 'गौण्य संभवात्' यही सूत्र आया है। वह पूर्वपक्ष में होने से आकाश की उत्पत्ति प्रतिपादन करने वाली श्रुति गौण है क्योंकि आकाश की उत्पत्ति नहीं संभवती, ऐसा उसका व्याख्यान किया गया और प्रतिज्ञा हानि का हेतु बताकर सिद्धांत का प्रतिपादन किया; परन्तु यहां पर वही सूत्र सिद्धांत का प्रतिपादक होने से 'प्राणों की उत्पत्ति प्रतिपादन करने वाली श्रुति गौण होना असंभव है' ऐसा उसका व्याख्यान किया गया है। जो लोग पूर्व सूत्र के अनुरोध से यहां भी 'प्राणों की उत्पत्ति प्रतिपादन करने वाली श्रुति गौण है, क्योंकि प्राणों की उत्पत्ति नहीं संभवती' ऐसा जब इस सूत्र का व्याख्यान करते हैं तब इसमें प्रतिज्ञा की हानि होती है, इस बात का वे विचार नहीं रखते ॥ २ ॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ३ ॥

च और **तत्** वह [उत्पत्तिवाचक पद] **प्राक्श्रुतेः** श्रुति में पहिले आता है इसलिये भी [प्राण उत्पन्न होते हैं यही सिद्ध होता है]।

आकाश आदि के समान प्राणों की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहने वाली श्रुति इसलिये मुख्य है कि 'जायते' यानी उत्पन्न होता है, यह उत्पत्तिवाचक पद पहिले प्राणों के संबंध ही में श्रुति में आता है और आगे उसी का आकाश आदि के

साथ संबंध होता है। आकाश आदि की उत्पत्ति मुख्य है' यह पहिले ही स्थापित कर चुके हैं, इसलिये वैसे ही प्राणों की उत्पत्ति भी मुख्य है ऐसा ही मानना पड़ेगा। क्योंकि, एक ही प्रकरण में, एक ही वाक्य में, एक ही वार उच्चारण किये हुए शब्द का अनेक शब्दों से संबंध हुआ हो तो उस शब्द का अर्थ कहीं मुख्य है और कहीं गौण है ऐसा मान नहीं सकते। ऐसा मानने से वैरूप्यदोष की प्राप्ति होती है। वैसे ही, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' [प्रश्न० ६।४] (उसने प्राण उत्पन्न किया और प्राण से श्रद्धा उत्पन्न की), इस श्रुति में 'असृजत' यानी 'उत्पन्न किया' यह पद प्राण के संबंध से प्रयोजित किया है और उसीको उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा आदि से संबंधित किया गया है। जहां आगे आये हुए उत्पत्तिवाचक शब्दका पहिले उत्पत्ति वाचक शब्द के साथ संबंध होता है वहां भी यही न्याय है। जैसे, 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' [बृ० २।१।२०] (सब भूत उत्पन्न होते हैं), इस प्रकार श्रुति के अन्त में आया हुआ 'व्युच्चरन्ति' यानी उत्पन्न होते हैं यह पद पूर्व में आये हुए प्राण आदि के साथ भी संबंधित है ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

वाचः वाणी तत्पूर्वकत्वात् उन (भूतों) से पहिले उत्पन्न होती हैं [ऐसा श्रुति कहती है] इसलिये [प्राण उत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध होता है।]

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' [छां० ६।२।३] (उसने तेज उत्पन्न किया) इस श्रुति के प्रकरण में प्राणों की उत्पत्ति का कथन नहीं है, क्योंकि उस श्रुति में तेज' जल और पृथ्वी इन तीन ही भूतों की उत्पत्ति कही है, तो भी ब्रह्म रूप

कारण से उत्पन्न हुए तेज, जल और पृथ्वी इन तीन भूतों ही से क्रमशः वाणी, प्राण और मन ये तीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं; ऐसा श्रुति में ही आगे कहा है और इन (तेज, जल, पृथ्वी तथा वाणी, प्राण और मन) में समानता होने से प्राण ब्रह्म ही से उत्पन्न होते हैं, ऐसा ही सिद्ध होता है और इसी प्रकरण में वाणी, प्राण और मन ये तेज, जल और पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है; जैसे, 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' [छां० ६।५।४] (हे सोम्य, मन अन्नमय है, प्राण उदकमय है और वाणी तेजोमय है)। यहां पर यदि ये (मन, प्राण और वाक्) अन्नादिमय हैं ऐसा मुख्य रूप से माना जाय तब ही उनकी उत्पत्ति ब्रह्म से है ऐसा सिद्ध होता है। यद्यपि यह (यानी मन आदि के अन्नमय बताने वाला श्रुतिकथन) गौण माना जाय तो भी मन आदि ब्रह्म के कार्य हैं इस बात का विस्तार करने के लिये ही श्रुति ने मन आदि अन्न आदि मय है ऐसा कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि, जहां ब्रह्म से उत्पन्न हुए नाम रूपों की व्यक्तता का वर्णन है उसी प्रकरण में इसका वर्णन है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकरण में 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' [छां० ६।१।३] (जिससे न सुना हुआ सुना जाता है) इस प्रकार उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' [छां० ६।८।७] (यह सब यह आत्मा ही है), ऐसा श्रुति ने उपसंहार किया है और यह बात अन्य श्रुतियों में भी प्रसिद्ध है, इसलिये भी प्राण ब्रह्म का कार्य है, यह बात सिद्ध होती है।

२ सप्तगति अधिकरण । सू० ५–६

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

सप्त [प्राण] सात हैं; **गतेः** क्योंकि, [श्रुति से इतने ही

का] ज्ञान होता है **च** और [श्रुति में उस अर्थ के] **विशेषित्वात्** विशेषण भी दिये हुए हैं।

प्राणों की उत्पत्ति के बारे में श्रुति में जो परस्पर विरोध था उसका परिहार हुआ। अब उनकी संख्या के विषय में जो विरोध दीखता है उसका निराकरण करते हैं। इनमें जो मुख्य प्राण है, उसके लिये आगे कहेंगे; यहाँ तो इतर प्राण कितने हैं इसका निश्चय करते हैं। श्रुति में विरोधी कथन मिलने से संशय उत्पन्न होता है। कहीं सात प्राणों का कथन है; जैसे, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' [मुण्ड० २।१।८] (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं), कहीं आठ प्राण ग्रहरूप से कहे हैं. जैसे, अष्टौग्रहा अष्टावतिग्रहाः [बृ० ३।२।१] (आठ ग्रह हैं और आठ उपग्रह हैं) कहीं नौ, जैसे, 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वावञ्चौ' [तै० सं० ५।१।७।१] (मस्तक में सात प्राण हैं और नीचे दो), तो कहीं दस का कथन है; जैसे 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' [तै० सं० ७ । ५ । १२] (पुरुष में नौ प्राण हैं और दशवीं नाभि है), कहीं एकादश, जैसे, दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' [बृ० ३।६।] (पुरुष में दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है) तो कहीं द्वादश प्राणों का निर्देश है, जैसे, 'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' [बृ० २।४।११] (सब स्पर्शों का त्वचा ही एकस्थान है), तो कहीं तेरह प्राण भी कहे हैं, जैसे, 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' [बृ ४।८] (चक्षुरिन्द्रिय और देखने के योग्य) इत्यादि। इन श्रुतियों में इस प्रकार प्राणों की संख्या के विषय में परस्पर विरोधी कथन है।

पूर्वपक्ष—इससे सिद्ध क्या हुआ ? यही सिद्ध हुआ कि प्राण सात हैं, क्योंकि श्रुति से यही विदित होता है। सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' [मुण्ड० २।१।८] (उससे सात प्राण उत्पन्न

हुए) इस प्रकार की श्रुतियों से प्राण सात ही हैं ऐसा बोध होता है। 'सप्तवै शीर्षण्याः प्राणाः' [तै० सं० ५।१।७।१] (मस्तक में सात प्राण हैं) इस श्रुति में प्राणों के लिये 'सात' यही विशेषण दिया हुआ है। यदि कहो कि 'प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' [मुण्ड० २।१।८] (हृदयरूप गुहा में सात सात प्राण स्थापित किये गये हैं) इस श्रुति में 'सात' शब्द दुहराया गया है, इससे प्राणों की संख्या सात से अधिक है ऐसा प्रतीत होता है तो यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि पुरुष नाना हैं, इस बात को ध्यान में लेते हुए उस श्रुति में 'सात' शब्द दुहराया गया है। प्रत्येक पुरुष के सात सात प्राण होते हैं यह उस श्रुति का अभिप्राय है। वे तत्त्व से भिन्न हैं यानी भिन्न प्रकार के प्राणों की सात जोड़ियां हैं ऐसा उसे दुहराने का अभिप्राय नहीं है। यदि पूछो कि प्राणों की आठ नौ आदि संख्या भी बताई गई है, फिर वे सात ही कैसे हो सकते हैं? तो कहते हैं वह ठीक है, वैसा ही कहा गया है। परन्तु श्रुति में परस्पर विरोध आता है इसलिये कोई भी एक संख्या निश्चित करनी पड़ेगी। अब 'कल्पना करना हो तो वह अल्प ही की करनी चाहिये' इस नियम के अनुसार प्राणों की संख्या सात ही है ऐसा निश्चय करना उचित है। श्रुति में जो अन्य संख्या बताई जाती है वह उन प्राणों की भिन्न भिन्न वृत्तियों का लक्ष्य लेकर है ऐसा माना गया है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर सूत्रकार देते है कि—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

तु परन्तु **हस्तादयः** हाथ आदि [अधिक प्राण] **स्थिते** [श्रुति में] बताये गये हैं **अतः** इसलिये **एवम्** ऐसी कल्पना न नहीं करनी चाहिये।

'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' [बृह० ३।२।८] (हाथ ग्रह हैं, उसका कर्म रूप अतिग्रह ने ग्रहण किया है क्योंकि, वह हाथ से कर्म करता है), इत्यादि प्रकार की श्रुतियों में सातों के अतिरिक्त हाथ आदि और प्राण हैं, ऐसा कहा है। प्राणों की संख्या इस प्रकार सात से अधिक होने से सात की संख्या का उसमें अंतर्भाव हो सकता है। बड़ी और छोटी संख्या संबंधी विरोध होने पर अधिक संख्या का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि छोटी संख्या का बड़ी संख्या में समावेश होता है, परन्तु छोटी में बड़ी संख्या का समावेश नहीं होता। इसलिये अल्प ही की कल्पना करने के नियम के अनुरोध से सात ही प्राण हैं, ऐसा मानना युक्त नहीं है और बड़ी संख्या का ग्रहण करना हो तो वे प्राण ग्यारह ही होने चाहिये। 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश.' [बृह० ३ । ६ । ४] (पुरुष में दश प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है) यह श्रुति उस बात को बताती है। यहां पर आत्मा शब्द से अन्तःकरण समझना चाहिये, क्योंकि करणों के प्रकरण में वह श्रुति आई है।

यदि कोई कहे कि ग्यारह से अधिक बारह और तेरह ये संख्याएँ भी बताई गई हैं, तो वह ठीक है, परन्तु ग्यारह कार्यों से अधिक कार्य वर्ग है ही नहीं, जिनके लिये अधिक साधनों की कल्पना की जाय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों के पांच प्रकार के ज्ञान हैं, उनके लिये पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वैसे ही बोलना, ग्रहण करना, विहरण करना, त्याग करना और आनन्द लेना इस प्रकार कर्म के पांच प्रकार हैं उनके लिये पांच कर्मेन्द्रियां हैं तथा जिसके सब पदार्थ विषय हैं और जो तीनों कालों में रहता है ऐसा मन इन्द्रिय एक ही है

और उसकी अकेक वृत्तियाँ होती हैं। भिन्न भिन्न वृत्ति के कारण मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त; ये उससे भिन्न हों ऐसा उसका निर्देश किया जाता है। इसींसे श्रुति मन की काम आदि अनेक प्रकार की वृत्तियों का उपक्रम करके 'एतत्सर्वं मन एव।' [बृ० १।५।३] (यह सब मन ही है) ऐसा कहती है। वैसे ही मस्तक में सात ही प्राण हैं, ऐसा मानने वालों को भी चार ही प्राण मानने पड़ेंगे; क्योंकि, वास्तव में प्राण चार ही हैं, केवल स्थान भेद से दो कान, दो आंखें, दो नासिकायें और एक वाणी ऐसे सात गिने जाते हैं। अब यहां पर, अन्य प्राण भी इन ही की भिन्न-भिन्न वृत्तियां हैं ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि हाथ आदि की वृत्तियां इनसे अत्यन्त विजातीय हैं। तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी।' [तै० सं० ७।५।१२] इस श्रुति में शरीर में दस छिद्र हैं, इस अभिप्राय ही से दस प्राणों का कथन है; प्राण तत्त्व के दस भेद हैं, ऐसे अभिप्राय से यह कथन नहीं है। इसीलिये उस श्रुति में नाभि दसवीं है ऐसा कहा है। नाभि नाम का कोई प्राण प्रसिद्ध नहीं है, नाभि यह मुख्य प्राण का एक स्थान है, इसीलिये केवल, 'नाभि दसवीं है' ऐसा श्रुति ने कहा है। कहीं कहीं कुछ प्राणों की गणना केवल उपासना के लिये की गई है तो कहीं उनके स्वरूप दिखाने के लिये। इस प्रकार प्राणों की इयत्ता यानी संख्या श्रुति में अनेक प्रकार से कही हुई होने से वह कहाँ पर किस अभिप्राय से कही है उसका विवेक कर लेना चाहिये इसलिये, कार्य वर्ग के अनुरोध से श्रुति ने प्राणों की एकादश संख्या कही है और वही प्रमाण है ऐसा सिद्ध होता है।

इन दो सूत्रों की अन्य तरह से भी योजना हो सकती है।

सूत्र ५ वां—प्राण सात ही होने चाहिये; क्योंकि श्रुति में

सात ही प्राणों की गति यानी उत्क्रमण कहा है; जैसे, 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।' [बृह० ४। ४। २] (वह यानी जीव जाता है तब उसके पीछे प्राण जाता है और प्राण के पश्चात् अन्य सब प्राण जाते हैं), इस श्रुति में सात ही की गति कही हैं। यदि कहो कि यहाँ तो सर्व शब्द पाया जाता है तब सातों की ही गति का निश्चय कैसे होता है, तो कहते हैं कि वैसा ही उस श्रुति में (पहिले) कहा है। चक्षु आदि से लेकर त्वचा पर्यंत सात ही प्राणों का कथन पहिले आया है और उन ही का यहां निर्देश है। जैसे, 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' [बृ० ४। ४। १] (जहां ऐसा यह चक्षुरिन्द्रियों में रहा हुआ पुरुष पीछे लौटता है और फिर उसको यानी जीव को रूप का ज्ञान नहीं होता), 'एकी भवति न पश्यतीत्याहुः' [बृह० ४। ४। २] (वह एक हो जाता है, कुछ भी नहीं देखता, ऐसा कहते हैं), इत्यादि श्रुतियों में जो गणना की है उससे चक्षु से लेकर त्वचा तक प्राण के सात ही प्रकार कहे हैं और ये सात प्रकार ही यहाँ पर प्रकरण प्राप्त है। इस श्रुति के सर्व शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही लेना चाहिये। जैसे 'सर्व ब्राह्मणों को भोजन करावे' ऐसा कहा हो तो जिनको निमंत्रित किया हो ऐसे प्रकरणप्राप्त ब्राह्मणों का ही 'सर्व' शब्द से निर्देश होता है अन्य का नहीं, वैसे ही यहां भी जो प्रकरणप्राप्त सात प्राण हैं, वे ही 'सर्व' शब्द से निर्दिष्ट होते हैं, अन्य नहीं। यदि कहो कि श्रुति में विज्ञान आठवां गिना गया है, फिर सात ही की गणना कैसे मानी जाय तो कहते है कि यह दोष नहीं है। मन और विज्ञान इनकी वृत्तियाँ भिन्न भिन्न होने पर भी ये दोनों तत्त्व से

एक ही होने से सात ही की प्राप्ति होती है। इसलिये प्राण सात ही हैं ऐसा प्रतीत होता है।

इस पूर्वपक्ष पर हमारा उत्तर है कि—

सूत्र ६—'हस्तौ वै ग्रहः' [बृ० ३ । २ । ८] (हाथ ग्रह हैं) इत्यादि श्रुति से सात के अतिरिक्त अन्य प्राण हैं ऐसा प्रतीत होता है। ग्रह शब्द का अर्थ बन्धन है। क्षेत्रज्ञ इस ग्रहसंज्ञक बन्धन से बाँधा जाता है। यह क्षेत्रज्ञ एक ही शरीर में बन्धन को प्राप्त होता हो, यह बात नहीं है; क्योंकि अन्य शरीर में भी बन्धन समान ही है इसलिये यह ग्रह नामक बन्धन अन्य शरीर में भी संचार करता रहता है ऐसा कथन है। स्मृति भी यही कहती है—'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च ॥' (प्राणादि रूप पुर्यष्टकसंज्ञक लिङ्ग से वह युक्त होता है, उससे बद्ध होने से वह बद्ध और मुक्त होने से मुक्त हो जाता है)। यह स्मृति मोक्ष प्राप्ति के पूर्व ग्रह संज्ञयक इस बन्ध से जीव युक्त रहता है ऐसा प्रतिपादन करती है। आथर्वण श्रुति में 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' [प्र० ४ । ८] (चक्षुरिन्द्रिय और देखने योग्य पदार्थ) इत्यादि से इस स्थान पर विषय और इन्द्रिय बताये हैं और वहीं उन्हीं के समान हाथ आदि इन्द्रिय उनके विषयों के साथ बताये हैं; जैसे, 'हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गंतव्यं च।' [प्र० ४ । ८] (हाथ और ग्रहण करने के पदार्थ, उपस्थ और आनन्द करने योग्य पदार्थ, पायु और विसर्जन करने योग्य पदार्थ, पाँव और जाने योग्य स्थान)। वैसे ही 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' [बृ० ३ । ६ । ४] (पुरुष में ये दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है, वे जब इस मर्त्य शरीर

से निकल जाते हैं तब वे रुलाते हैं), यह श्रुति भी ग्यारह प्राणों का उत्क्रमण होता है यह दिखाती है। श्रुति में प्रयोजित सर्व शब्द का प्राणों के साथ सम्बन्ध है। उससे भी सभी प्राणों का बोध होता है। प्रकरण के अनुरोध से उसको सात की संख्या में मर्यादित कर नहीं सकते, क्योंकि प्रकरण से भी शब्द का अर्थ अधिक बलवान् होता है। 'सब ब्राह्मणों को भोजन करावे' इस वाक्य में भी संसार भर के सब ब्राह्मणों का ग्रहण ही ठीक है, क्योंकि 'सर्व' शब्द में ही वह सामर्थ्य है, परन्तु सब को भोजन कराना असंभव होने से निमंत्रित ही के अर्थ में सर्व शब्द के अर्थ को मर्यादित किया जाता है। परन्तु यहां इस प्रकार सर्व शब्द के अर्थ का संकोच करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये यहाँ पर 'सर्व' शब्द से सभी प्राणों का ग्रहण युक्त है और सात प्राणों का जो कथन है वह प्राणों का स्वरूप बताने के लिये है, यह ठीक ही है। इससे सिद्ध हुआ कि श्रुति के शब्द से और प्राणों के कार्य उतने ही होने से प्राण ग्यारह ही होते हैं।

३ प्राणाणुत्वाधिकरण।

अणवश्च ॥ ७ ॥

च और अणवः [प्राण] अणु होते हैं।

अब प्राणों का ही और स्वभाव आगे वर्णन करते हैं कि ये प्रकृत प्राण अणु होते हैं ऐसा समझना चाहिये। ये अणु हैं यानी सूक्ष्म हैं और मर्यादित यानी अल्प हैं; परन्तु ये परमाणुओं के से नहीं हैं क्योंकि इनको वैसे माने तो सब शरीर को व्याप्त होकर ये कार्य करते हैं, इस बात की सिद्धि नहीं होगी। ये प्राण सूक्ष्म भी हैं। ये यदि स्थूल होते तो बिल में

से साँप जैसे निकला हुआ दीखता है वैसे ये भी मरते समय पास रहने वालों को निकलते हुए दिखाई देते। वैसे ही ये प्राण मर्यादित परिमाण के हैं। यदि वे सर्वव्यापक होते तो श्रुति में उनका उत्क्रमण, गमन और आगमन कहा है, उसका विरोध होगा और (प्राणों को अणु न माने तो) जीव के अणुत्व की सिद्धि भी नहीं होगी। यदि कहो कि सर्वव्यापक होते हुए भी उनका व्यापार शरीर के देश ही में होता है तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि उनके व्यापार ही से इन्द्रियों की सिद्धि होती है। ज्ञान का जो कुछ भी साधन होगा फिर वह व्यापार हो या और कुछ, उसी को हम इन्द्रिय कहते हैं, वाद केवल नाम ही का रहा। और इस प्रकार इन्द्रियों को व्यापक मानना निरर्थक है, इसलिये प्राण सूक्ष्म और परिच्छिन्न हैं ऐसा हम निर्णय करते हैं।

४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण।

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

श्रेष्ठः मुख्य [प्राण] **च** भी [विकार ही है]।

मुख्य प्राण भी और प्राणों के समान ब्रह्म का विकार है ऐसा यहां विशेष रूप से कहते हैं। अब सभी प्राण सामान्य रूप से ब्रह्म ही से उत्पन्न होते हैं ऐसा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' [मुण्ड० २।१।३] (उससे प्राण उत्पन्न होता है और मन तथा सब इन्द्रिय वर्ग उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है फिर यहाँ पर विशेष रूप से क्यों कहते हैं? इसीलिये कि अधिक शंका निवारण हो जाय। ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले नासदीय सूक्त में मन्त्र आता है कि 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास'

[ऋ० सं० ८ । ७ । १७] (उस समय न मृत्यु था न अमृत था, न रात या दिन का चिह्न था। वह एक ब्रह्म ही वात रहित चेष्टा करता था, उससे भिन्न कुछ भी नहीं था)। इस श्रुति में चेष्टा करता था ऐसा कहने से प्राण के कर्म का ग्रहण होने से सृष्टि के पहिले मानो प्राण था ऐसा सूचित होता है। इससे कोई समझ बैठे कि प्राण अज है, तो ऐसे विचार को दूर करने के लिये यहां यह अतिदेश (विशेष रूप से कथन) किया गया है।

उत्पत्ति के पूर्व प्राणों का अस्तित्व था, यह बात 'चेष्टा करता था' इस शब्द समूह से भी सूचित नहीं होती, क्योंकि वहाँ 'वात रहित' ऐसा भी विशेषण है। और 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' [मुण्ड० २ । १ । २] (वह प्राण रहित, मन रहित और शुद्ध है) इस श्रुति में मूल कारण प्राण आदि सब विशेष धर्मों से रहित है ऐसा बताया है। इसलिये उत्पत्ति के पहिले कारण का अस्तित्व बताने के लिये ही 'चेष्टा करता था' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है।

प्राणों को श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।' [छां० ५ । १ । १] (प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है) यह श्रुति का कथन है। प्राण ज्येष्ट इसलिये है कि वीर्य सिंचन काल से उसके व्यापारों का आरम्भ होता है। यदि उसका व्यापार वहाँ न हो तो योनि में सिंचित वीर्य ही विगड़ जायगा अथवा गर्भ की वृद्धि ही न होगी; परन्तु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के व्यापार कर्णविवर आदि स्थान बन जाने पर ही पाये जाते हैं, इसलिये उनको ज्येष्ट नहीं कहते। 'न वै शक्षा-मस्त्वदृते जीवितुम् [बृह० ६ । १ । १३] (तुझसे रहित

हम जी नहीं सकते) इस श्रुति से मुख्य प्राणों में अधिक गुण है, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है।

५ वायुक्रियाधिकरण । सू० ६-१२

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

वायुक्रिये [मुख्य प्राण] वायु रूप वा क्रिया रूप **न** नहीं है, **पृथक्** [उनका] अलग **उपदेशात्** कथन होने से।

अब आगे इस मुख्य प्राण का स्वरूप क्या है इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्ष—श्रुति प्रमाण से प्राण वायु रूप है ऐसा विदित होता है। श्रुति कहती है 'य प्राणः स वायुः स एष वायुः पंचविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः।' [इसका पूर्व भाग बृह० ३। १। ५ में है] (जो प्राण है वही वायु है, वह वायु हो प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, ऐसे पांच प्रकार का है। अथवा अन्य शास्त्रों के अभिप्रायानुसार सब इन्द्रियों का व्यापार ही प्राण है; क्योंकि 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' (इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति ही प्राण आदि पाँच वायु हैं) ऐसा अन्य शास्त्र कहते हैं।

समाधान—प्राणवायु भी नहीं हैं और इन्द्रियों का व्यापार भी नहीं है, क्योंकि दोनों का अलग अलग निर्देश मिलता है। 'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' [छां० ३। १८। ४] (प्राण ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, वह वायु रूप ज्योति से भासता है और तपता है) इस श्रुति में प्राण का वायु से अलग निर्देश किया है। यदि वह वायु ही होता तो वायु का वायु से पृथक् निर्देश नहीं हो सकता। वैसे

ही, इन्द्रियों के व्यापारों का भी पृथक् निर्देश किया गया है। वाक् आदि इन्द्रियों को गिनाकर श्रुति ने उनके स्थान में पृथक् प्राणों की गणना की है; क्योंकि व्यापार और उनका आश्रय इनमें भेद नहीं होता और यदि इन्द्रियों का व्यापार ही प्राण होता तो उनका अलग निर्देश न किया जाता। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः' [मुण्ड० २ । १ । ३] (उससे प्राण मन सब इन्द्रिय तथा आकाश, वायु उत्पन्न हुए) इत्यादि श्रुतियों में वायु और इन्द्रियों से पृथक् ऐसा प्राणों का उपदेश किया है, उसको भी ग्रहण करना चाहिये। दूसरे, सब इन्द्रियों का एक ही व्यापार संभव नहीं; क्योंकि एक एक इन्द्रिय का अलग व्यापार होता है और समुदाय तो कोई व्यापार नहीं करता।

यदि कहो कि पंजरचालन न्याय से ऐसा बन सकता है यानी जैसे एक पिंजरे में बैठे हुए ग्यारह पक्षी, सब अलग अलग व्यापार करते हुए भी वे सब मिल के पिंजरे को हिलाते हैं; वैसे ही, एक शरीर में रहने वाले ग्यारह प्राण, प्रत्येक अपना अपना पृथक् व्यापार करते हुए वे सब मिलकर प्राण नामक व्यापार करते हैं, तो वह ठीक नहीं है। उदाहरण में पक्षियों के अपने अपने पृथक् व्यापार पिंजरा हिलाने के योग्य ही होते हैं, इसलिये वे सब मिलकर पिंजरा हिलाते हैं यह कहना योग्य ही है; क्योंकि अनुभव वैसा ही है। परन्तु यहां पर श्रवण आदि के भिन्न व्यापारों के साथ मिलकर एक प्राण की यानी जीवन की क्रिया होती है, ऐसा कहना युक्त नहीं हैं; क्योंकि उसके लिये कोई प्रमाण नहीं हैं और श्रवणादि व्यापार तथा जीवन क्रिया दोनों अत्यन्त विजातीय हैं। वैसे ही, (श्रुति में) प्राणों की श्रेष्ठता की घोषणा तथा वाक् आदि इन्द्रियों की उसीसे

गौणता, ये बातें प्राण यदि केवल इन्द्रियों की वृत्ति रूप हो तो संभव नहीं होती। इसलिये प्राणवायु और इन्द्रियों के व्यापार से अन्य है, ऐसा सिद्ध हुआ।

कोई पूछे कि फिर 'यः प्राणः स वायुः' [बृ० ३ । १ । ५] (जो प्राण है वह वायु) ऐसा श्रुति क्यों कहती है? इसका उत्तर यह है कि वायु ही जब शरीर में पाँच प्रकार के विशेष रूप से अवस्थित होता है तव उसको प्राण कहते हैं; वह न तो कोई पृथक् तत्त्व हैं, न केवल वह वायु ही है। इसलिये इसका भेद दिखाने वाली और अभेद दिखाने वाली ऐसी दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं प्राप्त होता ॥ ९ ॥

शंका—इस अवस्था में जीव के समान इस शरीर में प्राण को भी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, क्योंकि, वह श्रेष्ठ है और वाक् आदि इन्द्रिय उससे गौण हैं, ऐसा माना गया है। वैसे ही, श्रुति में प्राण की अनेक प्रकार की विभूतियाँ बताई गई हैं; जैसे, 'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन्संवृङ्क्ते प्राण इतरान्प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्।' (वाक् आदि इन्द्रिय सो जाँय तब अकेला प्राण जागता है। मृत्यु प्राण ही को लेता है, प्राण संहारक है, वह वाक् आदि का संहार करता हैं। तथा जैसे माँ अपने बच्चों की रक्षा करती है वैसा वह अन्य प्राणों की रक्षा करता है)। इससे जीव के समान प्राण को भी स्वातंत्र्य प्राप्त होता है।

इस शंका का परिहार करते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः ॥ १० ॥

तु परन्तु [प्राण का] **तत्सहशिष्टयादिभ्यः** उन [चक्षु आदि] के साथ कथन है इत्यादि कारणों से [मुख्य प्राण]

चक्षुरादिवत् चक्षु आदि के समान [जीवात्मा का साधन है, ऐसा सिद्ध होता] है।

सूत्रस्थ 'तु' (परन्तु) शब्द प्राण को जीव के सदृश स्वातन्त्र्य प्राप्ति का निषेध करता है। जैसे, राजा की प्रजा के समान चक्षु आदि जीवात्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के साधन हैं, वे स्वतन्त्र नहीं हैं; वैसे ही, मुख्य प्राण भी राजा के मंत्री के समान जीवात्मा के सब काम करता होने से वह उसका साधन ही है, स्वतन्त्र नहीं है। क्यों? उसका उनके साथ ही निर्देश किया गया है इत्यादि कारणों से यही विदित होता है। (छाँदोग्य० ५।१।४ में) प्राण के संवाद में प्राण का उन्हीं के यानी चक्षु आदि के साथ ही कथन किया है। 'बृहत्साम और रथंतर साम' इत्यादि कथन के समान समान धर्म वालों का ही कथन साथ साथ हो सकता है। सूत्र का आदि शब्द प्राण संहत है, अचेतन है इत्यादि कारणों से उसके स्वातंत्र्य का निवारण करता है॥ १०॥

शंका—यदि चक्षु आदि के समान प्राण भी जीव का एक करण यानी साधन है ऐसा मानें तो रूप आदि के समान उसका एक पृथक् विषय भी मानना पड़ेगा; क्योंकि रूप आदि के देखने के व्यापार ही से चक्षु आदि जीव के साधन बनते हैं। जिनके लिये एकादश प्राणों को माना है, वे रूप देखना आदि कार्य समूह ग्यारह ही गिनाये जाते हैं; परन्तु जिसके लिये बारहवां प्राण माना जाय, ऐसा बारहवा कार्य समूह नहीं मिलता।

इसका उत्तर देते हैं—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ॥ ११ ॥

च और [प्राण] **अकरणत्वात्** इन्द्रिय न होने से **दोषः**

दोप **न** नहीं प्राप्त होता; **ही** क्योंकि **तथा** [मुख्य प्राण का जो कार्य है] वह **दर्शयति** [श्रुति ही] बताती है।

प्रथम तो मुख्य प्राण का एक स्वतंत्र विषय मानना पड़ेगा, यह दोष प्राप्त नहीं होता; क्योंकि प्राण इन्द्रिय नहीं है। चक्षु आदि के समान विषय के भेद से प्राण एक करण है ऐसा नहीं माना जाता। परन्तु इससे यह बात नहीं कि मुख्य प्राण के लिये कोई कार्य ही न हो; क्योंकि प्राण के संवाद में श्रुति अन्य प्राणों से न बन सके ऐसा मुख्य प्राण का विशेप कार्य बताती है। जैसे, 'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' [छां० ५।१।६] (अपने में श्रेष्ठ कौन है, इस विषय में प्राणों ने विवाद किया) ऐसा उपक्रम करके 'यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' [छां० ५।१।७] (जिसके निकल जाने से शरीर अत्यन्त बुरे से भी बुरा दीखने लगे वह तुम में श्रेष्ठ है) ऐसा प्रस्ताव करके वाक् आदि प्रत्येक के निकल जाने से केवल उसी के व्यापार के अतिरिक्त पूर्ववत् जीवन रहता है, यह बताकर जब प्राण निकलने को हुआ तब वाक् आदि सब शिथिल होने लगे, इतना ही नहीं शरीर छूटने का प्रसंग आया, ऐसा बताकर श्रुति यही दिखाती है कि शरीर और इन्द्रियों की स्थिति प्राण ही पर निर्भर है। 'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पंचधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि।' [प्र० २। ३] (उनसे श्रेष्ठ प्राण बोला, तुम मोह को प्राप्त मत हो। मैं ही अपने पांच विभाग करके उनसे शरीर को अवस्थित रखता हूँ), यह श्रुति उसी अर्थ को बताती है। और 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' [बृह० ४।३।१२] (इस क्षुद्र देह की वह प्राण से रक्षा करता है), यह श्रुति चक्ष आदि

सोये हुए हों तब शरीररक्षा इस प्राण से होती है यह बताती है। 'यस्मात्कस्मादंगात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति ।' [बृ० १।३।१९] (जिस किसी अंग में से जब प्राण निकल जाता है, तब वह सूख जाता है), इस श्रुति में शरीर का तथा इन्द्रियों का पोषण प्राण ही से होता है यह बताया है। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि।' [प्र० ६।३] (शरीर में से किसके निकल जाने से मुझे निकल जाना पड़ेगा और किसके रहने से मैं रहूँगा) तथा 'स प्राणमसृजत' [प्र० ६।४] (उसने प्राण उत्पन्न किया) इनसे श्रुति जीव के उत्क्रान्ति और शरीर में रहने का हेतु प्राण है यह बताती है ॥ ११ ॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

[श्रुति में प्राण को] **मनोवत्** मन समान **पञ्च वृत्तिः** पाँच वृत्ति वाला **व्यपदिश्यते** कहा है।

इसलिये भी मुख्य प्राण का विशेष कार्य है कि श्रुति में 'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः ।' [बृह० १।५।३] (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) इस प्रकार उसको पाँच वृत्ति (व्यापार) वाला कहा है। यह वृत्ति की भिन्नता कार्य के भेद से है। प्राण का आगे जाना वृत्ति है और उच्छ्वास आदि उसके कार्य हैं। अपान का पीछे जाना व्यापार या वृत्ति है और निश्वास आदि उसके कार्य हैं। व्यान उनके सन्धि में रहता है और वीर्य यानी शक्ति के काम उससे होते हैं। उदान का ऊपर जाना व्यापार है और मृत्यु का वह हेतु है। समान सब अंगों में एकसा रहता है और अन्नके रस को शरीर भर में पहुँचाता है। इस

प्रकार मन के समान प्राण की पाँच वृत्तियां हैं यानी जैसे मन की पाँच वृत्तियाँ हैं वैसे प्राण की भी हैं। श्रोत्र आदि के द्वारा शब्द आदि विषयों के लिये मन की पांच वृत्तियां होती हैं वे प्रसिद्ध हैं। परन्तु श्रुति में काम संकल्प आदि जो मन के व्यापार कहे हैं उनका यहां परग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि वैसा करने से वृत्तियों की संख्या पाँच से अधिक हो जायगी।

शंका—यहां भी श्रोत्र आदि की अपेक्षा न रखने वाली और भूत भविष्य आदि को विषय करने वाली और वृत्ति होती ही है, तो इस प्रकार मन की पाँच से अधिक वृत्तियाँ हो ही जाती हैं।

समाधान—यदि ऐसा है तो 'जहाँ अन्य मत का निषेध नहीं है, वहाँ वह मान्य समझना चाहिये' इस न्याय से योग शास्त्र में प्रसिद्ध 'प्रमाण विपर्यय विकल्पनिद्रा स्मृतयः' [यो० सू० १।६] (प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति) इन वृत्तियों का ग्रहण करना चाहिये। अथवा, प्राण की वृत्तियां बहुत होती हैं, इसी निमित्त मन का उदाहरण दिया है, ऐसे समझना चाहिये। जीव का प्राण साधन है यह भी भाव 'प्राण मन के समान पाँच वृत्ति वाला है' इस पद से निकालना चाहिये ॥ १२ ॥

६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण।

अणुश्च ॥ १३ ॥

च और अणुः [मुख्य प्राण] अणु है।

इतर प्राणों के समान मुख्य प्राण अणु है ऐसा जानना चाहिये। परन्तु यहां पर अणु का अर्थ सूक्ष्म और परिच्छेद

वाला ऐसा है, परमाणु के समान नहीं; क्योंकि वह अपनी पांच वृत्तियों से या व्यापारों से शरीर भर में व्याप्त रहता है। प्राण सूक्ष्म इसलिये है कि वह मरते समय पास रहने वालों को शरीर से निकलते हुए दिखाई नहीं देता और वह परिच्छिन्न इसलिये है कि श्रुति में उसके मरण समय निकल जाने का और [श्वास प्रश्वास रूप से] गमन और आगमन का निर्देश है।

यदि कहो कि 'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण।' [बृह० १ । ३ । २२] (वह यानी प्राण चींटी के समान, मच्छर के समान, हाथी के समान, इन तीनों लोकों के समान तथा सबके समान है) इत्यादि प्रकार की श्रुतियों में प्राण विभु है ऐसा कथन है; तो उसका उत्तर यह है कि समष्टि रूप अधिदैविक ऐसे हिरण्यगर्भ के प्राण के भाव ही से श्रुति में प्राण को विभु या व्यापक कहा है, अध्यात्मिक यानी शरीरस्थ प्राण के भाव से नहीं। इसके अतिरिक्त, श्रुति में जो, 'वह चींटी के समान है' इत्यादि रूप से उसका समानता से निर्देश है वह प्रत्येक के शरीर में रहे हुए परिच्छिन्न प्राण ही को बताता है। इसलिये यह दोष नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥

७ ज्योतिराद्यधिकरण। सू० १४–१६

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

तु परन्तु [प्राण] **ज्योतिराद्यधिष्ठानं** ज्योति आदि से अधिष्ठित है; **तदामननात्** क्योंकि वैसा श्रुति कहती है।

अब ये प्राण अपने सामर्थ्य ही से अपने अपने कार्य करते हैं अथवा किसी देवता से अधिष्ठित होकर अपने कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं, इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्ष—अपने कार्य करने की शक्ति उनमें होती है, इसलिये वे अपनी ही महिमा वा सामर्थ्य से कार्य में प्रवृत्त होते हैं। और यदि ऐसा माने कि देवताओं से अधिष्ठित होकर प्राणों की प्रवृत्ति होती है तो उस अधिष्ठाता देवता को ही भोक्तृत्व की प्राप्ति होगी और जीव के भोक्तृत्व का लय हो जायगा। इसलिये अपनी सामर्थ्य ही से इनकी प्रवृत्ति होती है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु०' इस सूत्र से देते हैं।

सूत्र स्थित 'तु' यानी परन्तु शब्द से पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं (ऐसा सूचित करते हैं)। वाक् आदि इन्द्रिय समूह ज्योति आदि से यानी अग्नि आदि इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं से अधिष्ठित होकर अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है, ऐसी भाष्यकार प्रतिज्ञा करते हैं। इसका कारण यह बताते हैं कि श्रुति में वैसा प्रतिपादन किया है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' [ऐत० २ । ४] (अग्नि ने वाक् रूप से प्रवेश किया), इत्यादि श्रुति में वैसा ही कथन है। यहाँ अग्नि का वाक् रूप होकर मुख में प्रवेश करना उसका देवता रूप से अधिष्ठित होना मान कर ही कहा गया है; क्योंकि इस देवता सम्बन्ध को छोड़कर अग्नि का वाणी से और मुख से कुछ भी अन्य सम्बन्ध नहीं दीखता। इसी प्रकार 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' [ऐत० २ । ४] (वायु प्राण रूप होकर नासिका में प्रविष्ट हुआ), इत्यादि श्रुतियों को समझना चाहिये। वैसे ही अन्यत्र भी 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च।' [छाँ० ३ । १८ । ३] (वाणी ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, वह अग्नि रूप ज्योति से प्रकाशती है और तपती है)

इत्यादि श्रुतियों में वाक् आदि के सम्बन्ध में अग्नि का ज्योति रूप से निर्देश होने से यही अर्थ दृढ़ होता है। 'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' [बृह० १ । ३ । १२] (उसने यानी प्राण ने प्रथम वाणी ही को मुक्त किया। जब वह मृत्यु से—झूठ बोलने के पातक रूप मृत्यु से—मुक्त हुई तब अग्नि रूप हुई) इत्यादि श्रुतियों में वाक् आदि का अग्नि आदि के भाव को प्राप्त होना कहा है, इससे इसी अर्थ का द्योतन होता है। सर्वत्र अध्यात्मिक और अधिदैविक विभाग से वाक् आदि और अग्नि आदि का निर्देश इसी सम्बन्ध को लेकर होता है। स्मृति में भी 'वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः । वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदेवतम् ॥' (वाणी अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और वहां अग्नि अधिदैवत है, ऐसा तत्त्वदर्शी ब्राह्मण कहते हैं।) इत्यादि कथन से वाक् आदि का अग्नि आदि से अधिष्ठित होना सविस्तार वर्णन किया है। पूर्वपक्षी ने कहा है कि इन्द्रिय अपनी कार्य शक्ति से युक्त होने से अपनी महिमा यानी सामर्थ्य ही से वे कार्य में प्रवृत्त होंगे, सो युक्त नहीं है। क्योंकि, गाड़ी आदि में चलने की शक्ति होते हुए भी बैल आदि से अधिष्ठित होने पर ही उसकी प्रवृत्ति देखने में आती है। यद्यपि प्रवृत्ति दोनों तरह से बन सकती है तो भी श्रुति प्रमाण से देवताओं से अधिष्ठित ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, ऐसा सूत्रकार निश्चय करते हैं ॥ १४ ॥

अब 'अधिष्ठित होने वाले देवताओं को ही भोक्तृत्व प्राप्त होगा और जीव भोक्ता नहीं रहेगा।' इस पूर्वपक्ष के कथन का परिहार करते हैं—

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

[प्राणों का] **प्राणवता** प्राण वाले से [सम्बन्ध है ऐसा] **शब्दात्** श्रुति प्रमाण से विदित होता है]।

यद्यपि प्राणों के अधिष्ठाता देवता हैं तो भी इन प्राणों का प्राणवान् से यानी शरीर और इन्द्रियों के संघात का स्वामी जो जीवात्मा है उसी से सम्बन्ध है ऐसा श्रुति से जाना जाता है। 'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्।' [छां० ८।१२।४] (अब जिस आकाश में इस चक्षुरिन्द्रिय ने प्रवेश किया है, वहाँ चाक्षुष पुरुष है और उसके देखने के लिये यह चक्षु इन्द्रिय है। इसी प्रकार मैं इसको सूंघू ऐसा जो जानता है वह आत्मा है और उसीके सूँघने के लिये घ्राण इन्द्रिय है), इत्यादि श्रुति जीवात्मा ही से प्राण का सम्बन्ध है ऐसा उपदेश करती है। इसके अतिरिक्त इस शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय का अभिमानी देवता अलग अलग होने से उनको भोक्तृत्व बन नहीं सकता और उनसे प्रतिसंधान यानी कर्मफल का सम्बन्ध असम्भव होने से एक जीवात्मा ही भोक्ता है ऐसा विदित होता है ॥ १५ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

च और **तस्य** उसके (जीव के) **नित्यत्वात्** नित्य होने से [प्राणों का उसीसे सम्बन्ध है]।

इस शरीर में जीवात्मा भोक्ता रूप से नित्य है; क्योंकि इसी अवस्था में उसको पुण्यपाप का लेप और उसके सुखदुःख

का भोग संभव है। देवता भोक्ता नहीं वन सकते; क्योंकि वे श्रेष्ठ ऐश्वर्य के स्थान में रहने वाले होने से इस क्षुद्र शरीर में भोक्ता नहीं वनते। श्रुति भी कहती है कि पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति' [बृ० १।५।३] (इनके प्रति पुण्य ही जाता है इन देवों को पाप छूता ही नहीं)। तथा प्राणों का जीवात्मा से नित्य सम्वन्ध है, क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रमति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।' [बृह० ४।४।२] (जीवात्मा के शरीर से निकल जाने के साथ मुख्य प्राण उसके पीछे जाता है और मुख्य प्राण के पीछे अन्य प्राण जाते हैं), इत्यादि श्रुतियों से जीव के उत्क्रमण के साथ प्राण उसका अनुसरण करते हैं, ऐसा देखा जाता है। इसलिये इन्द्रियों के नियामक देवता होते हुए भी जीवात्मा का भोक्तापन कहीं चला नहीं जाता। देवता केवल इन्द्रियों के साथ सम्वन्ध रखते हैं, भोक्तृत्व के साथ इनका कोई सम्वन्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

८ इन्द्रियाधिकरण। सू० १७–१९

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥

श्रेष्ठात् मुख्य प्राण से अन्यत्र अन्य (अवशिष्ट) ते वे (वाक् आदि प्राण) इन्द्रियाणि इन्द्रिय [कहलाते हैं] तद्व्यपदेशात् क्योंकि [श्रुति में] उनका [वैसा] कथन है।

मुख्य प्राण एक है और इतर ग्यारह प्राण हैं ऐसा कहा है। इसमें यह सन्देह उठता है कि क्या मुख्य प्राण ही के व्यापार भेद रूप अन्य प्राण हैं, वा तत्त्व रूप से वे उससे भिन्न कोई पदार्थ हैं? अव यहां क्या प्रतीत होता है?

पूर्वपक्ष—मुख्य प्राणों के समान अन्य भी उसी के व्यापार भेद हैं। श्रुति में इसके लिये प्रमाण है। श्रुति में मुख्य प्राण और अन्य प्राणों का एक साथ कथन करके अन्य प्राण मुख्य प्राणरूप ही हैं ऐसा कहा है। जैसे, 'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' [बृ० १।५।२१] (अब हमको उसीका रूप यानी मुख्य प्राण का रूप प्राप्त हो, ऐसी इतर प्राणों ने प्रार्थना की और उन सबको मुख्य प्राण का रूप प्राप्त हुआ)। सबके लिये 'प्राण' यह एक ही शब्द होने से वे सब एक ही हैं, ऐसा निश्चय होता है। यदि ऐसा न हो तो प्राण शब्द के अनेक अर्थ मानने पडेंगे, जो ठीक नहीं है। अथवा, उसका एक अर्थ प्रधान तथा अन्य अर्थ लाक्षणिक है, ऐसा मानना पड़ेगा। इसलिये जैसे मुख्य प्राण की प्राण आदि पांच वृत्तियां हैं वैसे ही, वाणी आदि ग्यारह वृत्तियां उसीकी हैं।

समाधान—वाक् आदि प्राण से भिन्न ऐसे पदार्थ हैं; क्योंकि उनका पृथक् रूप से व्यवहार होता है इसलिये। वह पृथक् व्यवहार कौन सा ? प्रकृत प्राणों में से मुख्य को छोड़कर शेष ग्यारह को इन्द्रिय कहते हैं, इस प्रकार का कथन श्रुति में मिलता हैं, जैसे, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' [मुं० २।१।३] (इससे प्राण, मन और इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं) इस प्रकार के प्रसंगों में प्राण तथा इन्द्रियों का पृथक् निर्देश किया हुआ होता है।

यदि कोई कहे कि 'मन तथा इन्द्रिय' इस प्रकार पृथक् निर्देश ऊपर की श्रुति में किया हुआ होने से प्राण के समान मन को भी इन्द्रियों से पृथक् मानना पड़ेगा; तो वह ठीक है। परन्तु, स्मृति में ग्यारह इन्द्रियों का प्रतिपादन है और उसमें

मन को भी इन्द्रिय रूप से ही गिना गया है; प्राण को इन्द्रिय न श्रुति कहती है न स्मृति। यह पृथक् निर्देश यदि वे तत्त्व से भिन्न हों तब ही युक्त हो सकते हैं। उनका तत्त्व यदि एक ही हो तो प्राण एक होते हुए वह कभी इन्द्रिय संज्ञा को प्राप्त होता है और कभी नहीं होता, ऐसा कहना पड़ेगा जो परस्पर विरुद्ध है। इसलिये इतर इन्द्रिय रूप प्राण मुख्य प्राणसे पृथक् तत्त्व हैं ॥१७॥

इतर प्राण भिन्न तत्त्व होने में और क्या प्रमाण है? कहते हैं–

॥ भेदश्रुतेः १८ ॥

[वाक् आदि मुख्य प्राण से पृथक् तत्त्व हैं **भेदश्रुतेः** क्योंकि श्रुति में उनका पृथक् निर्देश किया है।

श्रुति में सर्वत्र वाक् आदि से प्राण का पृथक् निर्देश किया है। जैसे, 'ते ह वाचमूचुः' [बृह० १।३।२] (वे देव वाणी से बोले) ऐसा उपक्रम करके फिर उस वाक् आदि का असुरों ने पाप से विध्वंस किया ऐसा कहकर वह वाक् आदिका प्रकरण समाप्त करके 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' [बृह० १।३।७] (वे इस मुख में रहनेवाले प्राण से बोले) इस वाक्य से असुरों का नाश करनेवाले मुख्य प्राणका कथन किया है। इसी प्रकार, 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत।' [बृ० १।५।३ (उसने यानी ब्रह्मदेव ने अपने लिये मन, वाणी और प्राण उत्पन्न किये) इत्यादि भेद कथन करने वाली श्रुतियां उदाहरण रूप से दे सकते हैं। इसलिये भी इतर प्राण मुख्य प्राण से पृथक् तत्त्वरूप हैं ॥ १८ ॥

उनके भिन्न तत्त्व होने में और क्या प्रमाण है ? कहते हैं—

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

वैलक्षण्यात् विजातीय स्वरूप है **च** (इसलिये) भी [मुख्य प्राण से इतर प्राण पृथक् है ऐसा सिद्ध होता है]।

मुख्य प्राण और इतर प्राण इनके स्वरूप विजातीय हैं। वाक् आदि इन्द्रिय सोये हुए होते हैं तब एक मुख्य प्राण जागता है, उसी एक को मृत्यु नहीं ग्रासता परन्तु और मृत्यु से ग्रसे हुए हैं। उसी एक की स्थिति और उत्क्रान्ति शरीर की स्थिति और मृत्यु का कारण है, इन्द्रियों की स्थिति और मृत्यु का का कारण नहीं है। वैसे ही, विषय प्रत्यक्ष होने का हेतु इन्द्रिय है प्राण नहीं है। इस प्रकार प्राण और इन्द्रियों के स्वरूप में बहुत भेद है। इससे भी इन्द्रिय मुख्य प्राण से भिन्न पदार्थ है ऐसा सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष में जो कहा था कि, त 'एतस्यैव सर्वे रूपम- भवन्' [बृ० १।५।२१](उन सबको इसका यानी मुख्य प्राण का स्वरूप प्राप्त हुआ) इस श्रुतिसे इन्द्रियां प्राण रूप ही हैं, तो कहते हैं कि वह ठीक नहीं है। वहाँ भी आगे पीछे का सम्बन्ध देखते हुए उस श्रुति से इनके बिजातीयता का ही बोध होता है । उस श्रुति में 'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' [बृ० १।५।२१] (मैं बोलती रहूँगी, ऐसा वाणी ने निश्चय किया)इस प्रकार वाक् आदि इद्रियों का क्रम से कथन करके 'तानि मृत्युः श्रमोभूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्य- त्येव वाक्' [बृ० १।५।२१] (उनको मृत्यु ने श्रमरुप होकर घेरा, इसलिये वाणी श्रमित होती ही है) इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रिय श्रमरूप मृत्यु से ग्रसे हुए हैं ऐसा कह कर, 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः' बृह० १।५।२१]

(अब यह जो मुख्य प्राण है उसको हीं केवल मृत्यु नहीं प्राप्त हुआ) इस प्रकार मृत्यु से न ग्रसे हुए प्राण का पृथक् कथन है। और 'अयं वै नः श्रेष्ठः' [बृह० १ । ५ । २१] (यही हम में श्रेष्ठ है) इस वाक्य से उसका श्रेष्ठत्व निश्चित किया है। इसलिये, वाक् आदि को जो गति मिलती है वह प्राण के अधीन है इतने ही है, अर्थ में वाक् आदि को मुख्य प्राण का स्वरूप प्राप्त होता है, अर्थात् वे उसके साथ तादात्म्य भाव को नही प्राप्त होते ऐसे समझना चाहिये। इस प्राण शब्द का इन्द्रिय यह अर्थ लाक्षणिक है ऐसा सिद्ध होता है। इसी के अनुसार श्रुति कहती है कि 'त एतस्यैव रूपमभवन्। तस्मादेत ऐतेनाख्यायते प्राणाः।' [बृह० १ । ५ । २१] (इस सत्र को इसका यानी मुख्य प्राण ही का रूप प्राप्त हुआ इसीलिये उनको इसके नाम से प्राण कहते हैं) इस श्रुति में प्राण शब्द का मुख्य-प्राण यही मुख्य अर्थ है तथा उसका इन्द्रिय यह अर्थ लाक्षणिक ही है यह बताया है। इससे इन्द्रिय प्राण से तत्त्वतः भिन्न हैं, ऐसा सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

९ संज्ञामूर्तिक्लृप्ति अधिकरण । सू० २०–२२

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

तु परन्तु **संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः** नाम रूप की रचना **त्रिवृत्कुर्वतः** त्रिवृत्त करने वाले का ही [कार्य] है; **उपदेशात्** क्योंकि श्रुति में वैसा ही कहा है।

सत् को यानी ब्रह्म की प्रक्रिया में तेज, जल और पृथ्वी इनकी उत्पत्ति कहकर आगे कहा है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-

त्राणि।' [छां० ६।३।२] (ऐसे इस देवता ने ईक्षण किया 'अब इन तीन देवताओं में मैं जीव रूप से प्रविष्ट होकर नाम रूप को उत्पन्न करूँ और इन तीनों में से प्रत्येक को त्रिवृत्त करूँ") यहां पर सन्देह होता है कि इस नाम रूप को उत्पन्न करने वाला जीव है या ईश्वर।

पूर्वपक्ष—नाम रूप को उत्पन्न करने वाला जीव ही है। क्योंकि, उक्त श्रुति में 'अनेन जीवात्मना' यानी 'जीव रूप से' ऐसा विशिष्ट रूप से कहा हुआ है। जैसे व्यवहार में 'गुप्तचर द्वारा शत्रुओं के सैन्य में प्रविष्ट होकर मैं सैन्य गिनता हूं' इस प्रकार के प्रयोग में उस सैन्य का वास्तविक गिनने वाला गुप्तचर ही है। राजा केवल प्रयोजक कर्ता होने से वह 'मैं गिनता हूँ' ऐसा उत्तम पुरुषात्मक प्रयोग करके उस क्रिया का अपने में आरोप करता है। इसी प्रकार नाम रूप का वास्तविक उत्पत्ति कर्ता जीव ही है, परमात्मा प्रयोजक कर्ता होने से वह 'मैं उत्पन्न करूँ" ऐसा उत्तम पुरुषात्मक प्रयोग करके उत्पत्ति का अपने में आरोप करता है। वैसे ही, लकड़ी के खिलौने के हाथी, घोड़ा आदि नाम रखने वाला और घट, शराव (कूजा) आदि को उत्पन्न करने वाला जीव ही होता है, ऐसा देखने में आता है। इसलिये इस (श्रुति में कथित) नाम रूप का उत्पत्तिकर्ता भी जीव ही होना चाहिये।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु०' इस सूत्र से देते हैं। 'तु' यानी परन्तु शब्द से पूर्वपक्ष का उत्तर सूचित करते हैं।

सँज्ञा मूर्ति क्लृप्ति का अर्थ है नाम रूप की उत्पत्ति। 'त्रिवृत् करने वाला' यह शब्द परमेश्वर का द्योतक है, क्योंकि

त्रिवृत्करण का कर्ता परमेश्वर है, इस बातका श्रुति में, बिना किसी अपवाद के प्रतिपादन किया है। जो यह अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत की नाम रूप रचना है तथाजो कुश, कास, पलाश (ढाक) आदि में तथा पशु, हिरन, मनुष्य आदि में प्रत्येक जाति और व्यक्ति के अनुरूप अनेक प्रकार की नाम रूप रचना है, वह तेज, जल और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ही की की हुई होनी चाहिये, क्योंकि श्रुति वैसा ही प्रतिपादन करती है। 'सेयं देवतैक्षत' (ऐसे उस देवता ने ईक्षण किया) ऐसा प्रारंभ करके 'व्याकरवाणि' (उत्पन्न करूं) ऐसा उत्तम पुरुषात्मक प्रयोग करके श्रुति यहां पर परब्रह्म ही को कर्ता बताती है। यदि कहो कि 'जीव रूप से' ऐसा विशिष्ट रूप से कथन होने से उसका कर्ता जीव ही है ऐसा निश्चय होता है' तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि 'जीव रूप से' इन शब्दों का 'प्रविष्ट होकर' ये शब्द निकट होने से उन्हीं से सम्बन्ध है, 'उत्पन्न करूं' इन शब्दों से उनका सम्बन्ध नहीं है। यदि 'उत्पन्न करूं' इन शब्दों से उनका सम्बन्ध हो तो यहां पर देवता के सम्बन्ध में जो उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है वह औपचारिक (गोण) है ऐसी कल्पना करनी पडेगी। पर्वत, नदी, समुद्र आदि नानाविध नाम रूप उत्पन्न करने की अनीश्वर जीव में सामर्थ्य भी नहीं है और जो कुछ थोड़ा सामर्थ्य है वह भी ईश्वर के अधीन ही है। जेसा राजा का दूत राजा से भिन्न होता है वैसा जीव ईश्वर से वास्तव में भिन्न भी नहीं है, इसीलिये श्रुति में 'जीव रूप से' ऐसा प्रयोग है, क्योंकि जीव भाव केवल उपाधि के निमित्त ही है। इसलिये उस जीव की की हुई नाम रूप की उत्पत्ति भी ईश्वर ही की कृति होती है तथा नाम रूप की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर ही है यही सब उपनिषदों का

सिद्धान्त है। 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' [छां० ८।१४।१] (आकाश ही नाम रूप का प्रकाशक है) आदिश्रुतियां यही कहती हैं। इसीलिये नाम रूप की उत्पत्ति त्रिवृत करने वाले परमेश्वर ही का काम है।

यहां पर त्रिवृत्करण पूर्वक नामरूप की उत्पत्ति से भाव है। क्योंकि, तेज, जल और पृथ्वी इनकी उत्पत्ति कहने ही से उनके नामरूप की उत्पत्ति का कथन हो जाता है। यह त्रिवृत्करण अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत इनमें श्रुति बताती है, जैसे, यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्या' [छाँ० ६।४।१] (अग्नि में जो लाल रूप है वह तेज का है, जो शुभ्र है वह जल का और जो काला है वह पृथ्वी का है) इत्यादि। यहां पर 'अग्नि' इस रूप की उत्पत्ति होती है और रूप की उत्पत्ति होने पर विषय प्राप्त होने से उसके लिये अग्नि इस नाम की उत्पत्ति हुई। यही प्रकार सूर्य, चन्द्र, विद्युत आदि में भी समझना चाहिये। इस अग्नि आदि के उदाहरण से पृथ्वी, जल और अग्नि इन तीनों प्रकार के द्रव्यों का समान रूप से त्रिवृत्करण होता है, यह उसीसे भाव निकलता है। क्योंकि (तीनों में) उपक्रम और उपसंहार एक से ही हैं। जैसे, 'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' [छाँ० ६।३।४] (इन तीनों देवताओं में से प्रत्येक त्रिवृत् होता है) इस प्रकार (तीनों के लिये) एकसा उपक्रम है। तथा 'यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपं' [छाँ० ६।४।६] (जो लालसा था वह तेज का रूप है) ऐसा प्रारम्भ करके, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समासः' [छा० ६।४।७] (जो अज्ञात सा दीखता है वह इन्हीं देवताओं का समूह है) यहाँ तक जो उपसंहार किया है वह भी (तीनों के लिये) समान ही है॥ २०॥

वाहर त्रिवृत्करण को प्राप्त हुए इन तीन देवताओं के शरीर में फिर और त्रिवृत्करण कहा है; जैसे, 'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' [छां० ६ । ४ । ७] (ये तीन देवता पुरुष को प्राप्त होकर प्रत्येक त्रिवृत होते हैं)। (त्रिवृत्करण सम्वन्धी) कुछ दोषों की शंका होती है उन दोषों के परिहारके हेतु सूत्रकार जैसा श्रुति में आता है वैसा त्रिवृत्करण लिखते हैं—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

यथाशब्दम् श्रुति के कथनानुसार मांसादि मांस आदि (कार्य) भौमम् पार्थिव हैं इतरयोः और दोनों के [कार्य] च भी [वैसे ही समझने चाहिये]।

त्रिवृत्करण किये हुए पृथ्वी का पुरुष उपभोग करता है तव उससे मांस आदि कार्य, श्रुति में कहा है वैसे, उत्पन्न होते हैं। श्रुति कहती है:—'अन्नमशितं त्रिधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठ स्तन्मनः' [छां० ६।५।१] (भोजन किये हुए अन्न के तीन भाग होते हैं। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है उसका पुरीष यानी मल वनता है, जो मध्यम होता है उससे मांस वनता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है उससे मन वनता है)। व्रीहि, जौ आदि अन्न के रूप से त्रिवृत्करण की पृथ्वी का ही भोजन किया जाता है, यह इस श्रुति का अभिप्राय है। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह मल रूप से शरीर के वाहर निकल जाता है, जो मध्यम यानी साधारण स्थूल भाग है वह शरीर में मांस की वृद्धि करता है और जो अत्यंत सूक्ष्म है वह मन वनता है। इसी प्रकार और दोनों के यानी जल और तेज के कार्य (ऊपर दी हुई)

श्रुति के अनुसार ही समझ लेना चाहिये। मूत्र, लोहित (खून) और प्राण जल के कार्य हैं तथा अस्थि, मज्जा और वाणी ये तेज के कार्य हैं ॥ २१ ॥

पूर्वपक्ष—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत' [छां० ६।३।४] उनमें से प्रत्येक का फिर त्रिवृत्करण किया) इस सामान्य श्रुति से ही सब भूत तथा उनके कार्यों का त्रिवृत्करण कहा गया है तब 'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' (यह तेज, यह जल, यह अन्न) ऐसा विशेष प्रकार से व्यवहार किसलिये किया गया है ? वैसे ही, 'अध्यात्ममिदमन्नस्याशितस्य कार्यं मांसादि। इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि। इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि, (शरीर का मांस भोजन किये हुये अन्न का कार्य है, लोहू आदि पिये हुए जल के कार्य हैं, अस्थि आदि भक्षण किये हुये तेज का कार्य है) इस प्रकार का व्यवहार (आगे जाकर श्रुति ने) किस लिये किया है ?

सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

तु परन्तु वैशेष्यात् विशेषता के कारण (उनको) तद्वादः उनके नाम मिलते हैं, तद्वादः उनके नाम मिलते हैं।

सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वपक्ष के दोषों की निवृत्ति करता है। विशेष के भाव को वैशिष्य या विशेषता कहते हैं, उसका अर्थ है अधिकता। त्रिवृत्करण सर्वत्र होते हुये भी कहीं किसी मूल भूत की विशेषता यानी अधिकता देखने में आती है। जैसे, अग्नि में तेज की अधिकता, जल में जलतत्त्व की विशेषता तथा पृथ्वी में अन्न की विशेषता होती है। यह त्रिवृत्करण व्यवहार की सिद्धि के लिए है। यदि तीन लड़ों की बटी हुई रस्सी के समान वे एक

से होजाँय तो इन भूतों का जो पृथक् व्यवहार देखने में आता है वह सिद्ध नही होगा। अर्थात् सबका त्रिवृत्करण होते हुए भी भूत तथा उनके कार्य रूप विषयों को तेज, जल और पृथ्वी, ये नाम उन तत्त्वों की उनमें अधिकता होने ही से मिलते हैं, यह ठीक ही है। 'तद्वादस्तद्वादः' यह द्विरुक्ति अध्याय की परिसमाप्ति द्योतक है॥ २२॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के द्वितीय अध्याय का चतुर्थ पाद
समाप्त हुआ।

* द्वितीय अध्याय समाप्त *

तृतीय अध्याय प्रथम पाद ।

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण । सू० १–७

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः
प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ उसके (पूर्व देह से) अन्य की (अन्य देह की) प्राप्ति में [जीव] **संपरिष्वक्तः** [देह के बीज रूप सूक्ष्म भूतों से] वेष्टित [होकर ही] **रंहति** जाता है, [ऐसा] **प्रश्ननिरूपणाभ्याम्** प्रश्न और निरूपण द्वारा [प्रतीत होता है]।

दूसरे अध्याय में उपनिषदों में प्रतिपादन किये हुए ब्रह्म निदर्शन का स्मृति और न्याय (युक्ति) से जो विरोध प्राप्त होता है, उसका परिहार किया तथा अन्य मत किस प्रकार इष्ट नहीं है उसका सविस्तार वर्णन किया । वैसे ही उसमें श्रुति में जो (परस्पर) विरोध है उसका भी जहाँ निराकरण किया है वहाँ कहा है कि जीव के अतिरिक्त और जीव के साधनभूत जो तत्त्व हैं, वे सब ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। अब इस तीसरे अध्याय में [प्राण, इंद्रियादि] साधनों से युक्त जीव की संसार में कैसी २ गति होती है, उनकी भिन्न २ अवस्थाएं, उसकी ब्रह्म के साथ तत्त्व से एकता, विद्या भिन्न २ हैं वा एक, गुणों का (सर्वत्र) ग्रहण वा अग्रहण, सम्यक् ज्ञान से पुरुषार्थ की सिद्धि, सम्यक् ज्ञान के साधन भूत ऐसे विधि के प्रकार तथा मोक्ष रूप फल प्राप्ति का अनियम, इतने विषय निरूपण किये जायँगे । प्रसंग वश कुछ और भी कहा जायगा ।

प्रथम पाद में पंचाग्नि विद्या को लेकर जीव की संसार में किस किस प्रकार गति होती है, यह वैराग्य कराने के लिये कहा

जाता है; क्योंकि 'तस्माज्जुगुप्सेत [छाँ० ५ । १० । ८] (इस-लिये उसका तिरस्कार करना चाहिये) ऐसा श्रुति में [इस प्रकरण के] अन्त में कहा है। पुरुष मुख्य प्राण, इन्द्रिय और मन तथा अविद्या, कर्म और पूर्व बुद्धि को साथ लिये हुए पूर्व देह का त्याग करके दूसरा देह ग्रहण करता है ऐसा, 'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' [बृह० ४ । ४ । १] (पश्चात् ये प्राण जीव के साथ एकत्रित हो जाते हैं) यहाँ से लेकर 'अन्यन्नवतरं कल्याणतर रूपं कुरुते' [बृह० ४ । ४ । ४] (दूसरा अधिक नवीन और अधिक सुन्दर ऐसा शरीर वह निर्माण करता है) यहां तक संसार प्रकरण के वाक्यों से विदित होता है। धर्म और अधर्म के फल का उपभोग भी इसी अवस्था में सम्भव होने से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। अब विचार करते हैं कि वह जीव देह के कारणरूप सूक्ष्म भूतों से वेष्टित या युक्त होकर जाता है अथवा उनसे वेष्टित न होते हुए जाता है।

पूर्वपक्षी—इन्द्रियों के ग्रहण करने का जिस प्रकार श्रुति में निर्देश है, वैसे भूतों का ग्रहण का निर्देश नहीं मिलता, इसलियें, जीव उनसे वेष्टित न होते हुए ही जाता है। 'स एतास्तेजो मात्राः समभ्याददानः ।' [बृह० ४ । ४ । १] (वह इन तेज की मात्राओं का ग्रहण कर) इस वाक्य में 'तेजोमात्रा' शब्द से इन्द्रियों के ग्रहण का कथन किया गया है, क्योंकि वाक्य के अन्त में चक्षु आदि इन्द्रियों का ही कथन है और इस प्रकार भूतमात्राओं का निर्देश नहीं है। भूत मात्राएँ सर्वत्र मिल सकती हैं। जहाँ देह की उत्पत्ति होगी वहीं २ वे वर्तमान हैं, इसलिये उनको साथ ले जाना व्यर्थ भी है। अतएव वह उनसे रहित ही जाता है।

इसके उत्तर में सूत्रकार लिखते हैं कि 'तदंतर प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः' (उसके अन्य की प्राप्ति में वह वेष्ठित जाता है)। उसके अन्य की प्राप्ति में यानी पूर्व देह से दूसरे देह की प्राप्ति में देह के कारणरूप भूतमात्राओं से युक्त होकर जाता है ऐसा जानना चाहिये; क्योंकि प्रश्न और उसके निरूपण से ऐसा ही विदित होता है। प्रश्न यह है—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [छां० ५ । ३ । ३] (पांचवीं आहुति के समय जल को पुरुष कहते हैं; क्या यह तू जानता है ?) इसके उत्तर में स्वर्ग, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री, इन पांच अग्नि में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्य, ये पांच आहुतियाँ है, ऐसा कहकर 'इति तु पंचम्या-माहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति ।' [छां० ५ । ६ । १] (इस-लिये पांचवीं आहुति के समय जल को पुरुष कहते हैं) ऐसा निरूपण किया गया है । इससे विदित होता है कि जीव जल से वेष्टित होकर ही जाता है ।

शंका—अन्य श्रुति में कहा है कि जोंक के समान जोव पूर्व देह को तव तक नहीं छोड़ता जव तक वह दूसरे देह को प्राप्त नहीं होता। जैसे 'तद्यथा तृणजलायुका' [बृ० ४ । ४ । ३] (यह ऐसे है जैसे जोंक) ।

समाधान—वहां भी जीव जल से वेष्टित होकर ही कर्म से उपस्थित हुआ जो नवीन देह प्राप्त होने वाला है उस तक अपनी भावना दौड़ाता है, इतना ही जोंक के दृष्टान्त का तात्पर्य है, (पुराना शरीर नहीं छोड़ता इस प्रकार का साम्य यहां अभिप्रेत नहीं है), इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं हैं । इस प्रकार नूतन देह प्राप्ति का प्रकार श्रुति में दिया हुआ होने से, आत्मा और इन्द्रिय सर्वव्यापक है और नया शरीर प्राप्त होने पर कर्मवश वे

व्यापार करने लगते हैं; केवल आत्मा ही उसमें व्यापार करने लगता है और इन्द्रियाँ तो भोगों के भिन्न २ स्थानों पर देह के साथ नयी ही उत्पन्न होती हैं; केवल मन ही भोग स्थान को प्राप्त होता है, जैसे तोता एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जा बैठता हैं वैसे जीव ही अन्य देह को प्राप्त होता है इत्यादि मनुष्य के स्वकल्पित देहान्तर प्राप्ति के अन्य प्रकार अनादर के पात्र हैं; क्योंकि, ये श्रुति से विरुद्ध हैं ॥ १ ॥

शंका—दिये हुए प्रश्न और उत्तर में जीव केवल जल ही से युक्त होकर जाता है ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि श्रुति में कहे हुए 'अप्' (जल) शब्द का अर्थ ही यह है। फिर सब भूत-मात्राओं से वेष्टित होकर जीव गमन करता है ऐसी सामान्य प्रतिज्ञा क्यों की गई है ?

इसका उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

तु परन्तु त्र्यात्मकत्वात् [जल] त्रयात्मक होने से [केवल जल से जीव वेष्टित नहीं हो सकता], भूयस्त्वात् [जलकी] अधिकता से [उसका वैसा निर्देष किया गया है]।

'तु' (परन्तु) शब्द से (पूर्व सूत्र के अन्त में) उठाई हुई शंका का निरसन सूचित करते हैं। श्रुति में त्रिवृत्करण (तीनों भूतों का आपस में मिल जाना) कहा है, इससे भूत त्रयात्मक ही होते हैं ऐसा निश्चय होता है। इसलिये जब जल (दूसरा देह) उत्पन्न करता है ऐसा मानते हैं तब उसके साथ दूसरे दो भूत भी अवश्य मानने पड़ते हैं। देह त्रयात्मक ही होता है, क्योंकि तेज, जल और पृथ्वी ये तीनों भूत उसमें कार्य रूप से

प्रतीत होते हैं। वह त्र्यात्मक इसलिये भी है कि इसमें वात, पित्त और कफ ये तीन धातु होते हैं। ऐसा यह देह अन्य भूतों को छोड़कर केवल एक जल ही से बन नहीं सकता। इसलिये 'आपः पुरुषवचसः' (जल को पुरुष कहते हैं) ऐसा जो प्रश्नोत्तर में कहा है, वहाँ जल शब्द केवल जल की अपेक्षा से नहीं कहा है और सब देहों में रस, रक्त आदि द्रव पदार्थ अधिकता से होते हैं। यदि कहो कि देह में तो पार्थिव अंश ही अधिक देखने में आता है तो यह दोष नहीं हैं। इतर भूतों की अपेक्षा से तो जल ही की अधिकता है। देह के बीज रूप शुक्र और लोहित में भी द्रवतत्त्व ही अधिक होता है। दूसरे देह के बनाने में कर्म निमित्त कारण होता है और कर्म अग्नि होत्रादि हैं जिनमें सोम, घी, दूध आदि द्रव द्रव्यों का ही अधिक काम पड़ता है। कर्म से सम्बन्ध रखने वाले और श्रद्धा शब्द से निर्दिष्ट ऐसे जल का स्वर्गलोक नामक अग्नि में हवन होता है ऐसा आगे कहेंगे। इससे भी जल की बहुलता सिद्ध होती है। बाहुल्य के कारण जल शब्द का प्रयोग होने से देह के कारणरूप जो सूक्ष्म भूत हैं उन सब का उससे ग्रहण हो जाता है, इसलिये इसमें कोई दोष नहीं प्राप्त होता ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

च और **प्राणगतेः** प्राण जाते हैं, इसलिये [सूक्ष्म भूत भी साथ जाते हैं, ऐसा सिद्ध होता है]।

'तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।' [बृह० ४।४।२] (वह चला जाता है तब मुख्य प्राण उसके पीछे जाता है और मुख्य प्राण के पीछे सब प्राण चले जाते हैं) इत्यादि श्रुतियों में अन्य देह की प्राप्ति में

प्राण भी [साथ ही] जाते हैं ऐसा कथन है। और वह प्राणों की गति उनके आश्रय के बिना संभव नहीं है, इसलिये प्राणों की गति से प्राप्त उनके आश्रय भूत जल की भी अन्य भूतों के साथ गति होती है ऐसा जाना जाता है। आश्रय रहित प्राण न कहीं जा सकते हैं और न शरीर में ही रह सकते हैं, क्योंकि जीवन काल में ऐसा ही देखने में आता है ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिः चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

[प्राणों की] **अग्न्यादिगतिश्रुतेः** अग्नि आदि के प्रति गति होती है, ऐसा श्रुतिकथन है, इसलिये (वे जीव के साथ नहीं जाते) **इति** ऐसा **चेत्** (यदि कहो) तो **न** वह ठीक नहीं है, **भाक्तत्वात्** क्योंकि (वह कथन) गौण है।

पूर्वपक्षः—प्राण अग्नि आदि के प्रति प्राप्त होते हैं ऐसा श्रुतिकथन होने से अन्य देह की प्राप्ति में वे जीव के साथ नहीं जाते, क्यों कि श्रुति ऐसा ही कहती है कि मरण काल में वाक् आदि प्राण अग्नि आदि को प्राप्त होते हैं, जैसे, यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः। [बृह० ३।२।१३] (जब मृत मनुष्य की वाणी अग्निमें लीन होती है, प्राण वायु में लीन होते हैं) इत्यादि।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह कथन गौण है। वाक् आदि प्राण अग्नि आदि को प्राप्त होते हैं यह श्रुति कथन गौण है क्योंकि वहाँ 'ओषधिर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः, [बृह० ३।१२।१३] (लोम ओषधि के प्रति और केश वनस्पति के प्रति प्राप्त होते हैं) ऐसा कथन है, परन्तु लोम और केश

उनके प्रति प्राप्त होते हैं ऐसा देखने में नहीं आता। लोम और केश उड़कर औषधि और वनस्पिति के प्रति प्राप्त हों यह सम्भव भी नहीं है। वैसे ही प्राण रूप उपाधि के विना जीव का गमन भी असम्भव है और विना प्राण के अन्यदेह में जीव को उपभोग भी हो नहीं सकता। तथा अन्य स्थान पर श्रुति में जीव के साथ प्राण की गति स्पष्ट रूप से कथन की गई है इसलिये वाक् आदि में अधिष्ठित और उनको सहायता करने वाले अग्नि आदि देवता मरणकाल में उनकी अपनी तरफ से सहायता करना छोंड़ देते हैं, इतने हो अभिप्राय से वाक् आदि अग्नि आदि के प्रति प्राप्त होंते हैं ऐसा गौण रूप से कहा गया है ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणदिति चेन्न ता एव ह्यु पपत्तेः ॥ ५ ॥

प्रथमे प्रथम [अग्नि] में [जल का] **अश्रवणात्** श्रुति में निर्देश न होने से [उपरोक्त कथन ठीक नहीं है] **इति** ऐसा **चेत्** [यदि कहो] तो **न** वह ठीक नहीं हैं **ता एव** उसी का [कथन है] **उपपत्तेः** क्योंकि **ही** [ऐसा मानने से] ही [श्रुति] सुसंगत होती है।

पूर्वपक्षः—'पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति।' [छा० ५। ३। ३] (पाँचवीं आहुति के समय जल को पुरुष कहते हैं) इसका निश्चय कैसे हो सकता है जब कि प्रथम आहुति में अग्नि के समय जल का निर्देश ही श्रुति नहीं करती। इस श्रुति में स्वर्गलोक आदि अग्नि पाँच आहुतियों के आधार हैं ऐसा कथन है। उनमें से पहिली (अग्नि की) आहुति के सम्बन्ध में 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः।' [छा० ५। ४। १] (हे गौतम, यह लोक ही अग्नि है) इस प्रकार उपन्यास (प्रारम्भ) करके 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धाँ जुह्वति।' [छां० ५। ४। २]

(ऐसे इस अग्नि में देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं) इस वाक्य से श्रद्धा को हवन का द्रव्य बताया है। वहाँ पर जल को हवन द्रव्य नहीं बताया गया। आगे कहे हुए पर्जन्य आदि चार अग्नि के प्रसंग में उदक आहुति है ऐसा चाहो तो मान सकते हो, क्योंकि उन अग्नियों के सम्बन्ध में जो सोम आदि पदार्थ आहुति रूप से कहे हुए हैं उनमें जल की बहुलता है। प्रथम अग्नि के सम्बन्ध में श्रुति में श्रद्धा का कथन है उसको छोड़कर श्रुति में न कहे हुए जल की कल्पना करना एक साहस मात्र है। प्रसिद्धि के सामर्थ्य से श्रद्धा एक प्रत्ययविशेष ही है (ऐसा विदित होता है)। इसलिये पाँचवीं आहुति के समय जल पुरुष होता है यह कहना ठीक नहीं है।

समाधान—यह दोष प्राप्त नहीं होता; क्योंकि प्रथम अग्नि के प्रसंग में भी 'श्रद्धा' शब्द से श्रुति का जल ही से अभिप्राय है। और ऐसा मानों तभी श्रुति का कथन सुसंगत होता है। ऐसा मानो तब ही श्रुति के आदि मध्य और अन्त की संगति लगती है और इससे किसी बाधा के विना श्रुति की एकवाक्यता होती है। परन्तु यदि ऐसा न मानें तो पाँचवीं आहुति में जल को पुरुष कहते हैं इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में प्रथम आहुति में जो उदक ही नहीं है ऐसे श्रद्धाद्रव्य का श्रुति निर्देश करे तो प्रश्न एक और उत्तर दूसरा इस प्रकार हो जाता है और एकवाक्यता नहीं होती। तथा 'इतितु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति।' (इस प्रकार पांचवीं आहुति में जल को पुरुष कहते हैं) ऐसा उपसंहार करके भी श्रुति यही बताती है, स्थूलता को प्राप्त हुए श्रद्धा के सोम, वृष्टि आदि कार्यों में भी जल का बाहुल्य देखने में आता है। यही श्रद्धा को जल मानने के लिए प्रमाण है, क्योंकि कार्य कारण के अनुरूप ही हुआ करता है। वैसे ही, जैसे पशु

आदि के हृदय आदि अवयव उनसे निकाल कर हवन किए जाते हैं, वैसे श्रद्धा नामक प्रत्ययविशेष जो मन वा जीव का धर्म है, उसको धर्मी से अलग निकाल, कर हवन के लिए ग्रहण करना शक्य नहीं है। इसलिये श्रद्धा शब्द का अर्थ जल ही है। श्रद्धा शब्द का अर्थ जल हो सकता है क्योंकि 'श्रद्धावा आपः, [तै० सं० १।६।८।१' (जल ही श्रद्धा है) इस प्रकार का श्रुति में प्रयोग मिलता है। जल देह का बीजभूत है इसलिये सूक्ष्मत्व में उसका श्रद्धा से साम्य है, इसलिये जल को श्रद्धा कह सकते हैं, जैसे कि सिंह के से पराक्रमी पुरुष को सिह कहते हैं। श्रद्धा पूर्वक किए हुए कर्मों के साथ श्रद्धा का तादात्म्य सम्बन्ध होने से भी जल को श्रद्धा कहते हैं, जैसे कि पुरुष के लिए 'मंच' शब्द का प्रयोग होता है। दूसरे जल श्रद्धा का कारण होने से भी उसके लिए श्रद्धा शब्द का प्रयोग हो सकता है। श्रुति में कहा है-'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे।' (जल ही पुण्य कर्म के लिये श्रद्धा उत्पन्न करता है) ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

अश्रुतत्वात् श्रुति में वैसा कथन न होने से [जीव जल से वेष्टित नहीं होता, **इति** ऐसा **चेत्** [कहो] तो **न** वैसा नहीं है, **इष्टादिकारिणां** इष्ट आदि कर्म करने वालों की **प्रतीतेः** वैसी ही प्रतीत होने से।

शंका—पूर्वोक्त प्रश्नोत्तर में पांचमी आहुति के समय जल को श्रद्धा आदि के क्रम से पुरुष का आकार प्राप्त होगा, परन्तु उस (जल) से युक्त जीव दूसरे देह को प्राप्त होता है यह नहीं सिद्ध होता, क्योंकि वैसा श्रुतिप्रमाण नहीं है। इस श्रुति में जल के लिये जैसा शब्द है वैसा जीव का निर्देशक कोई शब्द नहीं है।

इसलिये जीव जल से वेष्टित होकर अन्य देह के प्रति जाता है यह कहना अयुक्त है।

समाधान—यह दोष नहीं प्राप्त होता। क्यों? इष्ट आदि कर्म करने वालों की वैसी प्रतीति होने से। 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति।' [छां० ५।१०।३] (अब वे लोग, जो गांव में रह कर इष्ट, पूर्त और दत्त इन कर्मों से उपासना करते हैं वे धूम को यानी धूम मार्ग को प्राप्त होते हैं) ऐसा उपक्रम करके, 'आकाशाच्चंद्रमसमेष सोमो राजा।' [छां० ५। १०। ४] (आकाश से चन्द्र लोक को जाते हैं, यह सोम राजा है) इस वाक्य तक इष्ट आदि करने वाले लोग धूम आदि मार्ग द्वारा पितृयान से चन्द्र लोक जाते हैं ऐसा श्रुति कहती है। उनका ही यहां पर निर्देश है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि, 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति।', [छां० ५। ४। २] [ऐसे इस अग्नि में देव श्रद्धा की आहुति देते हैं और उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है) इस प्रकार दोनों श्रुतियों के वर्णन की समानता है। अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास आदि कर्म करने वालों के पास इन कर्मों के साधनभूत दही, दूध आदि में द्रव पदार्थ की अधिकता होने से वे प्रत्यक्ष जल ही हैं। वह जल आहवनीय नामक अग्नि में डालने से सूक्ष्म आहुति रूप बनकर अपूर्वरूप से (संचित कर्म के रूप से) इष्टादि करने वालों का आश्रय करता है। (इनके मरने पर) इनके शरीर ऋत्विज लोग अंत्येष्टि विधि के अनुसार 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' (यह स्वर्ग को प्राप्त हो) ऐसा कह कर अन्त्य अग्नि में हवन कर देते हैं। पश्चात् श्रद्धापूर्वक किये हुए कर्म से संवद्ध ऐसा आहुतिमय जल

अपूर्वरूप से इष्टादि कर्म करने वाले जीवों को वेष्टित करके फल देने के निमित्त उनको परलोक को ले जाता है। यही बात 'श्रद्धां जुह्वति' (श्रद्धा की आहुति देते हैं) इस वाक्य में 'जुहोति' (आहुति देते हैं) इस पद से अभिप्रेत है। इसी के अनुसार अग्निहोत्र प्रकरण में छः प्रश्नों के उत्तर में 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः।' (ऐसी यह दो आहुतियां हवन करने पर ऊपर जाती हैं), ऐसा जो वाक्यशेष यानी अन्तिम वाक्य दिया है, उसमें अग्निहोत्र की दो आहुतियाँ फल देने के लिये परलोक को जाती हैं, यही दिखाया है। इसलिये आहुतिमय जल से वेष्टित होकर ही जीव अपने कर्मों के फल भोगने के लिये अन्य शरीर के प्रति जाता है ॥ ६ ॥

शंका—इष्टादि कर्म करने वाले अपने कर्मों के फल भोगने के लिये जाते हैं, ऐसा कैसे कह सकते हैं जब कि वे धूम के लक्षण वाले मार्ग से चन्द्र के ऊपर जाकर अन्न रूप होजाते हैं, ऐसा आगे दी हुई श्रुतियों से विदित होता है–'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति।' छां० ५। १०। ४] (यह सोम राजा है, वह देवों का अन्न है, इसको देव भक्षण करते हैं), 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्रदेवा यथा सोमं राजानमाप्यास्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति।' [बृह० ६। २। १६] (वे चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न रूप बनते हैं और जैसे यहाँ पर ऋत्विज लोग प्याला भरा और खाली किया इस प्रकार सोम रस का पान करते हैं वैसे ही इनको वे देव भक्षण करते हैं)। अब यदि व्याघ्र आदि के समान देव उनको भक्षण कर लेंगे तो वे अपने कर्म फलों का भोग किस प्रकार कर सकेंगे ?

इसका उत्तर देते हैं—

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ।। ७ ।।

वा परन्तु [इष्ट आदि कर्म करने वाले] **भाक्त** गौण रूप से [देवों का अन्न वनते हैं]; **अनात्मवित्वात्** क्योंकि उनको आत्मज्ञान नहीं होता **तथाहि** और वैसा ही **दर्शयति** श्रुति का कथन है।

'वा' (परन्तु) शब्द पहले दिये हुये दोष के निवारणार्थ यह सूत्र है यह दिखाता है। (इष्ट आदि का कर्म करने वाले गौण रूप से अन्न वनते हैं मुख्य रूप से नहीं । यदि मुख्य रूप से अन्न हो जाय तो 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे) इत्यादि प्रकार की अधिकार निरूपण करने वाली श्रुतियों का विरोध होता है । यदि चन्द्रमण्डल में इष्ट आदि कर्म वालों को भोगों की प्राप्ति नहीं होगी तो अधिकारी (यहां पर यज्ञ के अधिकारियों से अभिप्राय है) लोग किसलिये आयासप्रचुर ऐसे इष्ट आदि कर्म करेंगे ? अन्न शब्द उपभोग के साधन रूप ऐसे अन्न से भिन्न पदार्थों के लिए भी गौण रूप से लगाया जाता है ऐसा देखने में आता है, जैसे, प्रजा राजा का अन्न है, पशु प्रजा का अन्न है, ऐसा कहते हैं । इसीलिये, जैसे कोई मनुष्य अपने को प्रिय ऐसे स्त्री, पुत्र मित्रादि से क्रीड़ा करता है, वैसे ही वे देव इष्ट आदि कर्म करने वालों से क्रीड़ा करते हैं, यही उनके भक्षण से अभिप्राय है, न कि उनको लड्डू आदि के समान चवा कर निगल जाने से यही अभिप्राय है । 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' [छां० ३।६।१] (देव वास्तव में न कुछ खाते हैं न पीते हैं, इसी अमृत को देखकर वे तृप्त हो जाते हैं), यह श्रुति देव लोगों के लिये चबाना आदि व्यापार

का निषेध करती है। परन्तु इष्ट आदि कर्म करने वाले यद्यपि देवों के अंगभूत हैं तो भी राजा के यहां काम करने वाले नौकरों के समान वे लोग स्वयं उपभोग कर सकते हैं। तथा इष्ट आदि कर्म करने वाले आत्मज्ञान विहीन होने से वे देवों के भोग्य बन सकते हैं। श्रुति आत्मज्ञान रहित जीवों को देवों के भोग्यरूप से बतलाती है, जैसे, 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' [बृह० १।४।१०] (वह देवता अन्य है और मैं अन्य हूं ऐसा जानकर, जो अन्य देवता की उपासना करता है वह सत्य नहीं जानता, वह पशु के समान देवता का भोग्य बनता है)।

'अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति, (क्योंकि उनको आत्मज्ञान नहीं है, श्रुतिका भी यही कथन है) इस सूत्रांश की दूसरी व्याख्या इस प्रकार होती है—इन इष्टादि कर्म वालों को आत्मज्ञान नहीं होता यानी वे लोग केवल कर्म करने वाले हैं, ज्ञान से युक्त कर्म करने वाले नहीं। प्रकरण से यहां पर पंचाग्नि विद्या ही को गौणरूप से आत्म विद्या कहा है। अब इष्ट आदि कर्म करने वालों को पंचाग्नि का ज्ञान न होने से उनको देवों का अन्न कहा है वह केवल पंचाग्नि की प्रशंसा करने के लिए गौण रूप से कहा है। यहां पर पंचाग्नि विद्या कहने ही का उद्देश्य है। समग्र वाक्य का तात्पर्य देखने से यही प्रतीत होता है। अन्य श्रुति भी चन्द्र मंडल में भोग होता है, ऐसा प्रतिपादन करती है जैसे 'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' [प्र० ५।४] (वह चन्द्रलोक में ऐश्वर्य का अनुभव करते हुए लौट आता है)। वैसे एक और श्रुति भी इष्टआदि कर्म करनेवाले लोक देवों के साथ रहकर भोग भोगते हैं ऐसा कहती है, 'अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानंदाः स एकः कर्मदेवनामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' [बृह० ४।३।३३] (जिन्होंने पितृलोक प्राप्त किया

है ऐसे पितरों के जो सौ आनन्द वह एक कर्मदेव का आनन्द है; जो कर्म द्वारा देव भावको प्राप्त होते हैं उनको कर्मदेव कहते हैं ; अर्थात् इष्ट आदि कर्म करने वाले जीवों को गौणरूप से अन्न कहा होने से वे जीव (भोग के निमित्त चन्द्रलोक में) जाते हैं ऐसा प्रतीत होता है । इसलिये 'जीव वेष्टित होकर ही जाता है' ऐसा जो कहा है वह युक्त ही है ॥ ७ ॥

कृतात्ययाधिकरण । सू० ८-११

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

कृतात्यये कर्मों का नाश होने पर [वे] अनुशयवान् अनुशय (भोगने के लिये अवशिष्ट रहे हुए कर्म) सहित [नीचे उतरते हैं]; दृष्टस्मृतिभ्याम् प्रत्यक्ष और स्मृति से [ऐसा विदित होता है], यथा जैसे [वे] इतम् गये [वैसे हीं वे नीचे आते हैं] च परन्तु एवम् पूर्णतया वैसे ही न नहीं आते ।

'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतम्' [छां० ५।१०।५] (जब तक संपात यानी कर्म संग्रह है तब तक रहकर वे जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से लौटते हैं) यहां से आरंभ करके 'यावद्रमणीयचरणा ब्राह्मणादि योनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादि योनिम्' [छां० ५।१०।७] (जिनका यहाँ अच्छा आचरण है, वे ब्राह्मणादि योनियों को प्राप्त होते हैं और जिनका हीन आचरण है, वे श्वान आदि योनियों को प्राप्त होते हैं) यहां तक श्रुति इष्ट आदि कर्म करने वाले धूम आदि मार्ग से चन्द्रमंडल को प्राप्त होकर भोगों को समाप्त करके फिर नीचे लौटते हैं ऐसा कथन करती है ।

यहां पर विचार करना चाहिये कि क्या वे निःशेष कर्मों का उपभोग करके कर्मसंस्कार रहित लौटते हैं अथवा कुछ कर्मसंस्कारों के सहित लौटते हैं ?

पूर्वपक्षी:—अनुशयरहित यानी कर्म संस्कार से रहित हो लौटते हैं, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि 'यावत्संपातम्' (जब तक कर्मसंग्रह हैं) ऐसा विशेषण दिया हुआ है। 'संपात' शब्द का यहां पर कर्माशय से अभिप्राय है। जिससे जीव इस लोक से परलोक को कर्मफल भोगने के लिये (संपतति) जाता है वह संपात है। 'यावत्संपातम्' (जब तक कर्म संग्रह है) ये शब्द जीव के सब कर्मों का वहां भोग हो जाता है ऐसा दिखाते हैं। 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' [बृह० ६।२।१६] (जब उनका वह कर्म क्षीण हो जाता है) इस श्रुति से भी यही बात प्रतिपादित होती है। यदि कहो कि जब तक इस लोक में भोगने योग्य कर्म हैं तब तक जीव उसको भोगता है, तो कहते हैं ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अन्य श्रुति में 'यत्किं च' (जो कुछ) ऐसा निर्देश है। 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥' [बृह० ४।४।६ (जो कुछ भी कर्म वह यहां पर करता है उसका वहां फल पाकर उस लोक से यहां पर फिर कर्म करने के लिये लौटता है), यह दूसरी श्रुति 'यत्किं च'(जो कुछ) ऐसे सामान्यता दर्शक शब्दों के प्रयोग से समस्त कर्मों का वहां क्षय हो जाता है ऐसा दिखाती है। वैसे ही, मरण अनारब्ध कर्मों को व्यक्त करता है; क्योंकि मरण के पूर्व जिन कर्मों के फल का आरंभ हुआ है, ऐसे कर्म, उनको प्रतिबंध होने से, उस समय व्यक्त (फलोन्मुख) नहीं हो सकते। अब मरण जिन कर्मोंको आरंभ नहीं हुआ ऐसे सब कर्मों को व्यक्त करता है (ऐसा मानना पड़ेगा); क्योंकि, कारण के समान होते हुए

कार्यों में भेद नहीं हो सकता; जैसे, एक दीप का दोनों को समान रूप से साँनिध्य होते हुए केवल घट व्यक्त होता है, पट नहीं, ऐसा नहीं कह सकते; इससे जीव कर्माशयरहित ही नीचे लौट आते हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

समाधान—कर्मों का नाश होने पर अनुशयसहित ही जीव यहां पर लोटते हैं। जीव जिस कर्म समूह से उसके उपभोग के लिए चन्द्रलोक को जाता है वह कर्म समूह नष्ट होने पर उसका जो जलमय शरीर चन्द्रलोक के भोगों के निमित्त उत्पन्न हुआ था वह, जैसे सूर्यकिरणों से ओले पिघल जांय, वा अग्नि के संयोग से घी पिघल जाय; भोगों के क्षय को देखकर उत्पन्न हुए शोकाग्नि के संपर्क से वैसे ही पिघल जाता है। इसलिए किये हुये इष्ट आदि कर्मों के फल के उपभोग से स्वयं क्षय होजाने पर जीव (शेष रहे हुए) कर्मों के आशय सहित ही नीचे उतरते हैं। इसमें क्या प्रमाण है? प्रत्यक्ष तथा स्मृति इसमें प्रमाण है। 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' [छां० ५।१०।७] (जिनका यहां पर रमणीय आचरण है वे रमणीय ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य योनि को प्राप्त होते हैं, तथा जिनका आचरण हीन हैं वे श्वान, सूकर अथवा चण्डाल की हीन योनि को प्राप्त होते हैं) इस प्रकार श्रुति प्रत्यक्ष दिखाती है कि जीव अनुशयसहित ही नीचे के लोक को प्राप्त होता है। श्रुति में आये हुए चरण शब्द का अर्थ अनुशय है यह (सूत्रकार) आगे कहेंगे। दूसरे, प्रत्येक प्राणी में जन्म ही से उच्च नीच रूप से भिन्न प्रकार का जो उपभोग प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वह आकस्मिक होना असंभव होने से, अनुशय का अस्तित्व

सूचित करता है। क्योंकि, संपत्ति और विपत्ति इनके सुकृत और दुस्कृत ये कारण हैं, ऐसा शास्त्र से जाना जाता है। 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' (वर्ण औंर आश्रम में स्थित स्वकर्मनिष्ठ लोक में अपने अपने कर्म करके मरते हैं। पश्चात् लोकांतर में अपने कर्म के फल को उपयोग करके शेष रहे हुए कर्मो से विषिष्ट प्रकार के देश, जाति, कुल, रूप, आयुष्य, ज्ञान, आचार द्रव्य, सुख तथा बुद्धि इनसे संपन्न ऐसा जन्म ग्रहण करते हैं), यह स्मृति भी अनुशय सहित ही जीव इस लोक में लौटता है ऐसा दिखाती है।

अब विचार करते हैं कि अनुशय किसको कहते हैं।

पूर्वपक्ष —स्वर्ग प्राप्ति के लिए किये हुये कर्मो के फल का उपभोग करने पर, जैसे तेल के वर्तन में चिकनाई रह जाय, वैसे जो कुछ अवशिष्ट कर्म रह जाते हैं वह अनुशय है। जैसे तेल के पात्र को रिक्त करने पर भी वह संपूर्ण रूप से खाली नहीं होता, पात्र में भी कुछ तेल रह ही जाता है, वैसे ही कुछ कर्म भी (जीव के साथ) रह ही जाते हैं, वैसे ही यह अनुशय है। यदि कहो कि अदृष्ट सुख दुःखादि कार्य का विरोधी होने से (क्योंकि सुखोपभोग से अदृष्ट का नाश होता है) उपयुक्त फल का अवशेष रहता है ऐसा नहीं कह सकते, तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि संपूर्ण रूप से कर्मफल का भोग होता है ऐसा हम नहीं कहते। यदि कहो कि समस्त कर्म फल के भोग के लिये ही तो वह चण्द्र मण्डल कों प्राप्त होता है, तो यह ठींक है, परन्तु ऐसा होते हुये भी अत्यन्त अल्प कर्म अवशेष रहने पर वहां वह रहने नहीं पाता। मानो जैसे कोई सेवक समस्त सेवा सामिग्री लेकर राजगृह में जाता है परन्तु अधिक काल वहां सेवा करने पर जब उसके बहुत सेवा

साधन समाप्त होते हैं तब केवल छत्र और पादुका ही अवशेष रह जाने पर वह राजगृह में सेवा के निमित्त रह नही सकता, इसी प्रकार किंचित् अनुशय शेष रहने पर यह चन्द्र मण्डल पर टिक नहीं सकता।

समाधान—यह युक्त हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। स्वर्ग के लिए किये हुए कर्म का भोग हो जाने पर उसका अवशेष रह नहीं सकता, क्योंकि (यह अवशेष) भोग के विरोधी हैं यानी भोग से ही उसका क्षय हो जाता है यह कहा गया है। यदि कहो कि ऐसा भी तो कहा था कि स्वर्ग फल देने वाले समस्त कर्मो का वहां उपभोग नहीं होता तो यह ठीक नहीं है। स्वर्ग के फल निमित्त किया हुआ कर्म सम्पूर्ण रूप से स्वर्ग फल को नहीं देता परन्तु स्वर्ग से च्युत होने पर भी कुछ फल देता है ऐसी कल्पना श्रुति को प्रमाण मानने वाले के लिऐ ठीक नहीं है। तेल के पात्र में (तेल निकल जाने पर) चिकनाई का अंश रहना ठीक ही है वैसे ही सेवक के पास अल्प साधनों का रहना भी (जिनके होते हुऐ भी वह सेवा कार्य न कर सके) देखने में आता है, परन्तु इस प्रकार स्वर्ग फल देने वाले कर्म का भी अवशेष रहता है ऐसी कल्पना नही हो सकती, क्योंकि इसमें स्वर्ग फल बताने वाले शास्त्र का विरोध होता है। स्वर्ग फल देने वाले इष्ट आदि कर्मों का, तेल के पात्र में जैसे तेल का अंश रह जाता है वैसे, अवशेष रूप अनुशय नही होता, ऐसा ही मानना पड़ेगा। क्योंकि यदि जिस इष्टादि सुकृत कर्म से वह स्वर्ग का उपभोग करता है उसीका कुछ अंश अनुशय रूप से रहता है, ऐसी कल्पना करें तो केवल एक रमणीय यानी अच्छा ही अनुशय रहेगा उससे विपरीत नहीं। ऐसा मानने से 'तद्य इह रमणीयचरणा अथ य इह कपूय-चरणाः' [छां० ५।१०।७] (इसलिए जिनके यहां अच्छे आच-

रण होते हैं और जिनके यहां हीन आचरण होते हैं) इस अनुशय विभागकी श्रुतिका विरोध होगा। इसलिये परलोक के भोग देनेवाले सब कर्मो का भोग करके शेष रहे हुए, इस लोक में भोग देने वाले कर्म ही अनुशय रूप होते हैं और उन्हीं के साथ वह इस लोक में आता है, ऐसा सिद्ध होता है।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि श्रुति में 'यत्किं च' (जो कुछ) ऐसा सामान्य शब्द होने से सब विशेष कर्मों का उपभोग होकर उनका नाश हो जाने से जीव अनुशयरहित ही इस लोक में आता है, तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि अनुशय का अस्तित्व होता है (ऐसा सिद्ध किया गया है)। इसलिये (उस श्रुति का तात्पर्य) यह प्रतीत होता है कि जिन कर्मो को परलोक की प्राप्ति के निमित्त किया गया था और जिनका भोग वहां पर प्रारंभ हो चुका था, उन ही का भोग 'समाप्त होने पर' (जीव इस लोक में आते हैं)। वैसे ही पूर्वपक्ष में कहा था कि जिनका भोग होना शेष है ऐसे सब कर्मों को मरण व्यक्त करता है इसलिये कुछ कर्मों द्वारा वह परलोक में भोग भोगता है और कुछ कर्मों से इस लोक में, ऐसा विभाग बन नहीं सकता, तो उसका उत्तर भी अनुशयके अस्तित्व की सिद्धि में ही आ जाता है। अब जिनके फल उत्पन्न नहीं हुए ऐसे सब कर्मों को मरण व्यक्त करता है ऐसा कैसे कहते हो ? यदि कहे कि जिनका फल हो रहा है ऐसे कर्मों से अन्य कर्म दब जाने से उनका व्यापार प्रारंभ नहीं होता, परन्तु उन कर्मों का प्रतिबंध मरण काल में दूर हो जाने से उनका व्यापार आरंभ होने लगता है, तो कहना चाहिये कि जैसे मरणकाल के पहिले जिनका फल हो रहा है ऐसे कर्मो से दब जानेके कारण इतर (अनारब्ध) कर्मो का व्यापार नहीं होने पाता, वैसे ही मरण काल में भी प्रबल कर्मो के प्रतिबन्ध से निर्बल कर्म का व्यापार हो नहीं

सकता। जिसके फल अन्य जन्म में भोगे जा सकते हैं, ऐसे अनेक कर्म एक मरण में एक ही समय अभिव्यक्त होकर अनारब्ध फल स्वरूप सामान्य धर्म से एक जन्म का आरम्भ करते हैं, ऐसा कह नहीं सकते क्योंकि ऐसा कहने से प्रत्येक कर्म का नियत फल होता है इस बात का (मूल भूत सिद्धान्त का) विरोध होगा। मरण काल में कुछ कर्म व्यक्त होते हैं और कुछ नष्ट हो जाते हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक कर्म का फल होता ही है, इस सिद्धान्त का विरोध होगा। वैसे ही, बिना प्रायश्चित आदि के कर्म का नाश संभव नहीं है। स्मृति भी कहती है कि विरुद्ध फलवाले कर्म के प्रतिबंध से इतर कर्म बहुत काल तक पड़े रहते हैं, जैसे 'कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति। मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते॥' (संसार में निमग्न हुए पुरुष के सुकृत कभी कभी वह दुःखों से मुक्त होता है तब तक अटल से बने रहते हैं) इत्यादि। यदि सब अनारब्ध कर्म एक ही मरण काल में अभिव्यक्त होकर एक ही जन्म का आरंभ करेंगे तो स्वर्ग, नरक और तिर्यक योनि में नवीन कर्म की योग्यता न होने से धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नहीं होगी और ऐसा होने से अपर जन्म के लिये कोई हेतु न होने से अपर जन्म ही नहीं होगा। तथा ब्रह्महत्या आदि कर्मों में से एक एक कर्म का अनेक जन्म पर्यंत फल भोगना पड़ता है, ऐसा जो स्मृति में कहा है, उसका विरोध होगा। धर्म और अधर्म के स्वरूप, फल और साधन आदि का ज्ञान शास्त्र आदि के अतिरिक्त अन्य किसी से होना संभव नहीं है। जिनके दृष्ट फल हैं, ऐसे कारीरि (कारीरि नामक इष्टि वर्षा के निमित्त की जाती है) आदि कर्मों को मरण व्यक्त नहीं कर सकता इसलिये मरण सब कर्मों को अभिव्यक्त करता है, यह कल्पना अव्यापक है।

अब जो दीप का दृष्टांत दिया गया है उसका भी कर्मों का बलाबल दिखाने से खंडन हुआ। अथवा स्थूल और सूक्ष्म रूपों को अभिव्यक्त और अनभिव्यक्ति के समान यह होता है ऐसे समझना। जैसे दीप समान दूरी पर होते हुये भी स्थूल रूपों को अभिव्यक्त करता है परन्तु सूक्ष्म रूपों को अभिव्यक्त नहीं करता, इसी प्रकार सब अनारब्ध कर्मों को अवसर प्राप्त होने पर भी मरण समय बलवान कर्मों की ही वृत्ति उत्पन्न होती है, दुर्बल की नहीं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति और युक्ति के साथ विरोधी होने से सब कर्मों को मरण व्यक्त करता है यह मत असंगत है। अब कुछ कर्म शेष रहने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी यह भ्रान्ति व्यर्थ है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान से अशेष कर्म का क्षय होता है ऐसा श्रुति का कथन है, इसलिये सिद्ध हुआ कि जीव अनुशय सहित ही नीचे (इस लोक) में आते हैं।

नीचे आने के समय वे जीव जैसे ऊपर गये थे उससे किंचित् भिन्न प्रकार से नीचे उतरते हैं। 'यथेतम्' का अर्थ है जैसे ऊपर गये थे' और 'अनेवम्' का अर्थ है उससे भिन्न प्रकार से। पितृयान मार्ग में जिस धूम और आकाश का ग्रहण है उसका नीचे आने के समय भी उल्लेख होने से तथा श्रुति में 'यथेतम्' (जैसे ऊपर गये थे) ऐसे शब्द होने से वे जैसे गये थे वैसे ही उतरते हैं ऐसा विदित होता है। तथा रात्रि आदि का निर्देश वहां न होने से और अभ्र (बादल) आदि का विशेष निर्देश होने से जीव (किंचित्) भिन्न प्रकार से नीचे उतरता है ऐसा विदित होता है ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

चरणात् आचरण से [नया जन्म प्राप्त होता है] **इति** ऐसा **चेत्** कहो तो **न** वह ठीक नहीं है **उपलक्षणार्था** [वह श्रुति]

लाक्षणिक अर्थ वाली है इति ऐसा कार्ष्णाजिनिः कार्ष्णाजिनि आचार्य का मत है।

पूर्वपक्ष—'तद्य इह रमणीयचरणाः' [छां० ५। १०। ७] (जिनका यहाँ अच्छा आचरण होता है) यह श्रुति अनुशय का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये दी गई थी, परन्तु वास्तव में वह श्रुति आचरण से दूसरा जन्म प्राप्त होता है ऐसा वर्णन करती है, अनुशय से दूसरा जन्म प्राप्त होता है, ऐसा नहीं कहती। आचरण भिन्न है और अनुशय भिन्न है। आचरण का अर्थ आचार, चारित्र्य वा शील है और जिसका भोग हो चुका है ऐसे कर्म से अतिरिक्त जो कर्म है उनसे अनुशय का अभिप्राय है। श्रुति भी कर्म और आचरण का भिन्न भिन्न निर्देश करती है, जैसे 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' [वृ० ४। ४। ५] (जैसे जिसके आचार होते हैं और जैसे जिसके कर्म होते हैं वैसा वह होता है), 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि।' [तै० १। ११। २] (जो निर्दोष कर्म हैं उनको करना चाहिये, जो वैसे न हों उनको नहीं, तथा हमारे जो अच्छे आचरण हैं तुमको उनका ग्रहण करना चाहिये जो वैसे न हों उनका नहीं)। इसलिये आचरण से जन्म की प्राप्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन करने वाली श्रुति से अनुशय की सिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान– यह ठीक नहीं है; क्योंकि अनुशय के लाक्षणिक अर्थ में ही यहां पर श्रुति में 'चरण' (आचरण) शब्द आया है कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं॥ ९॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्॥ १०॥

आनर्थक्यम् [आचरण] निरर्थक हो जायगा **इति** ऐसा **चेत्** [कहो] तो **न** वह ठीक नहीं है; **तदपेक्षत्वात्** क्योंकि

[कर्म के लिये] उसकी (आचरण की) आवश्यकता है।

शंका —'आचार' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ जो शील है उसको छोड़कर 'अनुशय' ऐसा उसका लाक्षणिक अर्थ क्यों ग्रहण किया गया है ? श्रुति में कहे हुए विधि निषेध रूप शील (आचरण) ही जैसा अच्छा या बुरा हो उसीके अनुसार उसका शुभ अशुभ योनि की प्राप्ति रूप फल होगा। आचरण का भी कुछ फल तो अवश्य मानना ही पड़ेगा, अन्यथा वह निरर्थक हो जायगा।

समाधान—यह दोष नही प्राप्त होता, क्योंकि कर्म को उसकी अपेक्षा है। इष्ट आदि सब कर्म शील वा आचरण की अपेक्षा रखते हैं; क्योंकि जिसके आचार अच्छे नहीं हैं ऐसे किसी भी व्यक्ति को कर्म का अधिकार ही नहीं होता। 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:' (आचारहीन पुरुष को वेद पावन नहीं कर सकते) इत्यादि स्मृतियों से पुरुष के लिये भी आचार निरर्थक नहीं सिद्ध होते। इष्टादि कर्म समूह जब अपना २ फल देते हैं, तब उनकी अपेक्षा से ही आचार उसमें कुछ विशेष उत्पन्न करता है। कर्म सब पदार्थों को उत्पन्न करता है. यह बात श्रुति और स्मृति दोनों में प्रसिद्ध है। इसलिये आचार से उपलक्षित कर्म ही अनुशय रूप बनकर जन्म देने में कारणभूत होता है, ऐसा कार्ष्णाजिनि का मत है। कर्म से अन्य जन्म की प्राप्ति संभव होने पर शील से जन्म को प्राप्ति मानना युक्त नहीं है। जब पैर से दौड़ सकते हैं तब घोंटुओं से चलने का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

तु परन्तु [आचरण का अर्थ] **सुकृतदुष्कृते** सुकृत और दुष्कृत **एव** ही है **इति** ऐसा **बादरिः** बादरि आचार्य [मानते हैं]।

वादरि आचार्य का मत है कि 'चरण' शब्द से अभिप्राय सुकृत और दुष्कृत ही का है। चरण (आचरण), अनुष्ठान, कर्म, ये सब समानार्थक शब्द हैं। 'चर' धातु करना इस सामान्य अर्थ में प्रयोग किया जाता है, ऐसा देखने में आता है। क्योंकि जो इष्ट आदि लक्षण वाला पुण्य करता है उसको लोग यों कहते हैं कि यह महात्मा धर्म का आचरण करता है। आचार भी एक प्रकार का धर्म ही है। अब कर्म और आचरण का भिन्न निर्देश किया गया है वह ब्राह्मण—परिव्राजक न्याय से उपपन्न होता है (परिव्राजक ब्राह्मण ही होते हैं)। इसलिये रमणीय आचरण करने वाले अच्छे कर्म करने वाले हैं और निन्दित आचरण करने वाले बुरे कर्म करने वाले हैं ऐसा निर्णय होता है ॥ ११ ॥

३ अनिष्टादिकार्यधिकरण सू० १२-२१।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

अनिष्टाकारिणाम् इष्ट आदि कर्म न करनेवालों को **अपि च** भी [चन्द्र मंडल की प्राप्ति होती है ऐसा] **श्रुतम्** श्रुति में कथन है।

इष्ट आदि कर्म करने वाले चन्द्र मंडल को प्राप्त होते हैं ऐसा कहा, परन्तु इष्ट आदि कर्म नहीं करते वे भी चन्द्र मण्डल को जाते हैं अथवा नहीं जाते इसका अब विचार किया जाता है।

पूर्वपक्ष—इष्ट आदि कर्म करने वाले ही चन्द्र मण्डल को प्राप्त होते हों सो बात नहीं; क्योंकि जो इष्ट आदि कर्म नहीं करते उनको भी चन्द्र मण्डल को जाना पड़ता है ऐसा श्रुति कहती है। कौषीतकी शाखा वाले

अपनी शाखा में इस प्रकार सामान्यता से पढ़ते हैं कि 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' [कौषी० १।२] (जो कोई इस लोक से जाते हैं वे सब चन्द्र मंडल ही को प्राप्त होते हैं) वैसे ही, पुनः इस लोक में जन्म लेने वालों के देह की उत्पत्ति चन्द्र मण्डल को प्राप्त हुए विना नहीं होती; क्योंकि 'पंचम्यामाहुतौ' (पांचवीं आहुति में) ऐसा कहने से 'पांचवीं आहुति ही में' [यह शरीर बनता है] ऐसा संख्या का निश्चय दिया गया है। इससे सब ही चन्द्रमा के प्रति जांय; इष्ट आदि कर्म करने वाले तथा न करने वाले, दोनों को एक ही गति मिले यह ठीक नहीं, ऐसा कहो तो वैसा नहीं है; क्योंकि जो इष्टादि कर्म नहीं करते उनको वहां भोग की प्राप्ति नहीं होती ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ
तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

तु परन्तु इतरेषाम् अन्य संयमने यमलोक में अनुभूय [कष्ट] भोगकर [नीचे आते हैं और इस प्रकार उनका] आरोहावरोहौ आरोहावरोह होता है, तद्गतिदर्शनात् श्रुति में वैसी उनकी गति बताई होने से।

'परन्तु' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण सूचित करता है। यह बात नहीं है कि सभी चन्द्रलोक को जाते हों, क्योंकि चन्द्रलोक में जाना केवल भोग के निमित्त ही होता है; निष्प्रयोजन नहीं। न केवल फिर नीचे उतरने के लिये ही चन्द्रलोक में गमन होता है; जैसे कोई वृक्ष पर चढ़ता है तो फल फूल लेने के लिये ही

चढ़ता है, निष्प्रयोजन अथवा केवल गिरने के लिये कोई नहीं चढ़ता। इष्ट आदि कर्म न करने वालों को चन्द्रलोक में भोग नहीं होता, यह पहले कह चुके हैं। इसलिये, इष्ट आदि कर्म करने वाले ही चन्द्रलोक को जाते हैं, अन्य नहीं जाते और इतर लोग 'संयमन' नामक यमपुरी को प्राप्त होकर अपने किये हुए पाप कर्मों के अनुरूप जो यातना भोगनी है उसको भोगकर फिर इस लोक को लौटते हैं। उनका आरोह और अवरोह इस प्रकार का होता है; क्योंकि श्रुति में उनकी ऐसी ही गति का निर्देश मिलता है। वैसे ही यम के वचन की श्रुति इष्ट आदि कर्म न करने वाले मरने पर यमलोक को जाते हैं, ऐसा कहती है—
'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥'
[कठ० २। ६] (प्रमादशील यानी इष्ट आदि अच्छे कर्म न करने वाले और द्रव्य से मोह को प्राप्त हुए अज्ञानी जीव को परलोक साधन अच्छा नहीं प्रतीत होता। यही लोक है, परलोक है ही नहीं, ऐसा घमण्ड रखनेवाला वार बार मेरे वश में आता है)। इसी प्रकार 'वैवस्वतं संयमनं जनानाम्' (जिसके पास लोग जाते हैं ऐसे यम को) ऐसे बहुत प्रमाण श्रुति में मिलते हैं, जिनसे ऐसे लोग यम के वश में जाते हैं ऐसा विदित होता है ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

स्मरन्तिच स्मृतिकार भी ऐसा ही कहते हैं।

तथा मनु, व्यास आदि शिष्ट पुरुष संयमन नामक नगर में बुरे आचरण वाले अपने कर्मों के भोग भोगते हैं, ऐसा नाचिकेत के आख्यान आदि से कहते हैं ॥ १४ ॥

अपिच सप्त ॥ १५॥

अपिच तथा सप्त सात [नरकों का भी कथन है] ।

तथा रौरव आदि सात नरक बुरे कर्मों के फल भोगने के लिये होते हैं, ऐसा पौराणिक कहते हैं। उनको इष्ट आदि के अतिरिक्त कर्म करने वाले प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि वे चन्द्रलोक को कैसे प्राप्त होंगे ? अर्थात् नहीं होंगे ॥ १५ ॥

यदि कहो कि वे यम के अधीनता में अपने पाप कर्मों के फल रूप यातना भोगते हैं, यह कहना विरुद्ध है; क्योंकि रौरवादि नरकों में चित्रगुप्तादि अन्य अधिष्ठाता होते है ऐसी स्मृति है; (तो उसके उत्तर में कहते हैं कि—)

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

च और **तत्रापि** वहाँ भी **तद्व्यापारात्** यम का ही अधिकार होने से **अविरोधः** इसमें विरोध नहीं आता।

उन सातों नरकों में यम के अधिष्ठातृत्व में ही सब व्यापार होता है; ऐसा कथन होने से इसमें विरोध नहीं है। यम से प्रयुक्त हुए ही चित्रगुप्त आदि वहाँ के अधिष्ठाता बनते हैं; ऐसा स्मृति का कथन है ॥ १६ ॥

विद्या कर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

तु परन्तु [छांदोग्य श्रुति में] **विद्याकर्मणोः** विद्या और कर्म के [मार्ग से ही] **इति** अभिप्राय है, **प्रकृतत्वात्** क्योंकि प्रकरण से यही प्राप्त होता है।

पंचाग्नि विद्या में 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' [छाँ० ५ । ३ । ३] (यह चन्द्रलोक क्यों नहीं भरता सो तू जानता है ?) इस प्रश्न के उत्तर के प्रसंग में श्रुति कहती

है कि 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते ॥' [छां० ५।१०।८] (वार बार लौटने वाले क्षुद्र प्राणी इन दोनों मार्गों में से किसी से नहीं जाते। उत्पन्न होना और मरना जिसमें लगा हुआ है ऐसा एक तीसरा लोक इनके लिये है, इसीलिये यह चन्द्रलोक भर नहीं जाता)। इस श्रुति में 'एतयोः पथः' (इन दोनों मार्गों में से) इससे यहाँ विद्या और कर्म के ही दो मार्ग विवक्षित हैं. क्योंकि प्रकरण से यही प्राप्त होता है। देवयान और पितृयाण इन दो मार्गों की प्राप्ति के साधन रूप विद्या और कर्म ही यहाँ पर प्रकृत हैं, 'तद्य इत्थं विदुः' [छां० ५।१०।१] (इसलिये जो ऐसा जानते हैं) यहां तक विद्या का उपदेश है और उससे प्राप्त होने वाले देवयान मार्ग का निर्देश है तथा ' इष्टापूर्ते दत्तम्' [छां ५।१०।३] (इष्ट, पूर्त और दत्त) इससे कर्म का उपदेश है और उससे प्राप्त होने वाले पितृयाण मार्ग का निर्देश है। इसी प्रकरण में आगे 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' यह श्रुति आई हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिनका विद्या साधन के अभाव से देवयान में अधिकार नहीं है तथा कर्म के अभाव से पितृयाण में भी अधिकार नहीं है उनके लिये क्षुद्र जन्तुओं के योग्य ऐसा, और जिसमें वार वार लौटना पड़े ऐसा एक तीसरा मार्ग है। इस कारण से भी बुरे कर्म करने वाले चन्द्रलोक में नहीं जाते, यह प्राप्त होता है। यदि कहो कि ये लोग भी चन्द्रलोक को प्राप्त होकर पश्चात् क्षुद्र जन्तुओ की योनि को प्राप्त होंगे तो वह ठीक नहीं है क्योंकि इनका इस अवस्था में चन्द्रलोक के प्रति जाना ही निरर्थक है। तथा सभी मरने पर चन्द्रलोक को प्राप्त हो जांय तो इनसे वह लोक भर जायगा और इससे प्रश्न के

विरुद्ध भाव की सिद्धि होगी और यह भी उत्तर देना शेष रहेगा कि यह लोक भर क्यों नहीं जाता। यदि कहो कि इनका अवरोह मानने से वह लोक क्यों नहीं भरता इसकी उपपत्ति लग सकती है, तो वह ठीक नहीं है क्योंकि वैसा श्रुति का प्रमाण नहीं है। अवरोह की कल्पना से इस लोक के असंपूर्ण रहने की उपपत्ति लग सकती है यह ठीक है, परन्तु श्रुति तो तीसरे स्थान के कथन से उसके असंपूर्ण रहने की उपपत्ति देती है; जैसे 'एतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' [छां० ५।१०। ८] (वह तीसरा स्थान है, इसलिये यह लोक संपूर्ण नहीं होता)। इसलिये इनके आरोह न करने ही से चन्द्रलोक भर नहीं जाता, यही युक्त है। अवरोह तो इष्ट आदि कर्म करने वालों का भी समान रूप से होने से तृतीय स्थान का वर्णन निरर्थक हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा।

सूत्र का 'तु' (परन्तु) शब्द अन्य शाखाओं की श्रुतियों से सभी चन्द्र मंडल को प्राप्त होते हैं ऐसी शंका को निर्मूल करता है। ऐसा होने से, प्रकरण की अपेक्षा से अन्य शाखाओं की श्रुति में जो सर्व शब्द आता है उसका भाव यह है कि जिनका अधिकार है, ऐसे ही सब लोग जब इस लोक से जाते हैं तब वे चन्द्रमा ही को प्राप्त होते हैं॥ १७॥

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि देह प्राप्त करने के लिये सभी को चन्द्र मण्डल के प्रति जाना पड़ेगा; क्योंकि 'पांचवीं आहुति के समय' इस प्रकार आहुति की संख्या नियत है, इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

तृतीये तीसरे मार्ग में न वैसा नहीं होता, क्योंकि तथा वैसा ही उपलब्धेः देखने में आता है।

तीसरे स्थान में देह प्राप्ति के लिये पांचवीं आहुतियों के संख्या का नियम लेने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वैसा ही उपलब्ध होता हैं। आहुतियों की संख्या के नियम के विना ही ऊपर वर्णन किये हुए प्रकार से तीसरे स्थान की प्राप्ति उपलब्ध होती है, जैसे, 'जायस्वम्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम् [छाँ०५।१०।८] (जन्म और मृत्यु जिसमें बार बार हुआ करता है ऐसा यह तीसरा लोक है)। अब 'पंचभ्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवंति' [छां० ५।३।३] (पाँचवीं आहुति के समय जल को पुरुष कहते हैं) ऐसा जो आहुतियों की संख्या का नियम कहा है, वह मनुष्य शरीर के हेतु कहा है, कीट पतंग आदि के शरीर प्राप्ति के लिये यह नियम नहीं है; क्योंकि पुरुष शब्द मनुष्य जाति का ही वाचक है। यदि कहें कि श्रुति पांचवीं आहुति के समय जल को पुरुष कहते हैं, इससे इतर आहुतियों के समय जल को पुरुष कहते हैं इसका निषेध होता है, तो इससे उस वाक्य के दो अर्थ होने का दोष प्राप्त होता है। इसलिये उसका यही अर्थ है कि जिनका आरोह और अवरोह संभव है; उनका पांचवीं आहुति से देह उत्पन्न होता हैं और इतर जीवों का आहुतियों के संख्या नियम के विना ही इतर भूतों से युक्त जल से देह उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अपिच तथा लोके जगत् में भी **स्मर्यते** [यह] प्रसिद्ध है।

तथा जगत् में भी यह प्रसिद्ध है। द्रोण धृष्टद्युम्न, आदि तथा सीता द्रोपदी आदि अयोनिज ही थे। द्रोण आदि को तो एक स्त्री विषयक आहुति का अभाव है परन्तु धृष्टद्युम्न आदि के सम्बन्ध में तो स्त्री बिषयक तथा पुरुष विषयक दोनों आहु-

तियों का अभाव है। जैसा इनमें आहुतियों की संख्या का विचार नहीं किया जाता वैसा ही यहां होता है। वगुलियां भी रेत-सिंचन के बिना ही गर्भ धारण करती हैं; यह जगत् में प्रसिद्ध ही है ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

च वैसा ही **दर्शनात्** देखने में आता है।

जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के प्राणियों में स्वेदज और उद्भिज्ज ये दो प्रकार के प्राणी बिना स्त्री संग ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये यहाँ भी आहुतियों की संख्या का नियम नहीं रहता। वैसे ही अन्यत्र भी होता है [ऐसा जानना चाहिये] ॥ २० ॥

शंका—'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' [छां० ६।३।१] (ऐसे इन भूतों के तीन ही बीज होते हैं, अंडज, जरायुज और उद्भिज्ज) इस श्रुति में भूत प्राणी तीन ही प्रकार के वताये हैं, फिर चार प्रकार के प्राणी हैं ऐसा किस प्रकार कहा ?

इसका उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

संशोकजस्य स्वेदज प्राणियों का **तृतीयशब्दावरोधः** तीसरे शब्द ही में अन्तर्भाव होता है।

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' [६।३।१] आण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज) इसमें तीसरा जो उद्भिज्ज शब्द हैं, इसी में स्वेदज प्राणियों का अन्तर्भाव होता है, ऐसा समझना चाहिये। स्वेदज और उद्भिज्ज दोनों की उत्पत्ति भूमि और जल को भेद कर

समान रूप से होती है। स्थावरों (वृक्षों आदि) के उद्भेद से जंगमों (चलने वाले जीव) का उद्भेद विलक्षण होता है, इसीलिये कहीं पर इसका भिन्न कथन होता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं रहता ॥ २१ ॥

४ साभाव्यापत्त्यधिकरण।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

साभाव्यापत्तिः [इस लोक को लौटते समय जीवों को आकाशादि से] साम्य की प्राप्ति होती है, उपपत्तेः क्योंकि यही युक्त प्रतीत है।

इष्ट आदि कर्म करने वाले चन्द्रलोक को प्राप्त होकर संपात काल तक वहां रहते हैं और पश्चात अनुशय सहित इस लोक में आते हैं ऐसा कहा, अब वे किस प्रकार इस लोक के प्रति आते हैं इसका विचार करते हैं—'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' [छा० ५।१०।५] (पश्चात जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से फिर लौटते हैं, जैसे प्रथम आकाश को, आकाश से वायु को, वायु बन कर धूम होता है, धूम बन कर पश्चात वह मेघ होता है और मेघ होकर वर्षा करता है) यह श्रुति है। यहां पर शंका होती है कि अवरोह काल में जीव आकाशादि के स्वरूप ही को प्राप्त होता है अथवा उनके साम्य को ?

पूर्वपक्ष—आकाशादि के स्वरूप ही को जीव प्राप्त होता है, क्योंकि श्रुति ऐसा ही कथन करती है। ऐसा न स्वीकार करो तो लक्षणा माननी पड़ेगी और श्रुति कथन और लक्षणा इनमें

सीधा श्रुति कथन ही ग्रहण करना युक्त है। 'वायु होकर धूम होता है' इत्यादि शब्द उन उन स्वरूपों की प्राप्ति मानने ही से ठीक बैठते हैं, इसलिये आकाशादि के स्वरूप की ही प्राप्ति होती है, ऐसा प्राप्त होता है।

समाधान—[जीवों को] आकाशादि से साम्यता ही प्राप्त होती है। चन्द्र मण्डल में जो प्रारब्ध के उपभोग के लिये जलमय शरीर प्राप्त होता है, वह भोग का क्षय होने पर लय को प्राप्त होकर सूक्ष्म आकाश के समान हो जाता है, पश्चात वह वायु के वश में जाता है और धूम आदि से युक्त होता है, इसीको कहा है कि 'यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' [छा० ५।१०।५] (जैसे वे गये वैसे ही वे आकाश के प्रति लौटते हैं और आकाश से वायु के प्रति) इत्यादि। यह कैसे माना जायेगा ? उपपत्ति से यही बात संभव है इसलिये, क्योंकि एक का भाव दूसरे को मुख्य रूप से प्राप्त हो, यह संभव नहीं हैं। आकाश के विभु होने से उसका सब पदार्थों से नित्य सम्बन्ध होने से उसके सादृश्य के अतिरिक्त और कोई भी सम्बन्ध आकाश में नहीं घटता। जब श्रुति का (सरल) अर्थ असंभव हो तब लक्षणा ग्रहण करना न्याय ही है। इसलिये आकाशादि के समान भाव को प्राप्त होना ही आकाशादि के भाव को प्राप्त होना गौण रूप से कहा गया है ॥ २२ ॥

५ नातिचिराधिकरण।

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

[जीव आकाशादि के समान होकर] **नातिचिरेण** अधिक काल [नहीं रहता] **विशेषात्** क्योंकि श्रुति में विशेष का कथन है।

जब जीव आकाशादि के प्रति प्राप्त होता है तब व्रीहि आदि भाव को प्राप्त होने के पहले पूर्व पूर्व पदार्थ से अधिक काल तक समान भाव से रह कर उत्तर उत्तर पदार्थ के भाव को प्राप्त होता है अथवा थोड़ा थोड़ा काल रह कर ही दूसरे भाव को प्राप्त है; इसका विचार करना चाहिये।

पूर्वपक्ष—इसका नियम बताने वाले शास्त्रों का अभाव होने से इसका कोई नियम प्रतीत नहीं होता।

समाधान—सूत्रकार इसी का निश्चय 'नातिचिरेण' इत्यादि से करते हैं। थोड़ा थोड़ा काल आकाशादि भावों में रहकर वे वर्षा की धाराओं के साथ इस भूमि को प्राप्त होते हैं। यह कैसे जाना ? श्रुति में विशेष का कथन हैं इससे। जीव व्रीहि आदि भावको प्राप्त होते है, ऐसा कहकर श्रुति कहती है कि 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' [छां० ५।१०।६] (जहां से अत्यन्त कष्ट से मुक्ति होती है ऐसा यह है)। वैदिक प्रक्रिया में एक तकार लुप्त है, ऐसा मानना चाहिये (शुद्ध रूप 'निष्प्रपततरम्' ऐसा हैं)। व्रीहि आदि भाव से विमुक्ति अत्यन्त कष्ट के साथ होती है यही इसका भाव है। यहां पर कष्ट के साथ निकलने का निर्देश करके पूर्व में सुख पूर्वक निष्क्रमण होता है ऐसा श्रुति दिखाती है। इन निष्क्रमणों में जो सुख दुःख का न्यूनाधिक भाव है वह दीर्घ अथवा अल्प काल की स्थिति के हेतु है, क्योंकि उस काल में शरीर उपलब्ध न होने से उपभोग असंभव है। इसीलिये व्रीहि आदि भाव को प्राप्त होने के पूर्व थोड़े थोड़े काल ही में (आकाशादि से) अवरोह को प्राप्त होता है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २३ ॥

६ अन्याधिष्ठिताधिकरण। सू० २४-२७

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

[जीव] **पूर्ववत्** पहले के समान **अन्याधिष्ठितेषु** अन्य

[जीवों से] अधिष्ठित [व्रीहि आदि से संयुक्त होते हैं,] **अभिलापात्** क्योंकि वैसा ही श्रुति का कथन है।

उसी अवरोह प्रकरण में वर्षारूप से जीव नीचे उतरते हैं, ऐसा कहकर पश्चात् कहा है कि 'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' [छाँ ५।१०।६] (वे यहां पर व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष आदि रूप से उत्पन्न होते हैं), यहाँ पर संशय होता है कि अनुशय वाले जीव जब स्थावर जाति को प्राप्त होते हैं तब उस समय वे स्थावर योनि के सुख दुःख का अनुभव करते हैं अथवा जीवों से अधिष्ठित ऐसे स्थावर शरीरों से केवल संयोग को प्राप्त होते हैं।

पूर्वपक्ष—अनुशय युक्त जीव स्थावर जाति को प्राप्त होकर स्थावर जाति के सुख दुःख को अनुभव करते हैं यह कहां से जाना ? 'जन्' जन्म लेना इस धातु के मुख्य अर्थ से यही युक्त है तथा स्थावर योनि उपभोग का स्थान है यह श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है। पशु हिंसा आदि से युक्त होने से इष्टादि कर्मों के अनिष्ट फल भी प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये अनुशयवाले जीवों का व्रीहि आदि जन्म श्वान आदि के जन्म के समान मुख्य ही है। जैसे 'यथाश्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चांडालयोनिं वा' [छां० ५।१०।७] (कुत्ते के जन्म को, शूकर के जन्म को अथवा चांडाल के जन्म को प्राप्त होते हैं), इस श्रुति के अनुसार अनुशय वाले जीवोंका श्वान आदि का जन्म मुख्य ही है और उस जाति के सुख दुःखसे युक्त होता है। इसी प्रकार व्रीहि आदि जन्म का है।

समाधान—जैसे पहले आकाशादि में होता था वैसे अन्य जीवों से अधिष्ठित ऐसे व्रीहि यव आदि के साथ अनुशय वाले

जीवों का केवल संसर्ग ही होता है, वे उनके सुख दुःखों के भागी नहीं बनते। जैसे अनुशय वाले जीवों को वायु, धूम आदि भावों की प्राप्ति केवल उनके संबंध ही से होती है, वैसे ही व्रीहि यवादि भाव भी केवल उनके संसर्ग ही से प्राप्त होते हैं। यह कैसे जानें? वहां के समान यहां भी ऐसा ही श्रुति का कथन है। वहां के समान यहां भी श्रुति का कथन किस प्रकार है? अन्य कर्म का व्यापार न करते हुए ही (वे व्रीहि आदि के जन्म को प्राप्त होते हैं ऐसा) कहा है। जैसे जीव आकाशादि से लेकर वर्षा के धारा तक बीच में कोई कर्म किये बिना ही जन्म लेता है, ऐसा श्रुति कहती है वैसा ही व्रीहि यवादि के सम्बन्ध में कथन है। इसलिये अनुशय वाले जीव को अन्यत्र कहीं भी सुख दुःख का भोग नहीं होता। जहां पर श्रुति सुख दुःख के भोग से अभिप्राय रखती है वहां पर 'रमणीयचरणाः कपूयचरणाः' (अच्छे आचरण वाले, बुरे आचरण वाले) इस प्रकार कर्म करने का निर्देश करती है। यदि अनुशय वाले जीव का व्रीहि यवादि का मुख्य जन्म माना जाय तो व्रीहि आदि काटे जांय, कूटे जांय, पकाये जाँय और खाये जांय तब उनके अभिमानी अनुशय वाले जीव उस अवस्था में उनमें से निकल जायेंगे, क्योंकि जो जीव जिस शरीर का अभिमान रखता है उसको पीड़ा प्राप्त होने से वह उसमें से निकल जाता है यह बात प्रसिद्ध है और इस अवस्था में अनुशय वाले जीव व्रीहि आदि भाव से रेत सेचन करने वाले के भाव को प्राप्त होते हैं ऐसा श्रुति कह नहीं सकती, इसलिये अन्य जीवों से अधिष्ठित ऐसे व्रीहि आदि से अनुशय वाले जीवों का संसर्ग मात्र होता है। इससे 'जनि' धातु का मुख्यार्थ में प्रयोग है तथा स्थावर जाति उपभोग का स्थान होता है, इन दोनों

बातों का प्रतिवाद हुआ। स्थावर जाति उपभोग का स्थान ही नहीं है ऐसा हमारा भाव नहीं है। अन्य जीव पाप के बल से स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं, तब वह उनके लिये भोग का स्थान हो जाता है। चन्द्रलोक से नीचे उतरने वाले अनुशय वाले जीव स्थावर भाव में भोग को प्राप्त नहीं होते यही हमारा कहना है ॥ २४ ॥

अशुद्धमितिचेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

अशुद्धम् [इष्टादि कर्म] अशुद्ध हैं, **इतिचेत्** ऐसा यदि कहो तो न वह ठीक नहीं है; **शब्दात्** क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है।

अब जो पहिले पूर्वपक्ष में कहा था कि पशु हिंसा आदि से युक्त होने से यज्ञयागादि कर्म अशुद्ध है, इसलिये उसका अनिष्ट फल हो सकता है और इसलिये अनुशय वाले जीवों का व्रीहि आदि का जन्म मुख्य ही है वहां गौण भाव की कल्पना करना अनर्थकारी है, उसका अब परिहार करते हैं।

पूर्वपक्ष का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्म का निश्चय शास्त्र द्वारा ही होता है। यह धर्म है और यह अधर्म है ऐसा निश्चय शास्त्र ही से होता है, तथा इनके देश काल तथा हेतु अनियत ही होते हैं। जिस देश में जिस काल में जिस निमित्त से धर्म होता है, वही देश काल निमित्त के भेद से अधर्म होता है। इसलिये धर्म और अधर्म का निश्चित ज्ञान बिना शास्त्र के किसी को नहीं हो सकता। अब शास्त्र ने जिस हिंसा, अनुग्रह आदि युक्त ज्योतिष्टोम यज्ञ को धर्म रूप से प्रतिपादन किया है, उसको अशुद्ध वा अधर्म रूप कौन कह सकता है ? यदि कहो कि 'न हिंस्यात्सर्वंभूतानि' (किसी जीव को

हिंसा न करनी चाहिये) ऐसा कहकर शास्त्र ही जीव हिंसा को अधर्म बताता है तो यह ठीक नहीं। यह उत्सर्ग यानी सामान्य नियम है; और 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नि और सोम के लिये पशु का वध करना चाहिये), यह अपवाद है। सामान्य नियम और अपवाद इनके विषय भिन्न भिन्न हैं। इसलिये वैदिक कर्म विशुद्ध ही है; क्योंकि शिष्ट लोग इसका आचरण करते हैं तथा इसको कोई निन्दा नही करता। इसलिये उसका स्थावर योनिरूप विरुद्ध फल हो नहीं सकता। श्वान आदि के जन्म के समान भी व्रीहि आदि का जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह जन्म बुरे आचरण वालों का होता है ऐसा कहा है, वैसा यहाँ पर किसी भी विशेष (आचरण) का कथन नहीं है। इसलिये चन्द्रमण्डल से नीचे गिरने वाले अनुशय वाले जीवों को जो व्रीहि यवादि भाव केलल संसर्ग रूप होता है उसीको वे व्रीहि यवादि के भाव को प्राप्त होते हैं, ऐसा गौण रूप से कहा जाता है ॥ २५ ॥

रेतः सिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

अथ पश्चात् **रेतः सिग्योगः** [जीव का] रेत सेचन करने वाले से संयोग होता है।

और इस कारण से भी व्रीहि आदि से संयुक्त होना ही उनके भाव को प्राप्त होना है कि, श्रुति में 'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति' [छां० ५ । १० । ६] (जो जो अन्न भक्षण करता है, जो जो रेत सिंचन करता है वह वह फिर वही होता है यानी जीव ही होता है), इससे अनुशय युक्त जीवों को व्रीहि आदि का भाव प्राप्त होने के पश्चात् उनको रेतसेचकों की स्थिति प्राप्त होती है, ऐसा श्रुति कथन करती हैं।

यहाँ पर रेत सिंचने वाले के भाव को प्राप्त होना संभव नहीं हैं; क्योंकि जन्म के पश्चात् दीर्घकाल में ही यौवन की प्राप्ति होने पर पुरुष रेत सेचक बन सकता है। अर्थात् खाये हुए अन्न में अनुगत हुए अनुशय युक्त जीव को रेत सेचक का भाव किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? यहां भी रेतसेचक से योग होना ही रेतसेचक के भाव को प्राप्त होना है ऐसा ही अवश्य मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार व्रीहि आदि भाव भी व्रीहि आदि से संयोग होना ही है, इसमें कोई विरोध नहीं प्राप्त होता ॥ २६ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

योने योनि से **शरीरम्** शरीर [उत्पन्न होता है]।

पश्चात् रेत सेचक के भाव के अनन्तर योनि में रेत सिंचन होने पर योनि से अनुशयी के अनुशय के फल का भोग भोगने के लिये शरीर उत्पन्न होता है, ऐसा 'तद्य इह रमणीय चरणाः' [छां० ५।१०।७] (इनमें जिनके अच्छे आचरण होते हैं) इत्यादि से श्रुति कहती है। इससे भी जाना जाता है कि अवरोह के समय जब व्रीहि आदि भाव को प्राप्त होते हैं, तब वे उनके ही शरीर हो, इस प्रकार वे उनके सुख दुःखों से युक्त नहीं होते ऐसा प्रतीत होता है। इससे व्रीहि आदि से संयुक्त होना ही अनुशय वाले जीव को उनके भाव को प्राप्त होना है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥२७॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के तृतीय अध्याय का प्रथम पाद
समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद ।

१ संध्याधिकरण । सू० १–६

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

संध्ये संधि में **हि** ही **सृष्टि** सृष्टि [उत्पन्न होती है] **आह** [क्योंकि श्रुति ऐसा ही] कहती है ।

प्रथम पाद में पंचाग्नि विद्या को लेकर जीव की संसार गति का सविस्तार वर्णन किया, अब उसी की भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। श्रुति इस प्रकार है—'यत्र प्रस्वपिति' (जहां वह सो जाता है) यहां से प्रारम्भ करके 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' [बृ० ४।३।१०] (न वहां रथ होते हैं, न घोड़े होते हैं न मार्ग होते हैं, वही रथ, घोड़े तथा मार्ग को उत्पन्न कर लेता है) इत्यादि । यहां पर संशय होता है कि क्या जाग्रत अवस्था के समान स्वप्न में भी पारमार्थिक सृष्टि होती है, अथवा मायामय सृष्टि होती है ।

पूर्वपक्ष—संधि में सृष्टि सद्रूप ही होती है । संधि से स्वप्न स्थान का निर्देश किया गया है; क्योंकि वेद में 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' [बृ० ४।३।९] (तीसरा स्वप्न स्थान संधि है) ऐसा प्रयोग देखने में आता है । दोनों लोकों के बीच में अथवा जाग्रत और निद्रा इन दो अवस्थाओं के बीच में होने से इसको संधि कहते हैं । इस संधि स्थान में सद्रूप ही सृष्टि होनी चाहिये; क्योंकि, प्रमाण रूप श्रुति ऐसा कहती है कि, 'अथ रथान्रथयो-गान्पथः सृजते' [बृ० ४ । ३ । १०] (पश्चात् रथ, घोड़े और

मार्ग को वह उत्पन्न कर लेता है) इत्यादि। इसमें आगे 'वही कर्ता है' ऐसा उपसंहार होने से यही विदित होता है ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

च और **एके** एक [शाखा के लोग] **निर्माता** [आत्मा काम को] निर्माण करने वाला है [ऐसा कहते हैं] **च** और [वह काम है] **पुत्रादय** पुत्र आदि।

तथा एक शाखा के लोग इसी सन्ध्या स्थान में यानी स्वप्न में आत्मा कामनाओं को (काम को) उत्पन्न करता है ऐसा कहते हैं; जैसे, 'य एष सुप्तेषु जाग्रति काम कामं पुरुषो निर्मिमाणः' [कठ० ५ । ८] (जो यह पुरुष इनके सोने पर जागता है और सब वांछित पदार्थों को उत्पन्न करता है) यहां पर काम से अभिप्राय पुत्रादि की कामना से है यानी वे पुत्रादि की कामना करते हैं।

यदि कहो कि शब्द से उनका अभिप्राय इच्छा विशेष से होगा, तो वह ठीक नहीं; क्योंकि 'शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व' [क० १ । २३] (शतायुषी पुत्र और पौत्र के लिये वर मांग) यहां से प्रारम्भ करके 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' [क० १ । १४] (काम यानी पुत्रादि की तेरी सब इच्छाएं मैं पूर्ण करता हूँ) इस प्रकार अन्त में कहा है, इससे यहां पर पुत्र आदि का ही प्रकरण में निर्देश होने से उसी के अर्थ में 'काम' शब्द का प्रयोग है ऐसा प्रतीत होता है। तथा यहाँ पर प्राज्ञ (आत्मा) ही को निर्माता कहा है, यह प्रकरण और वाक्य के अन्तिम भाग से (वाक्य शेष से) विदित होता है; क्योंकि यहां पर 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' [क० २ । १४] (धर्म से

अन्य तथा अधर्म से अन्य) इत्यादि से प्राज्ञ हो का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस प्रकरण का तथा 'तदेव शुक्र" तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥' [क० ५। ८] (वही शुक्र है, वह ब्रह्म है तथा वही अमृत कहा जाता है। उसी में सब लोक रहे हुए हैं तथा उसके आगे कोई नहीं जाता यानी उसके आगे कुछ नहीं है) यह वाक्य शेष भी उसी के विषय का है। प्राज्ञ की जाग्रत की सृष्टि सत्य मानी गई है इसलिये स्वप्न की सृष्टि भी सत्य ही होनी चाहिये। श्रुति भी वैसा ही कहती है:—'अथो खल्वाहुर्जागरित-देश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः ॥' [बृ० ४। ३। १४] (अब यही इसका जाग्रत के देश के समान देश है, ऐसा वे कहते हैं; क्योंकि जाग्रत् में जीव जो पदार्थ देखता है वही स्वप्न में देखता है) इस श्रुति से जाग्रत और स्वप्न एक से ही हैं ऐसा निर्दिष्ट होता है। इसलिये संधि में सृष्टि सत्य ही है ऐसा वे प्रतिपादन करते हैं ॥ २ ॥

अब इस पर प्रत्युत्तर देते हैं—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

तु परन्तु [स्वप्न] **मायामात्रम्** केवल माया यानी भ्रांति है, क्योंकि, **कार्त्स्न्येन** उसकी सम्पूर्ण रूप से **अनभिव्यक्त-स्वरूपत्वात्** अभिव्यक्ति नहीं होती।

'तु' (परन्तु) शब्द पक्षान्तर को सूचन करता है। जो पूर्वपक्ष में कहा था कि संधि में यानी स्वप्न में सृष्टि पारमार्थिक है वह ठीक नहीं है। स्वप्न में सृष्टि मिथ्या ही है, वहां परमार्थ का गंध भी नहीं है, क्योंकि पदार्थ के स्वरूप की वहां पूर्ण

रूप से अभिव्यक्ति नहीं होती। स्वप्न में यथार्थ पदार्थ के धर्मों की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती, यहां पर सम्पूर्ण कहने से अभिप्राय (पदार्थों के) देश, काल और निमित्त की प्राप्ति तथा उनके बाध के अभाव से है। परमार्थरूप वस्तु ही में संभव ऐसे देश, काल तथा निमित्त की प्राप्ति तथा उसके बाधका अभाव स्वप्न में संभव नहीं है। प्रथम न तो स्वप्न में रथादि के लिये देश ही संभव है और न छोटे से देह में रथादि को अवकाश मिलना ही संभव है।

यदि कोई कहे कि 'स्वप्न में जीव देह के बाहर देखता है (ऐसा मानना चाहिये), क्योंकि अन्य देश में रही हुई वस्तुओं का भी स्वप्न में ग्रहण होता है। श्रुति भी देह के बाहर स्वप्न होता हैं. ऐसा प्रतिपादन करती है; जैसे, वहिष्कुलायादमृततश्चरित्वा स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' [बृ० ४।३।१२] अमृत रूप आत्मा देह के बाहर घूम फिर कर वह अमृत रूप चाहे जहाँ जाता है)। यहां पर यदि जीव देह के बाहर नहीं निकलेगा तो उसकी भिन्न स्थिति, भिन्न स्थान के प्रति गमन और भिन्न प्रकार का अनुभव, यह सब युक्त नहीं होंगे.'

इस पर उत्तर देते हैं कि यह ठीक नहीं है। क्षणभर ही में सैकड़ों योजन दूर देश में जाना तथा लौट आना यह सामर्थ्य सोये हुए प्राणी में होना संभव नहीं है। वैसे ही, कभी तो ऐसा स्वप्न होता है जिसमें लौटने का भाव ही नहीं होता, जैसे कोई अपना स्वप्न सुनाते हैं कि 'मैं अभी कुरुदेश में सोया था; सोने पर स्वप्न में मैं पंचाल देश में गया और वहाँ जाने पर जाग गया।' यदि देह से निकल कर वह पंचाल देश में गया होता

तो वह वहाँ गया ऐसा मानते हुए भी फिर कुरुदेश ही में जागृत न होता। जिस देह से वह अन्य देश को गया था ऐसा वह मानता है उस देह के पास रहने वाले उसे शयन के देश ही पाते हैं। दूसरे, यह जैसे अन्य देश स्वप्न में देखता है वैसे वे होते भी नहीं। यदि वह दौड़कर जाता और देखता तो उसको वह जैसा था वैसा ही जानने में आता। अतिरिक्त इसके 'स यत्रैतस्वप्न्यया-चरति' (जब वह स्वप्न में घूमता है) इस प्रकार आरम्भ करके 'स्वे शरीरे यथा कामं परिवर्तते' [बृ० २। १। १८] (वह अपने शरीर में जैसा चाहे वैसा घूमता है) इस प्रकार श्रुति भी शरीर के भीतर ही स्वप्न होता है ऐसा कहती है। इसलिये श्रुतिसंगति में विरोध प्राप्त होने से शरीर के बाहर स्वप्न होता है ऐसा कहने वाली श्रुति को गौण मानकर 'देह के बाहर ही इस प्रकार' ऐसी उसकी व्याख्या करनी चाहिये; क्योंकि जो शरीर में रहते हुए उससे कुछ भी कार्य नहीं करता वह शरीर के बाहर होने के समान ही है। तथा वैसा होने से उसकी (भिन्न प्रकार की) स्थिति, गमन और अनुभव भी सब मिथ्या ही है ऐसा जानना चाहिये। स्वप्न में काल का भी विरोध होता है, क्योंकि रात का सोया भारतवर्ष में उस समय दिन है ऐसा मानता है। तथा मुहूर्त भर के स्वप्न में अनेक वर्ष बिताता है। स्वप्न में ज्ञान तथा क्रिया के लिये आवश्यक इन्द्रियां भी विद्य-मान नहीं होतीं; क्योंकि इन्द्रियां जीव ने अपने भीतर खींचली हुई होने से वहाँपर रथ आदि का ग्रहण करने के लिये चक्षु आदि इन्द्रियाँ वर्तमान नहीं होती; वैसे ही रथादि निर्माण करने के लिये इसके पास क्षण भर में इतना सामर्थ्य तथा काष्ठ आदि कहां से आये ? ये स्वप्न में देखे हुए रथ आदि का जागने पर बाध होजाता है। इतना ही नहीं, स्वप्न में भी इनका सहज

में बाध होसकता है, क्योंकि इनके आदि और अन्त में वे विभिन्न प्रतीत होते हैं। क्षण में यह रथ है ऐसा जिसका निश्चय किया, वही दूसरे क्षण में मनुष्य बन जाता है और यह मनुष्य है ऐसा निश्चय होकर तीसरे क्षण में वह वृक्ष बन जाता है। शास्त्र भी स्पष्ट शब्दों में स्वप्न में रथादि के अभाव का कथन करते हैं; जैसे, 'न तत्र रथा रथयोगा न पंथानो भवंति' [बृ० ४।३।१०] (न वहाँ रथ है न घोड़े और न मार्ग भी है) इत्यादि। इसलिये स्वप्न में देखे हुए पदार्थ मिथ्या ही हैं ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

च और [स्वप्न नितान्त मिथ्या नहीं होता] **हि** क्योंकि **सूचकः** वह [अच्छे बुरे का] सूचक होता है। **श्रुतेः** ऐसा श्रुति से [जाना जाता है] **च** और **तद्विदः** स्वप्न शास्त्र के वेत्ता लोग भी **आचक्षते** [वैसा ही] कहते हैं।

यदि कहो कि 'केवल मिथ्या रूप होने से स्वप्न में सत्यता का गन्ध भी नहीं हैं तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि आगे होने वाले शुभ और अशुभ का स्वप्न सूचक होता है। श्रुति ऐसा ही कहती है, 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥' [छां० ५।२।८] (काम्य कर्म करते हुए यदि स्वप्न में कोई स्त्री देखे तो ऐसे स्वप्न के आने से उसका कार्य सिद्ध होगा ऐसा जानना चाहिये), वैसे ही आगे, 'पुरुष कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' (कृष्ण वर्ण का और काले दांत वाला पुरुष दिखाई दे तो वह उसका घातक होता है) इत्यादि स्वप्नों से शीघ्र मृत्यु का ज्ञान होता हैं, ऐसा श्रुति कहती है। स्वप्न शास्त्र जानने वाले कहते है कि स्वप्न में हाथी पर बैठना आदि शुभ सूचक हैं और गधे पर

वैठना आदि अशुभ सूचक हैं। मंत्र देवता दथा द्रव्य आदि विशेष कारणों से होने वाले वहुत से स्वप्न भी सत्यता का अंश लिये होते हैं ऐसी मान्यता है।' तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर भी जिन बातों का स्वप्न सूचन करते हैं वे भले ही सत्य हों परन्तु स्त्री इत्यादि सूचक पदार्थों के देखने में तो, उनका पश्चात् वाध होने से, वे मिथ्या ही है यही हमारा अभिप्राय है। इसलिये स्वप्न भ्रम मात्र है यही सिद्ध हुआ।

अव प्रथम सूत्र में जिस श्रुति का निदेंश किया गया है, उसको गौण समझना चाहिये। जैसे कोई कहे कि हल वैल आदि की रक्षा करता हैं तो केवल वे रक्षा का हेतु होने ही से ऐसा कहा जाता है, कहीं प्रत्यक्ष हल वैल आदि की रक्षा नहीं करते। इसी प्रकार केवल निमित्त रूप से स्वप्न द्रष्टा रथ आदि को निर्माण करता है तो भी उसको उनका कर्त्ता कहते हैं, कहीं प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न द्रष्टा रथ आदि को उत्पन्न नहीं करता। रथ आदि के देखने से उनको जो सुख दुःख आदि होते हैं उनका कारण उसके किये हुए सुकृत वा दुष्कृत हैं, इसलिये वह उनका निमित्त वा कर्त्ता है ऐसा कहना प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, जाग्रत अवस्था में सूर्य की ज्योति के संपर्क में इन्द्रियों का विषयों से संयोग होने से आत्मा के स्वयं प्रकाशत्व का विवेचन करना कठिन हो जाता है, उसके समझने के लिये स्वप्न रखा गया है। वहाँ यदि श्रुति के प्रमाण से रथ आदि की उत्पत्ति सत्य मान ली जाय तो आत्मा के स्ववं ज्योतित्व का निर्णय नहीं हो सकेगा। इसलिये रथ आदि के अभाव का कथन करने वाली श्रुति प्रमाण तथा रथ आदि के उत्पत्ति की श्रुति गौण है ऐसा कहना चाहिये। इस प्रकार स्वप्न में सृष्टि की उत्पत्ति का कथन करने वाली श्रुति का व्याख्यान हुआ।

अब जो पूर्वपक्ष में कठ श्रुति के आधार से कहा था कि प्राज्ञ आत्मा ही को निर्माता कहते हैं वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरी श्रुति 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति, [बृ० ४।३।६] (स्वयं नाश करके, स्वयं निर्माण करते हुए वह अपने तेज से अपने प्रकाश में स्वप्न उत्पन्न करता है) इस प्रकार वह जीव का व्यापार है ऐसा कहती है। यहां पर भी 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' [क० ५।८] (यह जो सोने पर जागता है) इस प्रकार प्रसिद्ध बात का अनुवाद होने से यह जीव ही कामों का (वांछित पदार्थों का , निर्माता है, ऐसा कथन है और 'तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म' (वही शुक्र है, वही ब्रह्म है) इस आगे के वाक्य से उसका जीव भाव हटाते हुए वही ब्रह्म है ऐसा उपदेश करते हैं। जैसे कि 'तत्त्वमसि' [६।८।७] (वह तू है) इत्यादि में किया है। इसलिये इसके ब्रह्म के प्रकरण होने में कुछ भी विरोध नहीं प्राप्त होतां। हम स्वप्न में भी प्राज्ञ के व्यापार का निषेध नहीं करते क्योंकि वह सबका ईश्वर होने से उसका सब अवस्थाओं का अधिष्ठाता होना बन सकता है। परन्तु स्वप्न की सृष्टि पारमार्थिक यानी नितान्त सत्य नहीं हैं, आकाश आदि की सृष्टि के समान भी सत्य नहीं हैं, यही हम प्रतिपादन करना चाहते हैं आकाश आदि की उत्पत्ति भी आत्यन्तिक सत्य नहीं, हैं क्योंकि, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' [ब्र० सू० २।१।१४] इस सूत्र से सब प्रपंच मायामय है ऐसा हमने प्रतिपादन किया है। परन्तु ब्रह्म ही अपना आत्मा है, ऐसा साक्षात्कार होने के पूर्व आकाशादि प्रपंच व्यवस्थित रूप से वर्तमान है और संधि यानी स्वप्न में दीखने वाले प्रपंच का प्रतिदिन बाध होता हैं, इसलिये स्वप्नका मायामयत्व अधिक है ऐसा कहा हैं ॥ ४ ॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो
ह्यस्य बंधविपर्ययौ ॥ ५ ॥

तु परन्तु पराभिध्यानात् परमात्मा के ध्यान से तिरोहितं छुपे हुऐ [ऐसे उसके धर्म प्रकट होते हैं;] हि क्योंकि ततो इसीसे [उसका] बंधविपर्ययौ वंध और मोक्ष होता है।

जैसे अग्नि की चिनगारियाँ उसके अंशरूप होती हैं, वैसे ही जीव भी परमात्मा का अंश है और जैसे अग्नि और चिनगारी में जलाने की और प्रकाशने की शक्ति समान ही होती है, वैसे ही जीव और ईश्वर में भी ज्ञान शक्ति और ऐश्वर्य शक्ति समान ही हैं, और इससे ज्ञान और ऐश्वर्य के कारण स्वप्न में जीव के अपने संकल्प से रथादि की उत्पत्ति होती है, ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर देते हैं कि जीव और ईश्वर में अंश अंशी भाव होते हुए भी जीव और ईश्वर में एक एक के विरुद्ध धर्म प्रत्यक्ष दीखते हैं।

फिर क्या जीव और ईश्वर में समानधर्मत्व है ही नहीं? समानधर्मत्व न हो यह नहीं है। वह वर्तमान होते हुए भी अविद्या आदि के पड़दे के कारण तिरोहित यानी लुप्त होजाता है अर्थात् प्रकट नहीं दीखता। जैसे तिमिर रोग से किसी की दृष्टि तिरोहित होगई हो तो औषधिके सामर्थ्य से वह पुनः प्राप्त होती है, वैसे ही, सत्यरूप परमेश्वर का अभिध्यान करके साधना करने वाले जिस पुरुष का अज्ञानांधकार दूर हुआ है, ऐसे किसी पुरुष को ईश्वर के कृपाप्रसाद से सिद्धि प्राप्त होने पर उसमें वे छुपे हुए धर्म पुनः प्रकट होते हैं। वे स्वभाव से सब पुरुषों में नहीं दिखाई देते, क्योंकि 'इसीसे' यानी ईश्वररूप हेतु

से जीव को बंध और मोक्ष प्राप्त होते हैं। ईश्वर के स्वरूप के न जानने से बंध और ईश्वर के स्वरूप को जानने से मोक्ष होता है। श्रुति भी यही कहती है:—'ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः' [श्वे, १ । ११] (उस देवका ज्ञान होने से सब बंधनों से निवृत्ति होजाती है और सब क्लेश क्षीण होजाने से जन्म और मृत्यु भी नहीं होती है। उसके ध्यान से देह पतन के अनंतर परिपूर्ण ऐश्वर्य वाली ऐसी तीसरी ही अवस्था प्राप्त होती है और वह केवल और आप्तकाम अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है) इत्यादि ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

स वह अपि भी देहयोगात् देह के सम्बन्ध से वा ही [अप्रकट होता है]।

कोई पूछेगा, 'यदि जीव परमात्मा ही का अंश है तो फिर उसके ज्ञान और ऐश्वर्य तिरस्कृत यानी लुप्त क्यों होजाते हैं ? जैसे अग्नि की चिनगारियों में दहन प्रकाश की शक्ति अप्रकट नहीं होजाती उसी प्रकार ज्ञान और ऐश्वर्यका भी लोप न होना चाहिये।' इसका उत्तर देते हैं कि यह ठीक है; जो इस जीव की ज्ञान और ऐश्वर्य शक्ति का लोप होता है वह भी देहके संयोग से अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय वेदना आदि के संयोग से होता है। इसमें दृष्टांत यह है—जैसे काष्ठ में रहा हुआ अग्नि दहन और प्रकाशन शक्ति से संपन्न होते हुए भी उसकी दहन और प्रकाशन की शक्ति गुप्त होती है अथवा राख में ढके हुए अग्नि की ये शक्तियां अप्रकट होती हैं, इसी प्रकार अविद्या से कल्पित नाम रूप से उत्पन्न हुई देह आदि

की उपाधियों के सम्बन्ध से तथा उनसे वह भिन्न नहीं है ऐसे अविवेकभ्रम के कारण जीव की ज्ञान और ऐश्वर्य शक्तियां तिरोहित हुई हैं। 'वा' शब्द का प्रयोग जीव और ईश्वर भिन्न होंगे इस शंका की निवृत्ति के लिये है।

यदि कोई कहे कि जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य ये धर्म तिरोभूत होने से जीव को ईश्वर से भिन्न ही मानना चाहिये; देह के सम्बन्ध से वे तिरोभूत होते हैं ऐसा मानने से क्या लाभ? इसका उत्तर देते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि जीव की ईश्वर से भिन्नता सिद्ध नहीं होती। 'सेयं देवतैक्षत' [छां ६।३।२] (उस देवता ने ईक्षण किया) इस प्रकार श्रुति उपक्रम करके 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' [छां ६।३।२] (इस जीवरूप आत्मा से उसमें प्रवेश करके) इस प्रकार जीव का आत्मा रूप से कथन करती है तथा 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छां ६।६।४] (वह सत्य है, वह आत्मा है और वही, हे श्वेतकेतो ! तू है) इस वाक्य से जीव को ईश्वरत्व का उपदेश देती है। इसलिये जीव ईश्वर से अभिन्न ही है और देह के संयोग से जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य तिरोहित हो जाते हैं। इसलिये स्वप्न में जीव की रथ आदि की सृष्टि सांकल्पिकी यानी संकल्पजन्य नहीं होसकती। यदि स्वप्न में जीव की रथ आदि की सृष्टि अपने संकल्प ही से होती तो कोई अनिष्ट स्वप्न नहीं देखता, क्योंकि कोई अनिष्ट का संकल्प नहीं करता।

फिर जो कहा है कि 'स्वप्न उसका जागृति का स्थान है' ऐसा श्रुति का कथन है उससे स्वप्न के सत्यत्व की सिद्धि होती है, वह ठीक नहीं है। यह समता का कथन उसकी सत्यता का प्रतिपादन करने के अभिप्राय से नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से

उसके स्वयं प्रकाश होने में विरोध आता है तथा श्रुति ही में स्वप्न में रथ आदि का अभाव होता है ऐसा कहा है। जागृति में की हुई वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण वह उसी के सदृश भासता है ऐसा उसका अभिप्राय है, इसलिये स्वप्न केवल मायामात्र यानी भ्रम है यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

तदभावाधिकरण । सू० ७-८

तदभावो नाडिषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

नाडिषु नाडियों में **च** तथा **आत्मनि** आत्मा में **तदभावः** उसका अभाव है; **तच्छ्रुतेः** क्योंकि श्रुति का वैसा ही कथन है।

स्वप्नावस्था का विचार हुआ अब सुषुप्ति अवस्था का विचार किया जाता है। सुषुप्ति विषयकी श्रुतियाँ ऐसी हैं— 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' [छाँ० ८ । ६ । ३] (जब वह पूर्ण रूप से और शान्त रूप से सो जाता है और स्वप्न नहीं देखता तब वह इस नाडी में प्रविष्ट होता है), दूसरे स्थान पर नाडियों का ही निर्देश करते हुए कहा है कि 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' [बृ० २ । १ । १९] (उन नाडियों से खिसक कर वह पुरीतत् नाडी में सोता है), अन्यत्र नाडियों का निर्देश करते हुए ही कहा है कि 'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' [कौषी० ४ । १९] (उस समय वह उन में रहता है, जब वह सोता है और कोई स्वप्न नहीं देखता तब वह प्राण ही में लीन होजाता है) और एक स्थान पर कहा है, 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' [बृ० २ । १।१७] (इस हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें वह विश्रान्ति लेता हैं), और एक स्थान पर लिखा है 'सता

सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' [छाँ० ६ । ८ । १] (उस समय, हे सोम्य, वह सत से युक्त होता है; वह अपने में लीन हो जाता है) तथा 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' [बृ० ४। ३ । २१] (प्राज्ञ आत्मा से युक्त हुआ वह न वाहर का कुछ जानता है न भीतर का)। यहाँ पर संशय होता है कि क्या नाडियाँ आदि किसी की अपेक्षा न रखते हुए परस्पर भिन्न ऐसे सुषुप्ति के स्थान हैं अथवा सब की अपेक्षा से एक ही सुषुप्ति का स्थान है।

पूर्वपक्ष · यहां पर क्या प्राप्त होता है ? यही प्राप्त होता है कि ये पृथक् पृथक् हैं। यह कैसे जाना ? इन सबका एक ही प्रयोजन है इससे। जिन व्रीहि यव आदि पदार्थों का एक ही प्रयोजन होता है, उनमें परस्पर अपेक्षा देखने में नहीं आती, परन्तु, नाडी आदि का सुषुप्तिकाल में एक ही प्रयोजन दिखाई देता है; जैसे 'नाडीषु सृप्तो भवति ।'] छां० ८।३।३] (नाडियों में सोता है) 'पुरीतति शेते' [बृ० २।१।१६] (पुरीतत् नाडी में सोता है) इत्यादि। इन स्थानों में सर्वत्र सप्तमी विभक्ति का प्रयोग दिखाई देता है। यदि कहो कि 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [छां० ६।८।१](उस समय वह सत् से युक्त हो जाता है) इस प्रकार के कहने में सप्तमी का प्रयोग नहीं देखने में आता तो वह दोष नहीं है, क्योंकि वहां भी सप्तमी के अर्थ ही से अभिप्राय है। आगेके वाक्य में 'अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते [छां० ६।८।२] (अन्यत्र स्थान न प्राप्त होने के कारण वह प्राण ही का आश्रय करता है) इस प्रकार स्थान की इच्छा करने वाला जीव सत् के प्रति प्राप्त होता है ऐसा कहा है; वहां प्राण शब्द मे प्रकृत सत् ही का ग्रहण किया गया है और सप्तमी का अर्थ ही आयतन है।

इसीके आगे वाक्यशेष में सप्तमी का निर्देश भी मिलता है जैसे, 'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे' [छां० ६।६।२] (सत् को प्राप्त होकर हम सत् को प्राप्त हुए हैं, ऐसा वे नहीं जानते)। सब स्थानों पर विशेष ज्ञान रहित होना यह जो सुषुप्ति का लक्षण है उसमें भेद नहीं आता, इसलिये नाडियां आदि का एक ही प्रयोजन होने से जीव विकल्प से कभी कहीं तो कभी कहीं, इस प्रकार विश्रान्तिके निमित्त जाता है, यही प्रतीत होता है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'तदभावो नाडीष्वात्मनि च' इस प्रस्तुत सूत्र से देते हैं। 'तदभावः' का अर्थ उसका यानी प्रकृत स्वप्न दर्शन का जो अभाव वह सुषुप्ति है ऐसा है। 'नाडियों में और आत्मा में' इसका अर्थ वह सोने के लिये नाडियां आदिमें समुच्चयसे प्राप्त होता है विकल्प से प्राप्त नहीं होता, ऐसा है; क्योंकि श्रुति वैसा ही कथन करती है। सभी नाडियां आदि का सर्वत्र ही सुषुप्ति स्थान कहा है और वह सबका समुच्चय रूप मानने ही से युक्त होता है। विकल्प मानने से इनके पक्ष में दोष प्राप्त होता है। एक ही प्रयोजन होने से व्रीहि यवादि के समान नाडी आदि का विकल्प बन सकता है, ऐसा जो पूर्वपक्ष में कहा था वह ठीक नहीं है; क्योंकि केवल एक विभक्ति के ही प्रयोग से पदार्थों के एक प्रयोजनत्व की अथवा उनके विकल्प की प्राप्ति नहीं होती।

अनेक प्रयोजन वाले पदार्थों के लिये तथा उनके समुच्चय के लिये भी एक ही विभक्ति का प्रयोग देखने में आता है; जैसे; 'महल में सोता है, पर्यंक में सोता है' इत्यादि। इसी प्रकार यहां पर भी नाडियों में, पुरीतत् में और ब्रह्म में सोता है इस प्रकार समुच्चय बन सकता है। श्रुति भी ऐसा ही कहती

है—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' [कौषो० ४।१९] (उस समय वह उनमें रहता है। जल सो जाता है तब वह कुछ नहीं देखता और वह इस प्राण ही में लीन होजाता है)। यह श्रुति नाडियां और प्राण का एक ही वाक्य में निर्देश करके सुषुप्ति काल में इनका समुच्चय प्रतिपादन करती है। वैसे ही 'प्राणस्तथानुगमात्' [ब्र० सू० १।१।२८] इस सूत्र से प्राण ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध किया गया है। अब जहां पर स्वतन्त्र रूप से नाडियों का सुषुप्ति स्थान बतलाया है, जैसे, 'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' [छां० ८।६।३] (तब वह इन नाडियों में उतर आता है), वहां पर भी अन्य श्रुतियों में जो (सुषुप्ति स्थान रूप से) ब्रह्म प्रसिद्ध है, उसका निषेध न होने से, जीव नाडियों में होकर ब्रह्म ही में प्रविष्ट होकर रहता है ऐसा प्रतीत होता है और ऐसा मानने में नाडियों में इस प्रकार जो सप्तमीका प्रयोग है उससे विरोध नहीं आता। नाडी द्वार से भी ब्रह्म को प्राप्त होने से वह नाडियों में भी प्रविष्ट होता है। जो गंगा से होकर सागर में प्राप्त होता है वह गंगा में भी प्राप्त होता है। अतिरिक्त इसके, रश्मि नाडी से ब्रह्मलोक में जाने का जो मार्ग है उसके वर्णन से यहाँ प्रयोजन होने से जीव नाडियों में प्रविष्ट होता है, यह बात केलल उस नाडी की प्रशसा करने के निमित्त कही गई है। 'नाडीषु सृप्तो भवति' [छां० ८।६।३] (वह नाडियों में प्रविष्ट होता है) ऐसा कहकर पश्चात् 'तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' [छां० ८।६।३] (उसको वहां कोई भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता) ऐसा कहकर नाडियों की प्रशंसा की है तथा पाप के न स्पर्श होने का हेतु भी कहा है कि 'तेजसाहि तदा संपन्नो भवति' [छां० ८।६।३] (वह उस समय तेज से

युक्त होजाता है)। नाडी में रहे हुए पित्त रूप तेज से इन्द्रियाँ व्याप्त हुई होने से वह बाह्य विषयों का ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसा इसका भाव है। अथवा तेज शब्द से यहाँ पर ब्रह्म ही का निर्देश है, ऐसा समझना चाहिये। अन्य श्रुति में 'ब्रह्म एव तेज एव' [बृ० ४ । ४ । ७] (वह ब्रह्म ही है, वह तेज ही है) इस प्रकार तेज शब्द का ब्रह्म के अर्थ में प्रयोग किया गया है। नाडी द्वारा वह ब्रह्म ही को प्राप्त होता है, इसलिये उसको कोई पाप स्पर्श नहीं करता, ऐसा उसका भाव है। ब्रह्म को प्राप्त होना यही पाप के स्पर्श न करने का हेतु बताया जाता है, जैसे, 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' [छां० ८ । ४ । २] (यहां से सब पाप निवृत्त होजाते हैं, क्योंकि ब्रह्मलोक सब पापों से मुक्त है) इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं। इसलिये, अन्य श्रुतियों में सुषुप्ति स्थान में ब्रह्म अनुगत है ऐसा प्रसिद्ध होने से नाडियों का उसके साथ समुच्चय है ऐसा विदित होता है। इसी प्रकार ब्रह्म के प्रकरण में ही पुरीतत् नाडी का कथन होने से उसके अनुरूप ही सुषुप्ति स्थान होना चाहिये, ऐसा विदित होता है। 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' [बृ० २ । १ । १७] (हृदय के भीतर जो यह आकाश है, उसमें सोता है), इस श्रुति में हृदयाकाश ही को प्रकृत सुषुप्ति-स्थान कहा है और उसी के विषय में आगे कहा गया है कि 'पुरीतति शेते' [बृह० २ । १ । १९] (पुरीतत् में सोता है)। हृदय के वेष्टन को पुरीतत् कहते हैं। इसलिये, उसमें रहे हुए हृदयाकाश में सोने वाले के लिये वह पुरीतत् में सोता है, ऐसा कह सकते हैं। कोट से घिरे हुए नगर में रहने वाले के लिये वह कोट में रहता है ऐसा कहते हैं और 'दहर उत्तरेभ्यः' [ब्र० सू० १ । ३ । १४] इस सूत्र में हृदयाकाश के ब्रह्म होने का प्रति-

पादन किया गया है। वैसे ही 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' [बृ० २ । १ । १९] (उनमें से होकर पुरीतत् में सोता है) इस प्रकार नाड़ियों का और पुरीतत् का एक ही वाक्य में निर्देश होने से भी इनका समुच्चय स्पष्ट होता है। सत् और प्राज्ञ ब्रह्म है यह तो प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार इन श्रुतियों में नाड़ियां पुरीतत् और ब्रह्म, ऐसे तीन सुषुप्ति स्थानों का वर्णन है। इनमें भी पुरीतत् और नाड़ियां तो केवल द्वार ही है और केवल एक ब्रह्म ही सुषुप्ति स्थान है।

दूसरे, नाडियां अथवा पुरीतत् तो जीव की उपाधि के आधार हैं और इसमें जीव की इन्द्रियां रहती हैं। उपाधि के सम्बन्ध के अतिरिक्त जीव को अपना कोई आधार सम्भव नहीं क्योंकि जीव ब्रह्म से अभिन्न होने से वह अपनी महिमा ही में स्थित है। सुषुप्ति में ब्रह्म के आधार में जीव होता है ऐसा कहते हैं वह भी आधार और आधेय भाव स्थापित करने के अभिप्राय से नहीं, परन्तु इनका तादात्म यानी एक रूपता प्रदर्शित करने के अभिप्राय से कहते हैं। इसीलिये कहा है कि 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' [छां० ६।८।१] (उस समय, हे सोम्य, वह सत् को प्राप्त होता है, वह अपने में लीन हो जाता है यानी स्वरूप को प्राप्त होता है) इस श्रुति में स्वशब्द से आत्मा का निर्देश है और स्वरूप को प्राप्त होता है, इसका अर्थ है सो जाता है। जीव का ब्रह्म से कभी भी ऐक्य न हो सो बात नहीं, क्योंकि जीव का स्वरूप अविनाशी है। स्वप्न और जागृति में उपाधियों के सम्बन्ध से अन्य रूप की प्राप्ति होती है इसकी अपेक्षा से इनके दूर होने पर वह स्वरूप को प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में कभी तो जीव सत् से युक्त होता है और कभी नहीं, ऐसा कहना

अयुक्त है। यदि सुसुप्ति के स्थान में विकल्प ग्रहण किया जाय तो भी विशेष विज्ञान से रहित जो सुषुप्ति का स्वरूप है उसमें कहीं भी भेद नहीं आता। वहां सत् में प्राप्त होने के कारण एकरूप होने से वह कुछ भी नहीं जानता, यह ठीक ही हैं क्योंकि 'तत् केन कं विजानीयात्' [बृ० २।४।१४] (तत्र किसने जाने) ऐसा श्रुति का कथन है। नाड़िया अथवा पुरीतत् में सोये हुए जीव के ज्ञान के अभाव का कारण जान नहीं सकते क्योंकि ज्ञान द्वैत ही में सम्भव है। 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत' [बृ० ४।३।३१] (जहां अन्य का सा कुछ भासता है यानी भेद ज्ञान हैं वहां एक दूसरे को देखता हैं), इस श्रुति से द्वैत में ही ज्ञात होता है ऐसा ज्ञात होता है। यदि कहो कि भिन्नता होते हुए भी अति दूरता आदि कारणों से विज्ञान का अभाव हो सकता है तो उसका उत्तर यह है कि यह तब ही हो सकता है जब जीव को परिछिन्न माना जाय, जैसे कि प्रवासी विष्णुदत्त अपने गृह को नहीं देखता, परन्तु जीव का उपाधि को छोड़कर और कोई परिच्छेद नहीं हैं। यदि कहो कि उपाधिगत दूरता ही उसके जानने के अभाव का कारण है तो वह उपाधि भी सुषुप्ति काल में न रहने से सत् ही को प्राप्त होने के कारण वह नहीं जानता ऐसा कहना युक्त है। हम नाडियों के समुच्चय को यहां समान रूप से प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि नाडियां वा पुरीतत् सुषुप्ति स्थान है, ऐसा जानने में कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं। श्रुति इस विज्ञान से कुछ फल नहीं बताती, न जिस कर्म का कुछ फल हो ऐसे कर्म के अंग रूप से भी इसका निर्देश किया गया है। परन्तु अविनाशी ब्रह्म सुषुप्ति का स्थान है ऐसा हम प्रतिपादन करते हैं, और इस विज्ञान का प्रयोजन भी है। इस

ज्ञान से जीव ब्रह्म है, ऐसा तथा वह स्वप्न जागृति के व्यवहार से मुक्त है ऐसा बोध होता हैं, इसलिये आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान है ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

अतः इसीलिये **अस्मात्** इस आत्मा से **प्रबोधः** जागृति होता है (ऐसा श्रुति कहती है)।

आत्मा ही सुषुप्ति स्थान होने से शुषुप्ति प्रकरण में 'कुत एतदागात्' [बृ० २।१।१६] (वह कहां से आया) इस प्रश्न के उत्तर में 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' [बृ०२।१।२०] , जैसे अग्नि से चिनगारियां उठती है वैसे इस आत्मा से प्राण निकलते हैं) इत्यादि से श्रुति इस आत्मा ही से जीव नित्यप्रति जागृत होता है, ऐसा कथन करती है। तथा 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' [छां० ६।१०।२] सत्से आकर वह नहीं जानता कि वह सत् से आता है) यह श्रुति भी ऐसा ही कथन करती है। यदि श्रुति को विकल्प मान्य होता तो वह कभी नाड़ियों से जागता है, कभी पुरीतत् से और कभी आत्मा से, इस प्रकार श्रुति उपदेश करती। इसलिये आत्मा ही सुषुप्ति स्थान है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ८ ॥

३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

तु और **सः** वह (जीव) **एव** ही [जागृत होता है ऐसा] **कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः** कर्म, अनुस्मृति शब्द और विधि से [विदित होता है]।

अब उस सत् को प्राप्त होकर जब जीव जागता है तब जो सत् को प्राप्त हुआ था वही फिर जागृति में आता है अथवा जागृति को प्राप्त होने वाला कोई दूसरा होता है इसका विचार करना है।

पूर्वपक्ष—इसमें कोई नियम नहीं दिखाई देता, क्योंकि जलाशय में यदि एक जल का बिंदु डाल दिया जाय तो वह जलाशय रूप हो जाता है, फिर उसमें से उस पहले ही बिंदु का निकलना कठिन है। इसी प्रकार सोया हुआ परमात्मा से एकता को प्राप्त होते ही प्रशान्त भाव को प्राप्त होता है, इसलिये वही फिर उत्थान को नहीं प्राप्त हो सकता। अर्थात् वह ईश्वर अथवा अन्य कोई जीव ही जागृति को प्राप्त होता है।

समाधान—वही सोकर प्रशान्त भाव को प्राप्त हुआ जीव पुनः उत्थित होता है अन्य नहीं।

कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि, इन चार हेतुओं से यही प्राप्त होता है। चारों का अब हम पृथक् पृथक् विवेचन करते हैं। जीव शेष रहा हुआ कर्म पश्चात् करता है ऐसा देखने में आता है, इसलिये वही जागता है अन्य नहीं। जैसे पूर्व दिवस किये हुए कर्म का शेष अंश दूसरे दिन वह करता है, ऐसा देखने में आता है और एक के आधे किये हुए कर्म के अंश में दूसरा कोई प्रवृत्त हो नहीं सकता; क्योंकि इस प्रकार प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसा माने तो अति प्रसंग यानी एक ही दीर्घ-कालीन कर्म के अनेक कर्ता होने का प्रसंग अर्थात् अव्यवस्था प्राप्त होगी। इसलिये, एक ही कर्म का पहिले दिवस का तथा दूसरे दिवस का कर्ता एक ही होना चाहिये, ऐसा निश्चित होता है। पूर्व दिवस में मैंने यह देखा था इस प्रकार के अनुभव

का दूसरे दिवस स्मरण रहता है, वह यदि उत्थान में कोई अन्य ही हो तो युक्त नहीं होता, इसलिये भी वही उठता है; क्योंकि एक के अनुभव का दूसरा स्मरण नहीं कर सकता। वही मैं हूँ, इस प्रकार की अपनी स्मृति भी अपने से भिन्न किसी के उत्थान में हो नहीं सकती। शब्द यानी श्रुति प्रमाण से भी उसीका उत्थान होता है, ऐसा ज्ञात होता है; जैसे, 'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' [बृ० ४ । ३ । १६] (जैसा गया था वैसा ही उस उस योनि को फिर वह जागृति में प्राप्त होता है), 'सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं नविन्दन्ति' [छां० ८।३।२] (सब प्रजा प्रतिदिन वहाँ जाते हुए भी उस ब्रह्मलोक को नहीं जानते), 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति' [छां० ६।६।३] (वे यहां पर व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दंश अथवा मच्छर, जैसे वे पहले थे, वैसे ही फिर हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतियां सुषुप्ति से उठने के प्रकरण में आती हैं और अपने से अन्य का उत्थान माना जाय तो ये युक्त नहीं होती। कर्मविधि और विद्या विधिसे भी यही समझ में आता है। ऐसा न मानने से कर्म विधि और विद्याविधि निरर्थक हो जांयगे। अन्य का उत्थान मानने से तो जितने सो गये थे वे सब ही मुक्त हुए ऐसा प्राप्त होगा और यदि ऐसा हो तो फिर कालान्तर से फल देने वाले कर्म और विद्या से क्या कार्य रहा ? और अन्य का उत्थान होता है ऐसा मानते हुए यदि अन्य शरीर में व्यवहार करने वाले जीव का उत्थान होता है ऐसा माने तो उस शरीर के व्यवहार का लोप होजाने का प्रसंग प्राप्त होगा; फिर उस शरीर में यह उठेगा ऐसी कल्पना निरर्थक है जो जिस शरीर में सोया है वह

उस शरीर में उत्थित नहीं होगा, परन्तु अन्य शरीर में सोया हुआ अन्य ही शरीर में उत्थित होगा ऐसी कल्पना करने से क्या लाभ ?

यदि युक्त पुरुष का उत्थान माने तो मोक्ष अन्तवान् होने का प्रसंग प्राप्त होगा, परन्तु जिसकी अविद्या निवृत्त हुई है उसका पुनः उत्थान होना सम्भव नहीं है। इससे ईश्वर के उत्थान का भी प्रतिवाद हुआ; क्योंकि ईश्वर की अविद्या तो सदा ही निवृत्त है यानी उसमें अविद्या तीनों काल में नहीं है। कर्म न करते हुए उस फल की प्राप्ति और किये हुए कर्म के फल की अप्राप्ति, ऐसे दो दोष, यदि अन्य का उत्थान माना जाय तो टल, नहीं सकते। इसलिये जो सोता है वही उठता है, अन्य नहीं, यह सिद्ध हुआ।

अब जो पूर्वपक्ष में कहा था कि जैसे जलाशय में जल का बिंदु डाल दिया जाय तो वही बिन्दु फिर बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही सत् को प्राप्त हुआ जीव फिर उत्पन्न होता है, ऐसा मानना ठीक नहीं है, उसका परिहार करते हैं। उसी जल बिंदु को पृथक् करने के लिये आवश्यक हेतु उपलब्ध न होने से उसीको फिर बाहर निकालना असम्भव है यह ठीक ही है, परन्तु यहां तो जीव को पुनः पृथक् होकर बाहर निकलने के लिये उसके कर्म और अविद्या ऐसे दो करण वर्तमान हैं इतनी उसकी दृष्टान्त से विषमता है। तथा हम सरीखे लोगों को मिले हुए पानी और दूध का पृथक् करना यद्यपि नहीं बनता तो भी हंस उसको पृथक कर लेता है। अपिच जीव कोई परमात्मा से भिन्न पदार्थ नहीं है जो, जलराशि से बिंदु जैसा पृथक् होता है, वैसे वह परमात्मा से पृथक् हो सके। उस सत् वस्तु ही को उपाधि के सम्बन्ध से गौण रूप से जीव कहते हैं, ऐसा हमने कई बार

प्रतिपादित किया है। ऐसा होने से जब तक एक उपाधि का संयोग है तब तक वह एक ही जीव है ऐसा व्यवहार होता है और दूसरी उपाधि के सम्बन्ध से वह दूसरा जीव है ऐसा व्यवहार होता है। वही यह उपाधि बीजांकुर न्याय से सुषुप्ति और जागृति इन दोनों अवस्थाओं में वर्तमान रहती है, इसलिये वही जीव जागृति में उत्थान को प्राप्त होता है, ऐसा ही मानना योग्य है ॥ ९ ॥

४ मुग्धेऽर्धसंपत्त्याधिकरण।

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

मुग्धे: मूर्छित अवस्था का [सुषुप्ति के साथ]**अर्ध सम्पत्तिः** आधा सादृश्य होता है, ऐसा **परिशेषात्** परिशेष से [ज्ञात होता हैं]।

मुग्ध वही है जिसको लोग मूर्छित कहते हैं। वह किस अवस्था में होता है इसका विचार करते हैं।

पूर्वपक्ष—जीवकी तीन अवस्थायें प्रसिद्ध हैं, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति। चौथी अवस्था वह है जिसमें वह शरीर से बाहर निकल जाता है। जीव की कोई पांचवीं अवस्था श्रुति में अथवा स्मृति में प्रसिद्ध नहीं है इसलिये मूर्छित अवस्था इन चारों अवस्थाओं से कोई भिन्न अवस्था है।

समाधान—मुग्धावस्था जागृत अवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि इस अवस्था में इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण नहीं होता। यदि कहो कि जैसे बाण बनाने वाले (लुहार) का मन बाण ही में लगा हुआ होने से वह अन्य विषयों को नहीं देखता, वैसे ही मूसल आदि के प्रहार से उत्पन्न हुए कष्ट के अनुभव में उसका मन व्यग्र होने से वह जाग्रत होता हुआ भी अन्य विषयों को

नहीं देखता, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मूर्छा में चेतना नहीं होती। वाण बनाने वाले का मन काम में लगा हुआ होता है, वह कहता है कि इतना काल मैं वाण ही देखता रहा, परन्तु मूर्छित मनुष्य जब चेतन हो जाता है तब कहता है कि मैं इतने काल तक अन्धकार में पड़ा हुआ था, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं होता था। जागृति में एक ही विषय में चित्त लगा हुआ हो तो भी वह शरीर को ठीक धारण करता है परन्तु मूर्छा में देह धरती पर गिर जाती है। इसलिये ज्ञान के अभाव से न वह जागता है, न स्वप्न भी देखता है और न मृत भी है, क्योंकि उसमें प्राण तथा उष्णता वर्तमान होती है। कोई प्राणी मूर्छित हो जाय तो यह मरा है अथवा जीवित है, ऐसी शंका होने पर उसमें उष्णता है अथवा नहीं यह जानने के लिये हृदय देश को देखते हैं और प्राण चलते हैं वा नहीं यह जानने के लिये नासिका देश में देखते हैं। यदि उसमें प्राण और उष्णता नहीं पाते तो यह मर गया है, ऐसा समझ कर उसको जलाने के लिये अरण्य में ले जाते हैं। और प्राण और उष्णता उसमें पाते हैं तो वह मरा नही है, ऐसा समझ कर उसको जगाने के लिये औषधि देते हैं और फिर वह उठ बैठता है। इसलिये वह मरा नहीं था (उसी शरीर में था) क्योंकि कोई मरा हुआ यमलोक से नहीं लौटता। यदि कहो कि ऐसा है तो उसमें ज्ञान का अभाव है और वह मरा नहीं तो वह सुषुप्ति में ही है, तो यह ठीक नहीं। दोनों में विलक्षणता है। मूर्छित मनुष्य कभी कभी बहुत काल तक श्वास नहीं लेता, उसका देह कांपता है, उसका मुख भयानक और आंखें फटी हुई होती हैं, परन्तु सोये हुए पुरुष का मुख प्रसन्न होता है, वह समान काल में श्वाश लेता रहता है उसके नेत्र बन्द होते हैं और इसका देह कांपता भी नहीं। हाथ

लगाने से ही सोया हुआ जाग जाता है परन्तु यह लठ मारने पर भी नहीं जागता। मूर्छा और निद्रा के हेतु भी भिन्न है। मूसल आदि के प्रहार से मूर्छा होती है और श्रम आदि के कारण से निद्रा आती है। लोग सोये हुए को यह मूर्छित हुआ है ऐसा कहते भी नहीं। अतः निर्णय रूप से हम यही जानते हैं कि मूर्छा में अर्धसंपत्ति यानी ब्रह्म के साथ अर्ध समानता होती है। उसको वहां कुछ भी ज्ञान न रहने से वह सत् को प्राप्त हुए यानी सोये हुए के समान है और अन्य वातों में विषमता होने से समानता नहीं भी है।

शंका—मूर्छा को अर्ध संपत्ति हम कसे कह सकते हैं, जब कि श्रुति सोये हुए पुरुष के वारे में कहती कि 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [छां० ६।८।१] (हे सोम्य, तव वह सत् को प्राप्त होता है) 'तत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' [वृ० ४।३।२२] (वहां चोर चोर नहीं रहता), 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दष्कृतम्' [८।४।१] (इस सेतु को यानी परमात्मा रूप आधार को दिवस और रात्रि पार नहीं करते, न जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत और दुष्कृत इसको पार करते हैं) इत्यादि ? जीव को सुकृत और दुष्कृत की प्राप्ति सुखी और दुःखी होने के अनुभव से होती है और सुखी व दुःखी होने का अनुभव सुषुप्ति में नहीं होता तथा मुग्ध वा मूर्च्छित अवस्था में भी वैसा अनुभव नहीं होता। इसलिये उपाधि का नाश होने से सुषुप्ति के समान मूर्च्छा में भी [ब्रह्म से] कृत्स्न संपत्ति यानी सपूर्ण ऐक्य होता है अर्ध यानी कुछ समानता होती है, ऐसा कहना ठीक नहीं।

समाधान—मूर्च्छा की अर्धं सम्पत्ति यानी सत् से कुछ अंश में समानता रूप ऐसी कोई भिन्न अवस्था है, ऐसा हम नहीं

कहते। हम मूर्च्छा और सुषुप्ति का साम्य और विषमता दिखा चुके हैं और यह मूर्च्छा मरण का द्वार भी हैं। जब जीव का कोई कर्म (प्रारब्ध) अवशेष रहता है तब उसकी वाणी और मन लौट आते हैं और जब कर्म निःशेष हो रहता हैं तब प्राण और उष्णता लौटती नहीं। इसीलिए इसको ज्ञानी लोग अर्ध संपत्ति कहते हैं। इनसे अन्य कोई पांचवी अवस्था प्रसिद्ध नहीं है ऐसा जो कहा है उसमें कोई दोष नहीं है। यह अवस्था कभी कभी होने वाली होने से प्रसिद्ध न हो यह बन सकता है, परन्तु लोगों में तथा आयुर्वेद में यह प्रसिद्ध है, अर्ध सम्पत्ति है ऐसा समझ कर इसको पाचवीं अवस्था नहीं गिनते; यह भी ठीक ही है॥ १०॥

५ उभयलिंगाधिकरण। सू० ११-२१

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

स्थानतः स्थान [भेद] के कारण **अपि** भी **परस्य** परब्रह्म का **उभयलिंगम्** उभयविध स्वरूप **न** नहीं है, **हि** क्योंकि **सर्वत्र** सर्वत्र [ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का ही] कथन है।

सुषुप्ति में जिस ब्रह्म से जीव की उपाधि के निराससे एकता होती है, उस ब्रह्म के स्वरूप का अब हम श्रुति की सहायता से निश्चय करते है। ब्रह्म विषयक श्रुतियां ब्रह्म का दोनों प्रकार से निरूपण करती हैं। 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' [छां० ३।१४।२] (वह सर्वकर्मा है, सर्वकाम, सर्वगंध और सर्वरस है) इत्यादि श्रुतियां उसके सविशेष यानी सगुण स्वरूप प्रतिपादन करती हैं 'औरअस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्, [बृ०३।८।८] (वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म, ह्रस्व वा दीर्घ नहीं है) इत्यादि श्रुतियां निर्विशेष यानी निर्गुण ब्रह्म का निरूपण करती हैं।

अब इन श्रुतियों में उभयलिंगात्मक ब्रह्म का प्रतिपादन है या किसी एक प्रकार के ब्रह्म का है और यदि एक ही प्रकार के ब्रह्म का प्रतिपादन हो तो सगुण ब्रह्म का है वा निर्गुण ब्रह्म का है; इसका विचार किया जाता है ।

अब श्रुति में दोनों प्रकार के ब्रह्म का निरूपण होने से ब्रह्म उभयलिंगात्मक वा दोनों प्रकार का हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि परब्रह्म स्वरूप से दोनों प्रकार का हो, यह नहीं बन सकता । एक ही वस्तु स्वरूप से रूपादि से युक्त और रूपादि रहित हो यह मान नहीं सकते, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं । यदि कहो कि ऐसा नहीं तो स्थान यानी पृथिवी आदि उपाधियों के कारण ब्रह्म के भेद हो सकेंगे, तो वह भी नहीं बनेगा; क्योंकि उपाधि के कारण एक प्रकार की वस्तु को अन्य स्वभाव प्राप्त नहीं हो सकता । स्वच्छ स्फटिक लाख आदि की उपाधियों से अस्वच्छ नहीं होता; क्योंकि उसमें अस्वच्छता की जो प्रतीति होती है वह भ्रम मात्र है और उपाधियां सब अविद्या कल्पित होती हैं । इसलिये, ब्रह्म का स्वरूप एक प्रकार का माना जाय तो वह सब विशेषों से रहित ऐसा निर्विकल्प ही मानना पड़ेगा, इसके विरुद्ध नहीं मान सकते । तथा सब स्थान पर जहां श्रुति में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' [कठ० ३।१५, मुक्तिको० २।७२] (वह शब्द रहित; स्पर्श रहित, रूप रहित और अव्यय है) इत्यादि से जिसमें कोई भी विशेष नहीं, ऐसा ही ब्रह्म का स्वरूप वर्णन किया गया है ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

भेदात् [आकृति आदि के] भेद का कथन होने से [ब्रह्म

केवल निर्गुण] न नहीं है, इत्ति चेत् ऐसा कहो तो न वैसा नहीं है, क्योंकि **प्रत्येकम्** प्रत्येक [भेद के] कथन के समय **अतद्वचनात्** वह [वास्तव में] नहीं है ऐसा कहा है।

पूर्वपक्ष—पहले जो कहा था कि ब्रह्म का एक निर्विकल्प ही स्वरूप है, उसका स्थान यानी उपाधि के योग से उभयविधि स्वरूप नहीं बन सकता, वह ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुति में भेद का कथन है। प्रत्येक विद्या के प्रकरण में ब्रह्म के भिन्न भिन्न आकारों का उपदेश दिया गया है, जैसे, चतुष्पाद ब्रह्म [छां० ३।१८।१], सोलह कला वाला ब्रह्म [प्र० ६।१], वामनीत्व लक्षण वाला यानी सब कर्मों का फल देने वाला ब्रह्म [छां० ४।१५।२], तथा त्रैलोक्य के शरीर वाला ब्रह्म [बृ० १।३।२] तथा वैश्वानर इत्यादि नामों से निर्दिष्ट ब्रह्म। पहले जो कहा था कि ब्रह्म का उभय प्रकार का स्वरूप नहीं हो सकता इससे भी हमारा विरोध नहीं है, क्योंकि, उपाधि के कारण ही आकार का भेद होता है ऐसा हमारा मत है और ऐसा न माने तो भेद का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का कोई विषय ही नहीं रहेगा।

समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक भेद वचन के साथ अभेद वचन भी दिया हुआ मिलता है। शास्त्र प्रत्येक उपाधिकृत भेदके वर्णनके साथ ब्रह्मकी अभिन्नता का भी वर्णन करता है जैसे; 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' [बृ० २।५।१] (यह जो पृथिवी में तेजोमय और अमृतमय पुरुष है और यह जो शरीर में तेजोमय और अमृतमय जीव है वही आत्मा है) इत्यादि। इसलिये शास्त्र में ब्रह्म का भिन्न आकारों से सम्बन्ध प्रतिपादन किया है

यह कहना नहीं बनता । उपासना के लिये भेद की कल्पना की गई है, भेद वास्तव में नहीं है यही इन शास्त्रों का तात्पर्य है ॥ १२ ॥

अपिचैवमेके ॥ १३ ॥

अपिच इसी प्रकार, एके एक शाखा के लोग एवम् ऐसा ही [कहते हैं] ।

इसी प्रकार भेदज्ञान की निन्दा करते हुए एक शाखा के लोग अभेद ज्ञान ही का प्रतिपादन करते हैं, जैसे, 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [कठ० ४ । ११] (यह मन ही से प्राप्त करने योग्य है, यहां भेद किंचित भी नहीं है, जो यहां भेद देखता है वह मृत्यु की परम्परा को प्राप्त होता है) । तथा अन्य भी 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' [श्वे० १ । १२] (भोक्ता, भोग्य और प्रेरक इनका जानने पर विदित होता है कि यह सब तीन प्रकार से ब्रह्म ही का कथन है), इस प्रकार भोक्ता, भोग्य और नियन्ता आदि स्वरूप वाला प्रपंच स्वरूप से ब्रह्म ही है ऐसा प्रतिपादन करते हैं ॥ १३ ॥

शंका—ब्रह्म के आकार का प्रतिपादन करने वाली तथा ब्रह्म को निराकार बताने वाली ऐसी उभय प्रकार की श्रुतियां वर्तमान होते हुए ब्रह्म निराकार ही है, ऐसा ही निश्चय कैसे किया गया ? उसको साकार ही क्यों नहीं माना ?

पूर्वोक्त शंका का उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

अरूपवत् [ब्रह्म] रूप रहित एव हि ही है तत्प्रधानत्वात् क्योंकि [श्रुति में] प्रधान रूप से यही प्रतिपादन किया गया है ।

ब्रह्म रूप आदि आकार से रहित है, ऐसा ही मानना चाहिये, रूप आदि युक्त नहीं; क्योंकि श्रुति प्रधानरूप से ऐसा ही प्रतिपादन करती है; जैसे, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' [बृ० ३।८।८] (वह स्थूल नहीं है, अणु ह्रस्व वा दीर्घ नहीं है), 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' [कठ० ३।१५] (वह शब्द-रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अव्यय है), 'आकाशो वै नाम नाम रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' [छां० ८।१४।१] (आकाश ही नामरूप का प्रकाशक है और जो उनके भीतर है वह ब्रह्म है), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' [मुण्ड० २।१।२] (वह दिव्य पुरुष आकार रहित और अज है, वही सबके भीतर और बाहर है), तदेतद्ब्रह्मापूर्वमन परमनन्तरमबाह्य-मयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' [बृ० २।५।१९] (वही ब्रह्म है उसका कोई कारण वा कार्य नहीं है, न उसके बाहर या भीतर कुछ है; यह सबका आत्मा है सबका साक्षी ब्रह्म है), इस प्रकार की सभी श्रुतियां प्रपंचरहित ब्रह्म ही सबका आत्मा है यही अर्थ प्रधान रूप से प्रतिपादन करती हैं, इससे भिन्न कोई अर्थ प्रधान रूप से प्रतिपादन नहीं करतीं, यह हमने 'तत्तु समन्वयात्' [ब्र० सू० १।१।४] इस सूत्र में सिद्ध किया है। इसलिये, इस प्रकार के वाक्यों में श्रुति के अनुसार निराकार ब्रह्म ही का प्रतिपादन है ऐसा मानना चाहिये। अन्य श्रुति वाक्य का जो आकारयुक्त ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं वे ब्रह्म के आकार का प्रधानरूप से प्रतिपादन करने वाले नहीं होते। वे प्रधानरूप से उपासना की विधि का वर्णन करते हैं, इसलिये जहां इन वाक्यों में विरोध नहीं प्राप्त होता वहां उनको वैसा ही ग्रहण करना चाहिये; परन्तु जहां विरोध प्राप्त होता है वहां जिन वाक्यों में प्रधानरूप से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है वे

ही इनसे अधिक प्रवल माने जायेंगे। यही एक प्रमाण है जिससे उभय प्रकार की श्रुतियाँ होते हुए भी ब्रह्म निराकार स्वरूपवाला ही है, साकार नहीं, ऐसा सिद्ध होता है ॥१४॥

फिर आकार वाले ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का क्या होगा ? कहते हैं—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

च और प्रकाशवत् प्रकाशके समान [ब्रह्म भिन्न भिन्न आकार ग्रहण करता है;] अवैयर्थ्यात् क्योंकि [ऐसा मानने से आकार प्रतिपादक श्रुतियां] व्यर्थ नहीं होतीं।

जैसे चन्द्र सूर्य का प्रकाश आकाश को व्याप्त हो रहता है और अंगुलि आदि उपाधियों के सम्वन्ध से सीधा, टेढ़ा आदि भाव को प्राप्त होकर वैसा हुआसा प्रतीत होता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी पृथिवी आदि उपाधियों के संवंध से उसीके आकार को प्राप्त होता है। इसलिये, इस भाव को लेकर उपासना के लिये यदि ब्रह्म के आकार विशेष का श्रुति उपदेश करे तो इसमें कोई विरोध नहीं है, तथा ऐसा मानने से आकार वाले ब्रह्म का कथन करने वाले वाक्य भी व्यर्थ नहीं होते। वेद वाक्य सभी समान रूप से प्रमाण भूत होने से उनमें एक को सार्थक और एक को निरर्थक समझना ठीक नहीं है। पहिले जो (पूर्वपक्ष में) ऐसा कहा था कि उपाधि के योग से भी ब्रह्म का उभय प्रकार का स्वरूप नहीं होता, इसमें विरोध है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि उपाधि से जो धर्म प्राप्त होता है वह वस्तु का नहीं होता। अतिरिक्त इसके, उपाधियां सब अविद्या कल्पित हैं और जब तक स्वाभाविक अविद्या वर्तमान है तब तक ही लोक व्यव-

हार और वेद व्यवहार होता है, यह हम अनेक वार कह चुके हैं ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

च और **आह** [श्रुति ने] कहा है कि **तन्मात्रम्** [ब्रह्म] केवल वह (यानी चैतन्य) है।

तथा श्रुति का कथन है, कि ब्रह्म केवल चैतन्य स्वरूप है तथा इससे विलक्षण ऐसा कोई जिसका रूप नहीं है ऐसा निर्विशेष है, जैसे, 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' [वृ० ४ । ५ । १३] (हे प्रिय, जैसे नमक के डेले के भीतर वाहर और कुछ नहीं होता, वह सवका सव रस से पूर्ण होता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञान से परिपूर्ण है, इसके वाहर भीतर और कुछ नहीं है)। इस श्रुति में यह कहा है कि इस आत्मा का भीतर और वाहर चैतन्य से भिन्न कोई रूप नहीं है, इसका निरंतर चैतन्य ही स्वरूप है, जैसे सैंधव—नमक के भीतर वाहर निरंतर लवणरस ही होता है, अन्य कोई रस नहीं होता ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

च और **दर्शयति** [श्रुति यही] प्रतिपादन करती है **अथो** तथा **स्मर्यते** स्मृति **अपि** भी [वैसा ही] कथन करती हैं।

चैन्तन्य से भिन्न अन्य रूप का निषेध करते हुए ही श्रुति ब्रह्म को निर्विशेष रूप से हो प्रतिपादन करती है, जैसे, 'अर्थात आदेशो नेति नेति' [बृ० २।३।६ (इसलिये अब ऐसा नहीं ऐसा नहीं, इस प्रकार ब्रह्म का निर्देश है), 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' [के० १।३] (वह जाने हुए से भिन्न तथा न जाने हुए से भी भिन्न है), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा

सह' [तै० २।४।१] (जहाँ से मन तथा वाणी उसको न प्राप्त करके ही लौटते हैं इत्यादि । वाष्कलि ने जब बाध्व से पूछा था तब मौन रहकर ही उसने ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश किया था ऐसा श्रुति में वर्णन है, जैसे, स 'होवाचाधीहि भो इति स तूष्णीं वभूव तंह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तू न विजानासि । उपशान्तोऽयमात्मा' (वह बोला हे भगवन्, मुझे ब्रह्म के स्वरूप का उपदेश दोजिये तब बाध्व चुप रहा, जब दो तीन बार इसी प्रकार पूछा तब वह बोला हमने वर्णन तो किया परन्तु तू समझा ही नहीं । यह आत्मा उपशान्त अर्थात निर्गुण है) । स्मृति में भी अन्य स्वरूप का निषेध करते हुए ही निरुपण किया है, जैसे, ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । अनादिमत्पर ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' [भ० गी० १३।१२] (अब मैं उस ज्ञेय तत्त्व का निरुपण करता हूँ जिसको जानने से जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है । वह ज्ञेयतत्त्व अनादि परब्रह्म ही है, उसको न सत् कहते हैं न असत्) इत्यादि । इसी प्रकार विश्वरूप धारण करके नारायण ने नारद से कहा है 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥' (जो तू मुझे सब गुणों से युक्त ऐसा देखता है वह मेरी ही उत्पन्न की हुई माया ही है । तू मुझे वैसा मत जान ॥ १७ ॥

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

च तथा **अतएव** इसीलिये **सूर्यकादिवत्** सूर्य के प्रतिबिंब आदि के समान वह है **उपमा** ऐसी [ब्रह्म को] उपमा [देते] हैं ।

आत्मा चैतन्यरूप, निर्विशेष, मन और वाणी से अतीत और जिसका अन्य रूपों का निषेध करके ही वर्णन होता है, ऐसा है; इसीलिये इसकी उपाधि से प्राप्त हुई अवास्तविक और विशेषता वाली अवस्था के अभिप्राय ही से उसको जल में पड़े सूर्य के प्रतिविंब आदि की उपमा मोक्ष शास्त्रों में दी जाती है; जैसे 'यथाह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना वहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥' (जिस प्रकार यह ज्योतिरूप सूर्य एक होते हुए भी जल की उपाधियों से अनेक हो जाता है, इसी प्रकार देह की उपाधियों से यह अज आत्मा रूप देव भेद रूप हो जाता है), 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा वहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥' (भूतों का आत्मा एक ही है वही प्रत्येक भूत में रहता है, जैसे एक ही चन्द्र अनेक जलों में अनेक दीखता है) इत्यादि ॥ १८ ॥

अब आक्षेप करते हैं—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

तु परन्तु अम्बुवत् जल के समान [वह मूर्त द्रव्य] अग्रहणात् है ऐसा उसका ग्रहण नहीं होता है इसलिये तथात्वम् वह उसका सा (मूर्त) न नहीं है ।

जल के प्रतिविम्ब के साथ समानता ब्रह्म के विषय में नहीं है क्योंकि यहां पर उसके साथ समानता ग्रहण करने में नहीं आती । मूर्त सूर्यादि से पृथक् और उससे वहुत दूर देश में रहा हुआ मूर्त जल होता है तब उस जल में सूर्य का प्रतिविंब पड़ता है । परन्तु न आत्मा मूर्त है न उसको उपाधियां उससे पृथक् हैं

या किसी दूर देश में स्थित हैं, क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक और सबका स्वरूप है, इसलिये दृष्टान्त युक्त नहीं है ॥ १६ ॥

अब इसका प्रतिवाद करते हैं—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमंतर्भावादुभय सामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

अन्तर्भावात् [उपाधियों में] प्रविष्ट होने से [उपाधि के] वृद्धिह्रासभाक्त्वम् वृद्धि और क्षय [ब्रह्म को] प्राप्त होते हैं [इस प्रकार] उभयसामञ्जस्यात् दोनों प्रकार से युक्त होने से एवम् ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है ।

विवक्षित अंश में (जितने अंश में वक्ता का अभिप्राय है उतने अंश में दृष्टांत और दार्ष्टान्त में) समता होने से यह दृष्टान्त युक्त ही है; क्योंकि दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक में एक विवक्षित अंश को छोड़कर सर्व प्रकार से समानता कोई कभी भी बता नहीं सकता, क्योंकि सब प्रकार से एक रूपता प्राप्त होने से दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक का भाव ही नहीं रहता । तथा यह जल सूर्य का दृष्टांत किसी ने अपने मन ही से नहीं दिया है । यह शास्त्र में दिया हुआ होने से इसका जो प्रयोजन है वही यहां पर सूत्रकार आगे रखते हैं । यहाँ पर कौनसी समानता विवक्षित है ? कहते हैं; वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होना यही वह समानता है । जल में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिंब जलकी वृद्धि होने पर बढ़ता है, उसके क्षय होने पर क्षीण होता है, उसके चलने से चलता है और उसके भेद से भेद को प्राप्त होता है, इस प्रकार वह जल के धर्म का अनुसरण करता है परन्तु परमार्थ रूप से यानी वास्तव में सूर्य में यह कुछ नहीं होता । इसी प्रकार वास्तव में कभी विकार को प्राप्त न होने वाला एक

रूप में रहने वाला सत् स्वरूप ब्रह्म देहादि की उपाधि में प्रविष्ट होने से वृद्धि और क्षय आदि जो उपाधि के धर्म हैं उनको प्राप्त हुआ सा भासता है। यह दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में सादृश्य होने से यहां कोई विरोध नहीं प्राप्त होता ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

च तथा **दर्शनात्** [श्रुति में भी] ऐसा ही कथन होने से [यह दृष्टांत ठीक ही है]।

श्रुति परब्रह्म का देहादि उपाधियों के भीतर प्रवेश होने का कथन करती है, जैसे 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥' [बृ० २।५।१८] उसने दो पैर वाले शरीर बनाये, चार पैर वाले बनाये और उस पुरुषने पक्षी होकर शरीर में प्रवेश किया), तथा 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' [छां० ६।३।२] (इस जीवात्मा रूप से प्रविष्ट होकर)। इसलिये 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' [ब्र० सू० ३।२।१८] इस सूत्र में जो कहा है वह ठीक ही है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म का स्वरूप निर्विकल्प ऐसा एक ही प्रकार का है; दोनों प्रकार का अथवा सविकल्प, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

यहां पर कोई दो अधिकरण मानते हैं। प्रथम अधिकरण में 'क्या समस्त प्रपंच का नाश हुआ है, ऐसा एक स्वरूप ब्रह्म है अथवा प्रपंच के समान वह अनेक आकार वाला है' इसका विचार किया गया तथा दूसरे अधिकरण में प्रपंच नाश होने पर जो ब्रह्म रहता है क्या वह सत् स्वरूप है, बोध स्वरूप है अथवा उभय स्वरूप है इसका विचार किया गया है ऐसा वे मानते हैं।

इस पर हमारा कहना है, कि दूसरे अधिकरण का आरंभ करना सर्वथा अनर्थ का कारण है। यदि ब्रह्मके अनेक स्वरूप होने का निराकरण करने के लिये ही यह प्रयास किया गया हो तो वह 'न स्थानतोऽपि' [इत्यादि से सू० ११-१४] इस अधिकरण से ही उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये 'प्रकाशवच्च' [इत्यादि से सूत्र १५-२१] यह अधिकरण व्यर्थ ही हो जायगा। तथा ब्रह्म सत् स्वरूप है और बोध स्वरूप नहीं है, ऐसा कथन भी नहीं वनता, क्योंकि आत्मा विज्ञान से परिपूर्ण है यानी विज्ञान स्वरूप है ऐसा श्रुति का कथन निरर्थक हो जायगा। ब्रह्म केवल वोध स्वरूप ही है सत्स्वरूप नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' [क० ६।१३] (अस्ति स्वरूप ही उसको जानना चाहिये) इत्यादि श्रुति का विरोध हो जायगा। तथा जिसकी कोई सत्ता ही नहीं ऐसा वोध कैसे जाना जायगा ? ब्रह्म उभय स्वरूप है ऐसा भी कह नहीं सकते, क्योंकि यह पूर्वके सिद्ध किये हुए से विरुद्ध होगा। सत्ता रहित वोध अथवा वोध रहित सत्ता वाला जो ब्रह्म का स्वरूप प्राप्त होगा वह तो पूर्व प्रकरण में जिसका निराकरण किया गया है, ऐसा प्रपंच युक्त ही ब्रह्म का स्वरूप प्राप्त होगा। अव यदि कोई कहे कि श्रुति में ही ऐसा कथन होने से इसमें कोई दोष नहीं है तो वह ठीक नहीं, एक ही वस्तु के अनेक स्वभाव होते है ऐसा मान नहीं सकते। अव यदि कहोगे कि सत्ता ही वोध है और बोध ही सत्ता है, इनका परस्पर अभाव नहीं होता, तो ब्रह्म सत् स्वरूप है अथवा वोध स्वरूप है अथवा उभयस्वरूप है इस प्रकार के विकल्प की कल्पना निराधार हो जायगी और हमने ये सव सूत्र एक ही अधिकरण में लगाकर दिखाये हैं। ब्रह्म विषयक श्रुतियों में ब्रह्म को कहीं आकार कहा

है तथा कहीं निराकार ब्रह्म कहा है, इस मतका अंगीकार करने से श्रुति में विरोध आता है, तव हम ब्रह्म निराकार है इस मत को स्वीकार करते हैं, परन्तु ऐसा करने में जहां पर ब्रह्म को साकार बताया है ऐसे वाक्यों का क्या प्रयोजन है यह अवश्य वताना पड़ेगा और यही अर्थ 'प्रकाशवच्च' [सू० १५-२१] इत्यादि सूत्रों का है ऐसा मानने से सूत्रों का अर्थ ठीक बैठता है।

यदि कोई कहे कि आकार प्रतिपादक श्रुतियां भी प्रपंच का निरास बताकर तद्वारा निराकार ब्रह्म ही का प्रतिपादन करती है, वे उससे भिन्न किसी अर्थका प्रतिपादन नहीं करती, तो वह ठीक नहीं प्रतीत होता। सो कैसे ? 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि वहूनि चानन्तानि च।' [बृ० २ । ५ । १६] (इसकी दस, सौ इन्द्रियां हैं यानी यही दस हजार, बहुत तथा अनंत ऐसे इन्द्रियों के रूप से वर्तमान है) इत्यादि श्रुतियां प्रपंच के निरास को वताती हैं, क्योंकि 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' [बृ० २ । ५ । १६] (जिसका कोई कारण नहीं है न कोई कार्य है उसको बाहर भीतर कुछ नहीं है) इस प्रकार उसका उपसंहार किया गया है। परन्तु 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' [छां० ३ । १४ । २] (वह मनोमय है, प्राण उसका शरीर है वह प्रकाश रूप है) इत्यादि जो उपासना विधि में भेद का कथन है उनको प्रपंच के निरास के हेतु कहा है ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि 'स क्रतु कुर्वीत' [छां० ३ । १४ । २] (वह यज्ञ करे) इस प्रकार के उपासना सम्वन्धी वाक्यों से उनका सम्वन्ध है। इन श्रुतियों में जो ब्रह्म के इस प्रकार के गुण कहे हैं वे उपासना के लिये कहे गये हैं, ऐसा जब हम सीधी रीति से मान सकते हैं तब लक्षणा द्वारा ये वाक्य प्रपंच के निरास के लिये हैं ऐसा मानना ठीक

नहीं है। यदि सब ही को सामान्य रूप से प्रपंच विलय के अर्थ में माने तो 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' [ब्र० सू० ३-२-१४] (इस निराकार ब्रह्म के साधक वचन को अवकाश ही न रहेगा। दूसरे इन वाक्यों के फल भी उपदेश के अनुसार कहीं पाप का क्षय तो कहीं ऐश्वर्य की प्राप्ति तो कहीं पर क्रममुक्ति ऐसे भिन्न भिन्न कहे हैं, इसलिये उपासना वाक्य और ब्रह्म वाक्य इनको पृथक् मानना ही योग्य है, इनको एक अर्थ के प्रतिपादक नहीं हो सकते। अब इनकी एक वाक्यता किस प्रकार हो सकती है सो बताना होगा। यदि प्रयोज और दर्शपूर्ण मास के वाक्यों में, इन दोनों प्रकार के वाक्यों में एक ही विधि का प्रतिपादन होने से, जैसे उनकी वाक्यता है वैसे यहां है ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म प्रतिपादक वाक्यों में विधि नहीं होती। जितने ब्रह्म सम्बन्धी वाक्य हैं वे सब वस्तु प्रतिपादक ही है किसी विधि का प्रतिपादन वे नहीं करते यह हमने 'तत्तुसमन्वयात्' [ब्र० सू० १।१।४] में भली प्रकार सिद्ध किया है।

दूसरे किस (व्यापार) के लिये यहां पर विधि अभिप्रेत है यह भी कहना होगा; क्योंकि किसी पुरुष को विधि कहा जाय तो 'यह कर' इस प्रकार से उसको अपने व्यापार के साथ नियुक्त किया जाता है।

पूर्वपक्ष—द्वैत प्रपंच का लय करना यही विधि का विषय हो सकता हैं; क्योंकि जब तक प्रपंच का विलय नहीं किया जायगा तब तक ब्रह्म तत्त्व का बोध नहीं होगा। जिस प्रकार स्वर्ग की इच्छा करने वाले को यज्ञ करने की आवश्यकता है; ऐसा श्रुति उपदेश करती है, इसी प्रकार मोक्ष की इच्छा वाले के लिये प्रपंच विलय के विधि का उपदेश है। जैसे अंधकार में स्थित घट आदि तत्त्वों का बोध करने की इच्छा करने वाले को

उसके आड़ आने वाले अंधकार का नाश करना पड़ता है, वैसे ही ब्रह्म तत्त्व का बोध करने की इच्छा वाले को उसके आड़ आने वाले प्रपंच का निरास करना आवश्यक है। प्रपंच ब्रह्म स्वरूप है ब्रह्म प्रपंच स्वरूप नहीं है; इसलिये नामरूप प्रपंच का नाश होने से ब्रह्मतत्त्व का बोध होता है।

समाधान—यहां हम पूछते हैं कि प्रपंच विलय से क्या अभिप्राय है? क्या अग्नि की उष्णता के संम्वन्ध से जैसे घृत की कठिनता दूर हो जाती है, वैसे प्रपंच का विलय करने का है अथवा तिमिर दोष के कारण एक ही चंद्र में अनेक चन्द्रों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जो ब्रह्म से अविद्या जनित नामरूप का प्रपंच भासता है उसका विद्या द्वारा विलय करने से अभिप्राय है? यहाँ पर यदि यही अभिप्राय हो कि जितना देहादि लक्षण वाला अध्यात्मिक तथा पृथिवी आदि स्वरूप वाह्य प्रपंच विद्यमान है, उसका लय करना चाहिये तो उसका विलय करना, किसी मनुष्य के सामर्थ्य के वाहर है, इसलिये ऐसे विलय के लिए जो उपदेश किया जाय उसके लिये विषय ही न रहेगा। क्योंकि जो कोई पहले मुक्त हुआ उसने पृथिवी आदि का प्रलय कर दिया तो अब जगत पृथिवी आदि से रहित हो जायगा। और यदि अविद्या से एक ही ब्रह्म में अध्यस्त हुए प्रपंच का विद्या से विलय करना चाहिये, ऐसा अभिप्राय हो तो 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (ब्रह्म एक और अद्वितीय ही है वह सत्स्वरूप आत्मा है और वही तू है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा अविद्या से आरोपित किये प्रपंच का निषेध करके ब्रह्म का केवल निदर्शन करना ही पर्याप्त होगा। ब्रह्म का निदर्शन करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उससे अविद्या से अध्यस्त हुआ समस्त नामरूप

प्रपंच स्वप्न सृष्टि के समान लय को प्राप्त होगा। ब्रह्म को न बताते हुए 'ब्रह्म का ज्ञान कर प्रपंच का लय कर' ऐसा सौ बार कहा जाय तो भी न ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होगा, न प्रपंच का भी लय होगा।

यदि कहो कि ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करने के पश्चात उसको जानने के लिये और प्रपंच का लय करने के लिये नियोग (आज्ञा या विधि) वन सकेगा तो यह ठीक नहीं। ब्रह्म निष्प्रपंच है ऐसा कहने ही से दोनों बातों की सिद्धि होती हैं। जैसे रज्जु के स्वरूप के प्रकाश से ही उसके स्वरूप का ज्ञान तथा अविद्या से अध्यस्त सर्प आदि प्रपंच का विलय हो जाता है, और एक बार किये हुए काम को फिर कोई नहीं करता।

प्रपंच अवस्था में जिस जीव के लिये यह नियोग प्रतिपादित है वह प्रपंच पक्ष में है अथवा ब्रह्म पक्ष में है यह विकल्प प्राप्त होता है। प्रथम विकल्प माने तो ब्रह्म का प्रपंच रहित स्वरूप मानने में पृथ्वी आदि के साथ जीव का भी नाश होता है, फिर प्रपंच का नाश करने का विधि किसके लिये कहा जाय और उस विधि के अनुसार चलने से मोक्ष भी किसको प्राप्त होगा यह कहना पड़ेगा। द्वितीय विकल्प माने तो भी विधि के लिये अयोग्य ऐसा ब्रह्म ही जीव का स्वरूप है और वह जीवत्व उसको अविद्या ही से प्राप्त होता है, इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन होते ही जिसके लिये विधि किया जाय ऐसा कोई भी शेष नहीं रहता इसलिये नियोग ही नहीं रहता।

अब ब्रह्म विद्या के प्रकरण में 'आत्मा को देखना चाहिये' आदि जो शब्द आते हैं वे भी तत्त्वज्ञान का विधि प्रतिपादन करने के अभिप्राय से नहीं आते परन्तु तत्त्वज्ञान की ओर ध्यान

आकर्षित करने के लिये वे दिये गये हैं। लोक व्यवहार में भी 'यह देखो यह सुनो' इत्यादि प्रकार के कथन से इस बात की ओर ध्यान दो यही अभिप्राय होता है साक्षात् जानने से अभिप्राय नहीं होता। ज्ञेय पदार्थ की ओर प्रवृत्त होने वाले को भी उस पदार्थ का ज्ञान कभी होता है और कभी नहीं भी होता, इसलिये जिसको ज्ञान की इच्छा है उसको ज्ञान देने वाला उस ज्ञान के विषय का केवल निर्देश कर सकता है। उसका निर्देश करने से उस वस्तु के अनुरूप तथा जानने वाले के ज्ञान साधन की योग्यता अनुसार ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। जो वस्तु अन्य प्रमाणों से एक प्रकार से प्रसिद्ध है उसीका विधि द्वारा अन्य प्रकार से ज्ञान हो यह संभव नहीं है। यदि कोई कहे कि जब मैं नियुक्त हूँ यानी मेरे लिये यह विधि है तब उसका भिन्न रूप से ज्ञान होना ही चाहिये तो हम कहते हैं इस प्रकार का जो ज्ञान हुआ, क्या वह एक मानसी क्रिया है? क्योंकि यदि वह ज्ञान स्वयं ही अन्य प्रकार से उत्पन्न होता होगा तो वह एक भ्रान्ति ही है। ज्ञान प्रमाण से उत्पन्न होता है और जैसा विषय होता है उसीके अनुरूप होता है, इसलिये, श्रुति के सैकड़ों नियोग (विधि) उसको उत्पन्न नहीं कर सकते, न सैकड़ों निषेध उसका निवारण कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञान पुरुष के अधीन नहीं है वस्तु के अधीन है। इसलिये भी ज्ञान के लिये विधि बन नहीं सकता।

दूसरे, यदि वेद का पर्यवसान अन्य किसी के विधि में ही है, ऐसा माने तो उसका निदर्शन करने ही से उसका प्रयोजन पूर्ण होता है, फिर जिसका विधि नहीं बन सकता ऐसा ब्रह्म ही जीव का स्वरूप है यह सिद्धान्त अप्रमाण ही होगा। तथा नियोग (विधि) के अयोग्य ऐसा जो ब्रह्म वह जीव का स्वरूप

है, यह भी शास्त्र ही कहते हैं और उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये नियोग भी वे ही कहते हैं ऐसा माने तो ब्रह्म शास्त्र एक होते हुए भी उसके दो प्रयोजन हैं तथा वे भी एक एक के विरुद्ध हैं, ऐसा दोष प्राप्त होगा। वेदों का केवल नियोग ही तात्पर्य है ऐसा माने तो सुने हुए का त्याग और न सुने हुए की कल्पना, कर्म फल के समान मोक्ष फल भी अदृष्ट ही होना तथा इसी कारण मोक्ष का अनित्य होना इत्यादि दोषों की प्राप्ति होती है जिनको कोई भी निवारण नहीं कर सकता। इसलिये श्रुति के ब्रह्म विषयक वाक्यों का ही बोध ही में तात्पर्य है नियोग (विधि) में नहीं और इसीलिये इन वाक्यों में एक ही नियोग की प्रतीत होने से इनकी एक वाक्यता है ऐसा जो ऊपर कहा था वह भी ठीक नहीं है।

ब्रह्म विषयक वाक्यों में नियोग अभिप्रेत है ऐसा माने तो भी जिनमें ब्रह्म का प्रपंच सहित प्रतिपादन किया है ऐसे तथा निष्प्रपंच ब्रह्म का प्रतिपादन जिनमें है ऐसे दोनों प्रकार के वाक्यों में एक ही नियोग प्रतिपादित है ऐसा सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, इन वाक्यों का विषय और फल भिन्न है (आत्मा को देखे इत्यादि प्रकार के वाक्यों का विषय निर्गुण ब्रह्म और फल मोक्ष तथा उपासना करनी चाहिये इत्यादि प्रकार के वाक्यों का विषय सगुण ब्रह्म और फल अभ्युदय है), इसलिये ये वाक्य भिन्न भिन्न नियोग बताते हैं ऐसा जानकर भी सब वाक्यों में एक ही नियोग है ऐसा मान नहीं सकते। अब प्रयाज तथा दर्श पूर्णमास इन संबंधी वाक्यों का अधिकारी एक ही होने से उनमें एक ही नियोग का कथन है ऐसा मानना ठीक है। परन्तु सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म संबंधी विधि वाक्यों में एक ही नियोग है ऐसा मानने के लिये दोनों का अधिकारी एक नहीं है। प्रकाश

स्वरूप होना इत्यादि गुण प्रपंच का नाश करने में उपयोगी नहीं है वैसे ही प्रपंच का नाश भी प्रकाश स्वरूप होना इत्यादि गुणों के उपयोगी नहीं है क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। सब प्रपंच का नाश तथा प्रपंच के एक भाग की अपेक्षा इन दोनों धर्मों का एक ही धर्मी में समावेश करना युक्त नहीं है। इसलिये, ब्रह्म को आकारवान् तथा निराकार प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में जो भेद हमने बताया है वही योग्य है ऐसा सिद्ध हुआ॥ २१ ॥

६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण । सू० २२-३०

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति

ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

प्रकृतैतावत्त्वम् ये जो प्रकृत [ब्रह्म के रूप] है इनका **हि** ही [श्रुति] **प्रतिषेधति** निषेध करती है **च** और **ततः** इसलिये **भूयः** [श्रुति] फिर **ब्रवीति** ऐसा कहती है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' [बृ० २। ३। १] (ब्रह्म के दो रूप हैं, एक मूर्त और दूसरा अमूर्त) इस प्रकार उपक्रम करके पंच महाभूतों के दो विभाग करके पश्चात अमूर्त (महाभूतों का सारभूत) जो 'पुरुष' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है उस (हिरण्यगर्भ) का हलदी आदि से रूप बता कर श्रुति आगे कहती है कि 'अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' [बृ० २। ३। ६] ' इसलिये, अब ब्रह्म का यह ऐसा नहीं है यह ऐसा नहीं है इस प्रकार यानी निषेध मुख से निर्देश किया गया है। इससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इसलिये यह ऐसा नहीं है ऐसा कहा है, ब्रह्म इससे पर

ही है) अब इस वाक्य में निषेध का क्या विषय है ऐसी जिज्ञासा करते हैं; क्योंकि यहां पर इस रूप से किसी वस्तु का निषेध्य रूप से निर्देश नहीं मिलता। परन्तु 'इति' (ऐसा) इस शब्द द्वारा यहाँ पर कोई एक वस्तु निषेध्य रूप से कही है ऐसा सूचित होता है। क्योंकि यहां 'नेति नेति' (ऐसा नहीं) इसमें 'न' नहीं शब्द का 'इति' (ऐसा) इस शब्द के साथ प्रयोग किया गया है। अब 'इति' शब्द का 'एवं' के समान संनिहित वस्तु के लिये ही प्रयोग होता है। जैसे, 'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' (उपाध्याय ने ऐसा कहा) इत्यादि में देखा जाता है। यहां पर संनिहित तो प्रकरण बल से ब्रह्म के प्रपंचयुक्त दो रूप और वे दो रूप जिसके हैं ऐसा ब्रह्म है। यहां हमें संशय होता है कि क्या यह जो निषेध किया गया है वह ये दो रूप तथा रूपवान् इन दोनों के लिये किया गया है अथवा दोनों में से किसी एक का निषेध किया गया है। यदि दोनों में से एक का निषेध किया हो तो क्या ब्रह्म का निषेध करके श्रुति दोनों रूप शेष रखती है अथवा दोनों रूपों का निषेध करके ब्रह्म को शेष रखती है ?

पूर्वपक्ष—श्रुति दोनों ही का निषेध करती है ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि यहां पर समान रूप से दोनों ही प्रकृत हैं। इसके अतिरिक्त, यहाँ पर 'नेति' शब्द का दो वार प्रयोग होने से दोनों ही का निषेध प्रतीत होता है। इनमें एक 'नेति' पद से ब्रह्म का प्रपंच सहित रूप का निषेध किया गया है और दूसरे 'नेति' पद से रूप वाले ब्रह्म का निषेध किया गया है ऐसा हमको प्रतीत होता है। अथवा यह भी हो सकता है कि यहाँ पर केवल रूप वाले ब्रह्म ही का निषेध किया गया हो; क्योंकि ब्रह्म मन वाणी से अगोचर होने से उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं

हैं; परन्तु रूपयुक्त प्रपंच प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय होने से उसका निषेध कर नहीं सकते। इस अन्तिम पक्ष में 'नेति' पद की द्विरुक्ति आदरार्थ है ऐसा समझना चाहिये।

समाधान—श्रुति दोनों ही का निषेध करती है ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा करने से शून्यवाद प्राप्त होगा। किसी वस्तु के आधार को लेकर ही अन्य किसी वस्तु का निषेध किया जाता है, जैसे रज्जु आदि के आधार को लेकर सर्पादि का निषेध किया जाता है। यह तब ही बनेगा जब किसी वस्तु का भाव शेष रहेगा। परन्तु दोनों का निषेध करने से और कौन वस्तु शेष रहेगी और यदि कोई अन्य वस्तु शेष नहीं रहे तो जिसका हम निषेध करना चाहते हैं वह निषेध करना ही सम्भव न होने से वही वस्तु परमार्थ रूप सिद्ध होती है और निषेध की सिद्धि नहीं होती। वैसे ही, श्रुति ब्रह्म का प्रतिषेध करती हैं ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' [बृ० २।१।१] (मैं तुझसे ब्रह्म कहूंगा) इत्यादि से वहां पर श्रुति उपक्रम करती है उसका विरोध होगा, 'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' [तै० २।६।१] (यदि ब्रह्म को कोई असत् जाने तो वह असत् ही होगा) इस प्रकार श्रुति जो निन्दा करती है उसका भी विरोध होगा तथा 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' [क० ६।१३] (वह अस्तित्व स्वरूप यानी सत्ता स्वरूप है ऐसा ही उसको जानना चाहिये) इस प्रकार का जो श्रुति निश्चय करती है उसका भी विरोध होगा। इतना ही नहीं, श्रुति ब्रह्म का निषेध करती है, ऐसा मानने से सब ही वेदान्त वाक्य बाधित हो जायंगे। ब्रह्म मन वाणी से अगोचर है, ऐसा जो कहा है वह भी उसका अभाव प्रतिपादन करने के अभिप्राय से नहीं कहा गया, क्योंकि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० २।१।१] (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म

ही को प्राप्त होता है), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१।१] (ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त है इत्यादि वेदांत वाक्यों द्वारा महा परिश्रम के साथ ब्रह्म का प्रतिपादन करके उसीका वह अभाव बतावे यह बन नहीं सकता। नीति भी ऐसा ही कहती है कि 'प्रक्षालनाद्धिपंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' (कीचड़ को पीछे धो देने की अपेक्षा उससे दूर रहते हुए उसको स्पर्श न करना ही अच्छा है)। इसलिये 'यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' [तै० २।४।१] (जहां से मन तथा वाणी उसको न प्राप्त करते हुए लौटते हैं) यह वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन ही करता है। इस वाक्य का भाव यह है—वाणी और मन से वह अतीत है यानी ब्रह्म इनका विषय नहीं है, वह प्रत्यगात्मा रूप नित्य शुद्ध बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव वाला है। इसलिये श्रुति ब्रह्म के रूप आदि प्रपंच का बाध करती है और ब्रह्म को शेष रखती है यही मानना युक्त है। यही बात 'प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति' (जो प्रकृत यानी मूर्त और रूप ऐसा ब्रह्म का रूप है इनका श्रुति निषेध करती है) इस सूत्र के प्रथम अंश से कही है। 'एतावत्' यानी इतना ही इस प्रकार की मर्यादा से परिच्छिन्न ऐसा जो मूर्त और अमूर्त ब्रह्म का रूप है उसका यह श्रुति निषेध करती है। क्योंकि ग्रंथ के पूर्व भाग में इनही का आध्यात्मिक और अधिदैविक रूप से सविस्तार प्रतिपादन होने से येही प्रकृत हैं। तथा इन रूपों से उत्पन्न हुआ जो वासनात्मक दूसरा रूप है, जो अमूर्तरूपों का सारभूत है और जो 'पुरुष' शब्द से निर्दिष्ट है और लिंग शरीर में रहता है उसी को श्रुति हलदी के रंग की उपमा आदि से दिखाती है। क्योंकि अमूर्त महा भूतों के सारभूत पुरुष को चक्षु से ग्रहण करने योग्य रूप का संबंध सिद्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म के इन प्रपंच युक्त रूपों का ही

संनिहित पदार्थ को दिखाने वाले 'इति' (ऐसा) शब्द से ग्रहण करते हुए उसका नकार से निषेध किया गया है ऐसा ज्ञात होता है। अब ग्रन्थ के पूर्व भाग में जो ब्रह्म का निर्देश किया गया है वह षष्ठी विभक्ति के साथ होने से गौण है प्रधान नहीं (जैसे 'राजाका सेवक' इस प्रयोग में राजाका यह पद विशेषण होने से गौण होता है)। अतिरिक्त इसके, उसके दोनों रूपों का विस्तार के साथ वर्णन करने के पश्चात् जिसके ये रूप हैं उसका क्या स्वरूप होगा यह जानने की इच्छा भी सहज होती है, इसलिये आगे श्रुति उपक्रम करती है 'अथात आदेशो नेति' नेति' [बृ० २ । ३ । ६] (इसलिये अब वह ऐसा नहीं है ऐसा नहीं है इस प्रकार यानी निषेध द्वारा ब्रह्म का निर्देश किया जाता है)। इस श्रुति में कल्पित रूपों का निषेध करके तद्द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश किया गया हैं ऐसा हम निर्णय करते हैं। उसी के आधार में रहे हुए यानी कल्पित ऐसे सब कामों का 'नेति नेति' इन शब्दों से निषेध किया गया है। कार्य मिथ्या होने से, उसको वाचारंभण (मिथ्या) आदि कहकर श्रुति ने [देखो ब्र० सू० [२।१।१४] निषेध किया है वह ठीक ही है, परन्तु ब्रह्म सब कल्पना का (यानी कल्पित रूप प्रपंच का) आधार होने से उसका निषेध हो नहीं सकता।

अब यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि शास्त्र प्रथम स्वयं ही ब्रह्म के दो रूप बताता है फिर स्वयं ही उसका निषेध कैसे करता है, क्योंकि 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्यदूरादस्पर्शनं वरम्' (कीचड़ को पीछे धो डालने की अपेक्षा उससे दूर रहकर उसके स्पर्श से ही बचना अच्छा है)। शंका को स्थान इसलिये नहीं है कि शास्त्र ब्रह्म के जो दो रूप बताता है वह उनका प्रतिपादन करने के हेतु से नहीं परन्तु लोगों में प्रसिद्ध ऐसे इन

दोनों रूपों का ब्रह्म में कल्पित होना, उनका निषेध करने के हेतु से तथा ब्रह्म के स्वरूप दिखाने के हेतु से दिखाते हैं, यह ठीक ही है। यहां पर जो निषेध की द्विरुक्ति है वह मूर्त और अमूर्त दोनों के निषेध करने के लिये है; अथवा प्रथम निषेध भूत समूह का निषेध करता है तथा दूसरा निषेध वासना समूह का निषेध करता है, अथवा नेति नेति यह द्विरुक्ति सब के सबंध में है अर्थात् ऐसा 'ऐसा' इस प्रकार कहने से जो कुछ प्राप्त होता है वह सब ब्रह्म नहीं है ऐसा इसका अर्थ है। एक एक करके सब पदार्थों का निषेध करने पर यदि यह कोई ब्रह्म नहीं हैं तब और दूसरा ब्रह्म कौनसा है ऐसी जिज्ञासा होती है और द्विरुक्ति सबके लिये हैं ऐसा मानने से समस्त विषय समूह का प्रतिषेध हो जाने से जो मन वाणी का विषय नहीं होता ऐसा प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है ऐसा बोध होने से जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है। इसलिये ब्रह्म में कल्पित प्रपंच ही का श्रुति निषेध करती है और ब्रह्म को अवशेष रखती है यही निर्णय हुआ।

यही निर्णय करने का कारण यह भी है कि निषेध करने के पश्चात् श्रुति फिर कहती है कि 'अन्यत परमस्ति' [बृ० २।३।६] (इससे वह यानी ब्रह्म अन्य ही है) यदि पूर्व के निषेध का पर्यवसान शून्य ही में माना जाय तो इससे पर अन्य है ऐसा कैसे कह सकते हैं। श्रुति के अक्षरार्थ की योजना इस प्रकार है 'नेति नेति' इस प्रकार (निषेध रूप से) ब्रह्म का निर्देश करके वह उसी निदश का पुनः निर्वचन करती है। 'नेति नेति' इसका क़्या अर्थ ? इसका यही अर्थ है कि इस ब्रह्म के व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं इसलिये 'नेति नेति' वह ऐसा नहीं है ऐसा नहीं है ऐसा कहा है परन्तु स्वयं वह ब्रह्म ही नहीं है इस अभिप्राय से ऐसा नहीं कहा गया, यही इसका भाव है। वह

श्रुति आगे कहती है कि इससे अन्य ब्रह्म है जिसका प्रतिषेध नहीं किया गया है।

अब श्रुति के शब्दों की योजना इस प्रकार की जाय कि 'एतस्मान्न इति नेतिनेति' अर्थात् इससे निर्देश नहीं होता जिसका भावार्थ यह है कि प्रपंच के निषेध रूप आदेश के अतिरिक्त अन्य कोई ब्रह्म का उत्तम आदेश नहीं है। श्रुति की योजना इस प्रकार करने पर 'ततो ब्रवीति च भूयः' यह सूत्रांश नाम के लिये है ऐसे समझना चाहिये। वह नाम यह है 'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' [बृ० २ । १ । २०] (वह सत्य का भी सत्य है, प्राण ही सत्य हैं और ब्रह्म उनका सत्य है) अर्थात् इसमें ब्रह्म को सत्य का सत्य यह नाम दिया गया है; वह तभी समञ्जस होता है जब निषेध का पर्यवसान ब्रह्म में होता हो। यदि निषेध का पर्यवसान अभाव में ही हो तो सत्य का सत्य किसको कहा जायगा। इसलिये इस निषेध का पर्यवसान ब्रह्म ही में है, अभाव में नहीं ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

तत् वह [ब्रह्म] अव्यक्तम् अव्यक्त है हि क्योंकि आह [श्रुति ऐसा ही] कहती है।

जिस प्रपंच का निषेध किया गया है उससे अन्य यदि ब्रह्म कोई पदार्थ है तो उसका ग्रहण क्यों नहीं होता ? कहते हैं कि वह अव्यक्त यानी इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है क्योंकि वह सब दृश्य प्रपंच का साक्षी है। श्रुति ऐसा ही कहती है— 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' [मु० ३।१।८] (उसका न चक्षु से ग्रहण होता है न वाणी से अरो

न अन्य किसी इन्द्रिय से तथा उसका तप और कर्म से भी ज्ञान नहीं होता), 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' [बृ० ३।६।२६] (ऐसा यह 'नेतिनेति' इस प्रकार निषेध द्वारा वर्णन किया हुआ आत्मा अगृह्य है क्योंकि वह किसी से यानी किसी इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होता), 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' [मु० १।१।६] (यह जो अदृश्य और अग्राह्य है), 'यदा ह्येवैष 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' [तै० २।७।१] (जब यह इस अदृश्य शरीर रहित, अनिर्वाच्य और आश्रय रहित में यानी ब्रह्म में) इत्यादि। स्मृति भी ऐसा ही कहती है, 'अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' [भग० गी० २।२५] (यह अव्यक्त है अचिन्त्य और विकार रहित है ऐसा कहते हैं) इत्यादि ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपि च वैसे ही **संराधने** आराधना के समय [योगी लोग अव्यक्त ऐसे ब्रह्म को देखते हैं ऐसा] **प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्** प्रत्यक्ष और अनुमान से [विदित होता है]।

वैसे ही, योगी लोग संराधन काल में प्रपंच रहित और अव्यक्त ऐसे आत्मा को देखते हैं। भक्ति, ध्यान, प्रणिधान आदि के अनुष्ठान को संराधन कहते हैं। अब संराधन काल में वे आत्मा को देखते हैं यह कैसे जाना जाता है? प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अर्थात् श्रुति और स्मृति के प्रमाण से। श्रुति इस प्रकार है—'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥' [क० ४।१] (स्वयंभू ईश्वर ने बहिर्मुख इन्द्रियां निर्माण की हैं इसलिये जीव बाहर देखता

है भीतर नहीं देखता, परन्तु अमृतत्व की इच्छा रखने वाला कोई ज्ञानी मनुष्य आंखें बंद करते हुए प्रत्यगात्मा को देखता है), 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' [मु० ३ । १ । ८] ज्ञान के प्रसाद से अन्तःकरण शुद्ध होने पर ध्यान करते हुए उस निष्कल आत्मा को देखते हैं) इत्यादि । स्मृति भी ऐसा ही कहती है—'यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यंति युंजानास्तस्मै योगात्मने नमः ।। योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।' (जिस ज्योति को निद्रा का त्याग करते हुए और प्राण का जय करके संतुष्ट और इन्द्रियनिग्रही ऐसे योगी देखते हैं, उस योग के आत्मा रूप ब्रह्म ज्योति को नमस्कार है; योगी उस सनातन भगवान को देखते हैं) ।। २४ ।।

यदि कोई कहे कि संराध्य संराधक भाव की उपलब्धि होने से जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हो सकते हैं तो कहते हैं कि वह ठीक नहीं है—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च
कर्मण्यभ्यासात् ।। २५ ।।

च और **प्रकाशादिवत्** प्रकाश आदि के समान **अवैशेष्यम्** [उन दोनों में] भेद नहीं है, **प्रकाशः** प्रकाश स्वरूप आत्मा **कर्मणि** कर्म से [भिन्न होता है] **अभ्यासात्** क्योंकि अनेक बार [उन दोनों के भेद का निर्देश किया गया है] ।

जैसे प्रकाश, आकाश, सूर्य आदि अंगुली कमंडलु उदक आदि उपाधियों के कर्मों से भिन्न भासते हैं परन्तु वे अपनी स्वभाव सिद्ध एक रूपता का त्याग नहीं करते, वैसे ही, ये उपाधि ही से

भिन्न भासते हैं स्वभाव से एक ही हैं। इसीलिये वेदान्त शास्त्र में पुनः पुनः जीव और ईश्वर के अभेद का प्रतिपादन किया गया है ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिंगम् ॥ २६ ॥

अतः इसलिये [जीव] अनन्तेन परमात्मा से [एकता को प्राप्त होता है] हि क्योंकि [श्रुति में इसका] तथा ऐसा ही लिंगम् लक्षण है।

इसलिये अभेद स्वाभाविक होने से तथा भेद अविद्या जनित होने से विद्या से अविद्या का नाश करके जीव अनन्त रूप परमेश्वर के साथ एकता को प्राप्त होता है। श्रुति में ऐसा ही लक्षण दिया है—'स योह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मु० ३। २। ६] (जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है), 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' [बृ० ४। ४। ६] (ब्रह्म ही होने से ब्रह्म में लीन हो जाता है) इत्यादि ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तु परन्तु उभयव्यपदेशात् दोनों प्रकार का निर्देश होने से अहिकुण्डलवत् सर्प तथा उसका कुण्डल आदि के समान [यह जानना चाहिये]।

इसी संराध्य संराधक मात्र का अवलंबन करके अपने मत के अधिक विशुद्ध बोध के लिये अन्य मत को दिखाते हैं:—श्रुति में कहीं पर 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं 'ध्यायमानः' [मुण्ड० ३।१।८] (पश्चात् ध्यान करते हुए वह निरवयव आत्मा को देखता है) इस प्रकार ध्याता ध्येय तथा द्रष्टा द्रष्टव्य रूप से जीव और ईश्वर के भेद का कथन किया है। 'परात्परं पुरुष-

मुपेति दिव्यम्' [मु० ३।२।८] (परसे पर ऐसे दिव्य पुरुषको वह प्राप्त होता है) इस प्रकार उनका गमन करने वाला और गन्तव्य भाव से कथन किया है। 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' [बृ० ३।७।१५] (जो सब भूतों का आंतर से नियमन करता है) इस प्रकार नियन्ता और नियमन करने योग्य के भाव से उनके भेद का कथन किया है। विरुद्ध इसके, कहीं पर 'तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है), 'अहंब्रह्मास्मि [बृ० १।४।१०] (मैं ब्रह्म हूँ), 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' [बृ० ३।४१] (यह तेरा आत्मा सब के भीतर है) 'एष त आत्मा-न्तर्याम्यमृतः' [बृ० ३ । ७ । ३] (यह तेरा आत्मा सबका अन्तर्यामी और अमृतस्वरूप है। इत्यादि से उनके अभेद का श्रुति कथन करती है। यहां पर दोनों प्रकार का कथन होने से यदि केवल अभेद ही का ग्रहण किया जाय तो श्रुति में जो भेद का उपदेश है वह निराधार हो जायगा। इसलिये श्रुति में दोनों प्रकार का उपदेश होने से सर्व और उसके लपेटे के समान तत्त्व को समझना चाहिये अर्थात् जैसे सर्प इस भाव से अभेद है परन्तु गोलाई वक्रता लंबाई आदि के भाव से भेद है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये ॥ २७ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

वा अथवा **प्रकाशाश्रयवत्** प्रकाश और उसके आश्रय के समान [इनको समझना चाहिये] **तेजस्त्वात्** क्योंकि वह तेजो रूप है।

अथवा प्रकाश और उसके आश्रय के समान इनको समझना चाहिये। जैसे सूर्य का प्रकाश तथा उसका आश्रय, ये दोनों परस्पर अत्यंत भिन्न नहीं होते क्योंकि दोनों ही समान रूप से

तेजो रूप है, परन्तु फिर भी इनको भिन्न भिन्न ही कहा जाता है वैसे ही यहां पर समझना चाहिये ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

वा अथवा पूर्ववत् पूर्व में [कहे हुए] के समान [यहाँ पर भी समझना चाहिये]।

अथवा जैसे 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्' [ब्र० सू० ३।२।२५] (प्रकाश आदि के समान दोनों अभिन्न हैं) ऐसा पूर्व ग्रंथ में कहा है वैसे ही यहां पर समझना चाहिये। क्योंकि, ऐसा मानने ही से बंध का अविद्याजनित होना और विद्या से मोक्ष होना सयुक्तिक होता है। यदि आत्मा वास्तव में ही बद्ध हो और वह अहिकुण्डल के समान परमात्मा ही की एक अवस्था हो अथवा प्रकाश आश्रय के समान एकदेशी माना जाय तो वास्तविक बंध को दूर करना असंभव होने से मोक्ष शास्त्र व्यर्थ होने का प्रसंग प्राप्त होगा; और यहां पर श्रुति भेद और अभेद का समान रूप से उपदेश भी नहीं करती, वह प्रतिपाद्य रूप से अभेद ही का उपदेश करती है और अन्य वस्तु की सिद्धि करने के लिये पूर्व ही से प्रसिद्ध ऐसे भेद का अनुवाद यानी निर्देश करती है। इसलिये 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्' [ब्र० सू० ३।२।२५] (प्रकाश आदि के समान दोनों अभिन्न हैं) यही सिद्धांत है।

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

च और प्रतिषेधात् निषेध किया हुआ होने से [यही सिद्धान्त है]।

और इसलिये भी सिद्धांत यही है कि शास्त्र परमात्मा के अतिरिक्त अन्य चैतन्य का निषेध करता है; जैसे, 'नान्योऽतोस्ति

द्रष्टा' [बृ० ३।७।२३] (इससे अन्य और कोई द्रष्टा नहीं है') इत्यादि, 'अथात आदेशो नेति नेति' [बृ० २।३।६] (इसलिये अब इसका 'ऐसा नहीं है ऐसा नहीं है' इस प्रकार उपदेश किया जाता है), 'तदेतद्ब्रह्मा पूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यम्' [बृ० २।५।१९] (ऐसा यह ब्रह्म कार्य कारण रहित है तथा इसको भीतर बाहर भी कुछ नहीं है) इत्यादि श्रुति ब्रह्म से अतिरिक्त सब प्रपंच का निराकरण करते हुए केवल ब्रह्म ही शेष रखती है, इसलिये भी (जीव ईश्वर अभिन्न है) यही सिद्धांत है ऐसा निश्चय होता है ॥ ३० ॥

पराधिकरण । सू० ३१-३७

परमतः सेतून्मानसंबंधभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

अतः इस [ब्रह्म] के **परम्** पर [और एक तत्व है ऐसा] **सेतून्मानसंबंधभेदव्यपदेशेभ्यः** सेतु, उन्मान, संबंध तथा भेद इनके निर्देश से [प्रतीत होता है]।

अब यह जो समस्त प्रपंच से रहित ब्रह्म है ऐसा निश्चय किया, उससे भी पर कोई तत्व है या नहीं है ऐसा परस्पर विरोधी श्रुतियाँ देखने से संशय होता है। क्योंकि कुछ वाक्य ऐसे हैं जो ब्रह्म से भी पर कोई तत्त्व है उसका प्रतिपादन करते हों ऐसा ऊपर ऊपर से आभास होता है, उनके परिहार के नियम यह अधिकरण आरम्भ करते हैं।

पूर्वपक्ष—इस [ब्रह्म से भी पर ऐसा कोई तत्त्व होना चाहिये; क्योंकि सेतु के उन्मान के संबंध तथा भेद के निर्देश से यही प्रतीत होता है। सेतु का निर्देश इस प्रकार है—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' [छां० ८।४।१] (अब जो आत्मा है वह

धारण करने वाला सेतु है) यह श्रुति आत्मा शब्द से निर्दिष्ट किया हुआ ब्रह्म सेतु है, ऐसा वर्णन करती है। व्यवहार में सेतु शब्द 'जल का प्रवाह रोकने वाला लकड़ी मिट्टी आदि का समूह' इस अर्थ में प्रसिद्ध है। परन्तु यहां पर सेतु शब्द आत्मा में लगाया है, इसलिये सेतु के समान आत्मरूप सेतु भी अपने से अन्य वस्तु का अस्तित्व सूचित करता है। क्योंकि 'सेतुं तीर्त्वा' [छा० ८।४।२] (सेतु को तैरकर) इस प्रकार सेतु के तैरने का यानी पार करने का भी शब्द प्रयोग देखने में आता है, इससे भी यही सूचित होता है। दूसरे, जैसे लौकिक सेतु को पार करने पर जो सेतु रूप नहीं है ऐसे जंगल के प्रदेश को प्राप्त होता है इसी प्रकार आत्मरूप सेतु को पार करके अनात्मारूप असेतु की प्राप्ति होती है, ऐसा भी प्रतीत होता है।

उन्मान का निर्देश इस प्रकार है—

'तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टा शफं षोडशकलम्' (ऐसा यह चार पैर वाला आठ खुर वाला सोलह अवयव वाला ब्रह्म है)। व्यवहार में जो पदार्थ 'यह इतना है' इस प्रकार उन्मान यानी प्रमाण वाला होता है, वह मुद्रा आदि परिच्छिन्न होती है उससे अन्य वस्तु भी होती है, यह प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म भी 'वह इतना है' ऐसा मान श्रुति में होने से उससे भी अन्य कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिये।

इसी प्रकार संबंध का निर्देश है—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [छां० ६।८।१] (हे सोम्य, तब वह सत् से एक रूप हो जाता है), 'शरीर आत्मा' [तै० २।३।१] (शरीर वाला आत्मा) 'तथा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' [बृ० ४।३।२१] (प्राज्ञ आत्मा से युक्त होता है)। अब परिमित

पदार्थ का परिमित पदार्थ से संबंध देखने में आता है, जैसे मनुष्य का नगर के साथ संबंध होता है। और जीव ब्रह्म का सुषुप्ति में संबंध होता है ऐसा श्रुति उपदेश करती है। इसलिये इससे पर कोई अपरिमित वस्तु होनी चाहिये ऐसा प्रतीत होता है।

वैसे ही भेद का निर्देश है—'अथ य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' [छां० १ । ६ । ६] (यह जो आदित्य के भीतर सुवर्णमय पुरुष दिखाई देता है) इस वाक्य से सूर्य के आधार में रहे हुए ईश्वर को दिखाकर 'अथ य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' [छां० १ । ७ । ५] (अब जो यह आंखों में पुरुष दिखाई देता है) इस वाक्य से उस ईश्वर से भिन्न ऐसे आंखों में रहने वाले ईश्वर का निर्देश श्रुति करती है। 'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' [छां० १ । ७ । ५] (जो इसका रूप है वही उसका है, जो इसके जोड़ हैं वे ही उसके हैं तथा जो इसका नाम है वही उसका नाम है), इस वाक्य से इस ईश्वर के रूप आदि का भी श्रुति निर्देश करती है। तथा, 'ये चामुष्मात्परांचो लोकास्तेषाँ चेष्टे देवकामानाम् च' [छां० १ । ६ । ८] (जो इसके ऊपर लोक है उनका तथा देवताओं की जो इच्छायें हैं उनका वह स्वामी होता है) इस वाक्य से एक का और 'ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानाम् च' [छां० १ । ७ ६] (जो इसके नीचे लोक हैं उनका और मनुष्य की इच्छाओं का वह स्वामी होता है) इस वाक्य से दूसरे का, इस प्रकार दोनों का ईश्वरत्व मर्यादित है ऐसा भी श्रुति कहती है; जैसे, यह मगध राजा का राज्य और यह विदेह राजा का राज्य [ऐसा भिन्नता का निर्देश किया जाय] ॥ ३१ ॥

इस प्रकार से तू आदि के निर्देश से ब्रह्म से पर और कोई वस्तु है ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार उत्तर देते हैं—

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

तु परन्तु सामान्यात् समानता होने से [ब्रह्म को सेतु कहा है]।

'तु' (परन्तु) शब्द से पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट प्राप्ति का निषेध करते हैं। ब्रह्म से भिन्न ऐसा और कोई तत्त्व नही हो सकता; क्योंकि ऐसे तत्त्व के अस्तित्व के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। इस जगत् में उत्पन्न होने वाले समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है ऐसा हम पहले ही निर्णय कर चुके हैं तथा कार्य कारण से भिन्न नहीं होता यह भी निर्णय कर चुके हैं। अब ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई भी वस्तु अज यानी उत्पत्ति रहित नहीं हो सकती; क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छां० ६।२।१] (हे सोम्य ! यह पहले सद्रूप ब्रह्म ही था वह एक और दूसरे से रहित था) ऐसा श्रुति से निश्चय होने से तथा एक ही के जानने से सब का ज्ञान होता हैं ऐसी श्रुति की प्रतिज्ञा होने से ब्रह्म से अतिरिक्त और किसी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते।

श्रुति में सेतु आदि के निर्देश से ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व का सूचन करता है ऐसा जो (पूर्वपक्ष में) कहा था वह ठीक नहीं है। पहले तो सेतु आदि का निर्देश ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का सद्भाव प्रतिपादन नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा सेतु है ऐसा श्रुति कहती है; उसके पर भी कुछ ऐसा श्रुति का प्रतिपादन नहीं है। वहां यदि सेतु से पर कोई वस्तु न हो तो सेतु की कल्पना नहीं हो सकती, इसलिये किसी

पर वस्तु की कल्पना माननी ही पड़ेगी, ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं और अप्रसिद्ध वस्तु की कल्पना करना केवल हठ है। वैसे ही, आत्मा को श्रुति में सेतु कहा है इसलिये लौकिक सेतु को देखकर यदि आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर वस्तु की कल्पना करनी पड़े, तो वह (आत्मा) मिट्टी और लकड़ी का बना हुआ है; ऐसा भी प्राप्त होगा इसलिये ऐसा करना न्याय्य नहीं है; क्योंकि ऐसा करने में श्रुति ने आत्मा को अज आदि कहा है उसका विरोध होगा। अर्थात् सेतु से समानता होने से आत्मा के लिये सेतु शब्द का प्रयोग किया है ऐसा कहना ही ठीक बैठता है। जगत तथा उसकी मर्यादाओं का धारण करना यही आत्मा की सेतु से समानता है। इसलिये वह लौकिक सेतु के समान सेतु है, ऐसी उसकी स्तुति की गई है। 'सेतुं तीर्त्वा' (सेतु को तैर कर यानी पार कर) इस वाक्य में भी 'तरति' (पार करता है, तैरता है) इस धातु का भी किसी वस्तु को लांघ जाना ऐसा अर्थ नहीं है, उसका अर्थ केवल प्राप्त होता है ऐसा ही है। जैसे कहते हैं कि 'व्याकरणं तीर्णः' (यह व्याकरण के पार गया है) इस का अर्थ कोई व्याकरण को लांघ जाता है ऐसा नहीं परन्तु वह व्याकरण को प्राप्त करता है ऐसा है। वैसे ही यहां पर समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

बुद्ध्यर्थः बुद्धि से ग्रहण होने के लिये उन्मान का निर्देश है; **पादवत्** जैसे पाद का निर्देश किया गया है।

(पूर्वपक्ष में) जो कहा था कि उन्मान का निर्देश होने से ब्रह्म के पर कोई वस्तु है यह प्राप्त होता है, उसका उत्तर देते हैं कि उन्मान का निर्देश भी ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु

के अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिये नहीं किया गया है। तो किसलिये वैसा किया गया है ? बुद्धि से ग्रहण होने के लिये, यानी उपासना के लिये ब्रह्म के चार पाद हैं, आठ खुर हैं तथा सोलह अवयव हैं इस प्रकार की बुद्धि, (अमर्याद) ब्रह्म में किस प्रकार स्थिर होगी, ऐसा समझ कर विकार द्वारा भी ब्रह्म की उन्मान कल्पना की गई है। क्योंकि अविकारी और अनंत ऐसे ब्रह्म में सब पुरुष अपनी बुद्धि स्थिर नहीं कर सकते और पुरुष सब प्रकार के होते हैं कोई मन्द बुद्धि, कोई मध्यम बुद्धि वाले तथा कोई उत्तम बुद्धि वाले होते हैं। जैसे पाद की कल्पना की गई है वैसे ही यह समझना चाहिये। जैसे मन और आकाश, जो ब्रह्म के आध्यात्मिक और आधिदैविक प्रतीक (चिह्न) हैं, उनके वाणी आदि मन सम्बन्धी चार पादों की तथा आकाश सम्बन्धी अग्नि आदि चार पादों की कल्पना ध्यान के निमित्त की गई है, वैसे ही यह समझना चाहिये। अथवा 'पादवत्' का अर्थ इस प्रकार है—जैसे व्यवहार बढ़ाने के लिये मुद्राओं के विभागों की कल्पना की जाती है; क्योंकि क्रय विक्रय का परिणाम नियत न होने से सब लोग सर्वदा पूरी मुद्रा से व्यवहार नहीं कर सकते, वैसे ही यहां पर समझना चाहिये ।।३३।।

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।।३४ ।।

स्थान विशेषात् [संबंध और भेद का निर्देष] स्थान के भेद से है। प्रकाशादिवत् प्रकार आदि के समान यह है ।

इस सूत्र में सम्बन्ध और भेद दोनों के निर्देशों का सूत्रकार परिहार करते हैं। [पूर्वपक्ष में] जो कहा था कि श्रुति में सम्बन्ध का निर्देश होने से तथा भेद का निर्देश होने से इनसे पर ऐसी कोई वस्तु होनी चाहिये, वह मिथ्या है। वस्तु के एक ही

होते हुए स्थान भेद की अपेक्षा से इस प्रकार से उनका निर्देश बन सकता है। सम्बन्ध का श्रुति में जो निर्देश आता है, उसका भाव यह है— बुद्धि आदि उपाधियों के विशेष स्थानों से सम्बंधित होने के कारण वहाँ पर जो भेद ज्ञान उत्पन्न होता है उसका उपाधियों के नाश के साथ जो नाश होता है वही उस [उपाधि युक्त जीव] का परमात्मा के साथ सम्बन्ध होना कहा गया है। यह कथन उपाधि की अपेक्षा से गौण रूप से है, उनको परिमित मान कर ऐसा नहीं कहा गया है। इसी प्रकार श्रुति में भेद का कथन किया गया है वह भी उपाधि की अपेक्षा से गौण रूप ही से है, वस्तुतः उनके स्वरूप में भेद है ऐसा मान कर नहीं सूत्र के 'प्रकाशादिवत्' इस अन्तिम अंश में इसका उदाहरण दिया गया है। जैसे एक ही प्रकाश का सूर्य और चन्द्र की उपाधियों द्वारा भेद उत्पन्न होता है और उन उपाधियों के नाश होने से उन दोनों का मूल प्रकाश से सम्बन्ध होता है, वैसे ही उपाधि के भेद ही से भेद का निर्देश श्रुति में किया गया है। अथवा जैसे सुई का आकाश, पाश का आकाश इत्यादि में उपाधि की अपेक्षा ही से (आकाश के) सम्बन्ध और भेद का निर्देश किया जाता है, वैसेही यहांपर समझना चाहिए।। ३५ ।।

उपपत्तेश्च

च और **उपपत्तेः** [ऐसा ही सम्बन्ध और भेद] उपपन्न होने से [उनका निर्देश गौण है]।

यहां पर ऐसा ही सम्बन्ध युक्त होता है और प्रकार का नहीं। 'स्वमपीतो भवति' [छां० ६।८।१] (वह अपने में लीन होता है) इस श्रुति में स्वरूप सम्बन्ध ही का कथन है। [दोनों के] स्वरूप का नाश नहीं होता, इसलिये इनका सम्बन्ध जैसे

मनुष्य और नगर का सम्बन्ध होता है वैसा नहीं बन सकता, परन्तु उपाधि कृत स्वरूप के दूर होने से 'स्वमपीतो भवति' [छा० ६।८।१] (वह अपने में लीन होता है) ऐसा कथन युक्त होता है इसी प्रकार भेद भी और किसी प्रकार से संभव नहीं है, क्योंकि अनेक श्रुतियों में ईश्वर एक हैं ऐसा कथन प्रसिद्ध है उसका विरोध हो जायगा। श्रुति इसी के लिये आकाश के एक होते हुए भी उसके स्थान यानी उपाधि के कारण भेद का निदेश होता हैं ऐसा प्रदिपादित करती है, जैसे,, योऽयं वहिर्धा पुरुषादाकाशः' [छां० ३।१२।७] (यह जो पुरुष के बाहर आकाश है), 'योऽयं अन्तःपुरुष आकाशः' [छां० ३।१२।८] (यह जो पुरुष के भीतर आकाश है), 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' [छां० ३।१२।६] (यह जो हृदय के भीतर आकाश है) इत्यादि ॥ ३५ ॥

तथान्य प्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

तथा वैसे ही अन्यप्रतिषेधात् अन्य वस्तु का निषेध किया हुआ होने से [ब्रह्म से भिन्न और किसी वस्तु का अस्तित्व है नहीं]।

इस प्रकार सेतु आदि के निर्देश रूप जो पूर्वपक्षी ने अपने मत की सिद्धि के लिये हेतु दिये थे उनका निराकरण करके अब इस सूत्र से अपने पक्ष के स्थापनार्थ और हेतु को देते हुए अधिकरण का उपसंहार करते हैं कि—वैसे ही अन्य वस्तु के अस्तित्व का श्रुति में निषेध होने से भी ब्रह्म से पर कोई अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा ज्ञान होता है। जैसे. 'स एवाधस्तात्' [छां० ७। २५। १] (वही नीचे है). 'अहमेधस्तात' [७।२५।२] (में ही नीचे हूँ), 'आत्मैवाधस्तात्' [छां० ७।२५।३] (आत्मा

ही नीचे हैं), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्त्रात्मनः सर्वं वेद' [बृ० २।४।६] (जो यह सब आत्मा से भिन्न है ऐसा जानता है उसको यह सब छोड़ देता है), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' छाँ० ७।२५।२] (यह सब ब्रह्म है), (यह सब आत्मा है), 'नेह नानास्ति किंचन' [बृ० ४।४।१९] (यहाँ पर नानात्व कुछ हैनहीं) 'यस्मात्परंनापरमस्ति किंचत्' [श्वे० ३।९] (जिससे श्रेष्ठ अथवा कनिष्ट कुछ भी नहीं है) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' [बृ २।५।१९ (ऐसा यह ब्रह्म कारणरहित कार्यरहित और बाह्यरहित है) इत्यादि वाक्य अपने प्रकरण में अन्य किसी अर्थं में लगाना अशक्य होने से ये वाक्य ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु, के अस्तित्व का निवारण करते हैं। और ब्रह्म सब के भीतर है ऐसा जो श्रुतिका कथन है इससे परमात्मा के भीतर दूसरे और किसी आत्मा के अस्तितत्र का निषेध करता है, ऐसा निश्चय होता है ॥ ३६ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन इससे [आत्मा का] **सर्वगतत्वम्** सर्व व्यापकत्व [सिद्ध होता है]। **आयामशब्दादिभ्यः** 'आयाम' आदि शब्दों से [यह सिद्ध होता है]।

ऊपर सेतु आदि के निर्देश का खंडन किया है, उससे तथा श्रुति में ब्रह्म से भिन्न वस्तु का निषेध किया गया है, उससे आत्मा का सर्वव्यापकत्व सिद्ध होता है, अन्यथा उसकी सिद्धि नहीं होती। आत्मा को सेतु आदि कहा है वह मुख्य रूप से कहा है ऐसा अंगीकार करोगे तो सेतु आदि के समान आत्मा भी परिच्छिन्न है ऐसा प्राप्त होगा। इसी प्रकार अन्य वस्तु का जो श्रुति ने निषेध किया है उसको न माना जाय तो एक दूसरी

वस्तु से परिमित हो जाने से आत्मा परिच्छिन्न है, यही प्राप्त होगा ।

इसका सर्व व्यापकत्व व्याप्ति दर्शक श्रुति वचन आदि से भी जाना जाता है। आयाम शब्द व्याप्ति (विस्तार) वाचक है। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' [छां० ८।१।३] जितना यह यानी बाहर का आकाश है उतना ही हृदय के भीतर आकाश है। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान्दिवः' [छां० ३।१४ ३] (वह आकाश के समान सर्व व्यापक और नित्य है तथा स्वर्ग से बड़ा है), 'ज्यायानाकाशात्' नित्यः सर्वगतःस्थाणुर चलोऽयं सनातनः' [भ० गी० २।२४] (वह आकाश से बड़ा हैं, वह नित्य, सर्व व्यापक, स्थिर अचल और सनातन है) इत्यादि श्रुति और स्मृति के प्रमाण आत्मा के सर्व व्यापक होने का बोध कराते हैं ।। ३७ ।।

७ फलाधिकरण सू० ३८—४१

फलमत उपपत्तेः ।। ३८ ।।

फलम् [कर्म का] फल अतः इस [ईश्वर] से [प्राप्त होता है], **उपपत्तेः** क्योंकि ऐसा ही संभव है ।

उसी ब्रह्म का जिस व्यवहारिक अवस्था में ईश्वर और शासन करने योग्य जीव ऐसा भेद होता है तब उसके अन्य स्वाभाव का वर्णन सूत्रकार करते हैं । इष्ट, अनिष्ट और मिश्र ऐसा तीन प्रकार का कर्मफल इस संसार में जीवों को प्राप्त होता है । अब यह फल कर्म से प्राप्त होता है अथवा ईश्वर से प्राप्त है इसका विचार करना है । इसी विषय में अब सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं कि यह इससे यानी ईश्वर ही से प्राप्त होता है ऐसा ही मानना ठीक है क्योंकि यही संभव है । वह ईश्वर

ही सब का अध्यक्ष है, वही सृष्टि स्थिति और संहार का करने वाला होने से तथा वह देश काल का विशेष रूप से ज्ञान रखने वाला होने से वही कर्म करने वालों के कर्मों के अनुरूप फल देता है यह युक्त है। परन्तु कर्म होते ही दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं और उनका फल कुछ काल के पश्चात् मिलता है यह कहना युक्त सिद्ध नहीं है, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कहो कि कर्म नष्ट होने के समय ही अपने अनुरूप फल को उत्पन्न करके नष्ट होता है और वह फल फिर कर्ता कुछ काल के पश्चात् भोगता है तो ऐसा मानने से भी काम नहीं चलता; क्योंकि फल का पहले भोक्ता के साथ सम्वन्ध हुए विना वह फल ही नहीं होता। जिस काल में जिस सुख वा दुःख का भोग होता है वही जगत् में कर्म के फल रूप से प्रसिद्ध है लोग कभी भी अपने साथ सुख वा दुख का सम्बन्ध हुए विना ही उसको फल नहीं मानते। यदि कहो कि कर्म के पश्चात् फल उत्पन्न नहीं हो सकता तो कर्म का कार्य जो अपूर्व उससे फल उप्तन्न होगा, तो वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि अपूर्व काष्ठ वा मिट्टी के डेले के समान जड़ होने से विना किसी चेतन के प्रवर्तित किये उससे प्रवृत्ति वन नहीं सकती। दूसरे, उस (अपूर्व) के अस्तित्व के लिये कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि कहो कि अर्थापत्ति प्रमाण (मोटा ताजा आदमी दिन को नहीं खाता अर्थात् वह रात्री को अवश्य खाता है, यह रात्री का खाना अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है यानी बिना यह माने आदमी का मोटा ताजा होना, वन नहीं सकता) से यह मानना पड़ता है, तो ईश्वर की सिद्धि से अर्थापत्ति का प्रसंग ही निवृत्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

च और श्रुतत्वात् श्रुति में ऐसा ही कहा हुआ होने से [ऐसा ही मानना चाहिये] ।

केवल उपपत्ति के लिये हम ईश्वर को फल का देने वाला नहीं मानते, परन्तु श्रुति में भी ईश्वर ही को फल का देने वाला (हेतु) कहा है, इसलिये भी हम वैसा मानते हैं । श्रुति ऐसी है—'स वा एव महाजन आत्मान्नादो वसुदानः' [बृ० ४।४।२४] वही यह महान जन्म रहित अन्न देने वाला और धन देने वाला आत्मा है) इत्यादि ।

धर्मं जैमिनिरतएव ॥ ४० ॥

धर्मम् धर्म [फल देता है, ऐसा] अतएव इसी से जैमिनिः जैमिनि आचार्य मानते हैं ।

तथा आचार्य जैमिनि धर्म फलका दाता है ऐसा मानते हैं, वह इसी हेतु से यानी श्रुति तथा उपपत्ति के कारण ही ऐसा मानते हैं । यह बात पहिले श्रुति ही में कही है, जैसे, 'स्वर्ग-कामो यजेत' (स्वर्गकी कामना वाला यज्ञ करे) इत्यादि । वहां पर जो विधि कहा है उसका विषय (कर्ता) होने से ही यज्ञ स्वर्ग को उत्पन्न करता है, ऐसा मानना पड़ता है; क्योंकि ऐसा न माने तो यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला ही कोई न रहेगा और यज्ञ का जो श्रुति में उपदेश दिया है वह व्यर्थ होगा । यदि कहो कि कर्म होते ही अन्य क्षण में वह नष्ट होने से उससे फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसा समझकर यह पक्ष पहले ही छोड़ दिया है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण है । और

जब श्रुति प्रमाण माननी है तो श्रुति में कहा हुआ यह कर्म फल का संबंध जिस प्रकार युक्तियुक्त हो वैसा ही मानना पड़ेगा। अब कर्म नष्ट होने के पूर्व वह अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न किये बिना कालान्तर में प्राप्त होने वाला फल दे नहीं सकता; इसलिये कर्म की एक सूक्ष्म उत्तरावस्था अथवा फल की एक सूक्ष्म पूर्वावस्था रूप अपूर्व नामक एक वस्तु होती है ऐसा हम तर्क करते है। और यह बात ऊपर के कथानुसार बैठती भी है। परन्तु ईश्वर फल को देता है यह बात सिद्ध नहीं होती; क्योंकि एक प्रकार का कार्य अनेक प्रकार के कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरे, इसमें ईश्वर को विषमता तथा नैघृर्ण्य (निष्ठुरता (के दोष प्राप्त होंगे तथा कर्म का अनुष्ठान व्यर्थं होगा। इसलिभे धर्म ही से फल प्राप्त होता है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

तु परन्तु **पूर्वम्** पहले [कहे हुए ईश्वर] को [कर्म फल का हेतु] **बादरायणः** बादरायण आचार्य मानते है; **हेतुव्यपदेशात्** क्योंकि [उसको कर्मका] कारण कहा है।

परन्तु बादरायण आचार्य पहले कहे हुए ईश्वर ही को कर्म फल का हेतु मानते हैं। केवल कर्म से अथवा अपूर्व से फल की प्राप्ति होती हैं इसे पक्षका 'तु' (परन्तु) शब्द से निराकरण करते हैं। कर्म की अपेक्षा से हो या अपूर्व की अपेक्षा से हो, ईश्वर ही से फल प्राप्त होता है यह सिद्धांत है, क्योंकि श्रुति में इसके लिये हेतु का निर्देश है। श्रुति में धर्म और अधर्म को कराने वाला भी ईश्वर ही है, इस प्रकार ईश्वर को हेतु बताया गया है; फल का देने वाला हेतु भी ईश्वर ही बताया गया है;

जैसे 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' [कौसी० ३।८] (उससे वह अच्छा कर्म कराता है जिसको वह उच्च लोकों के प्रति ले जाना चाहता है तथा उससे वह बुरे कर्म कराता है जिसको वह नीच गति को लेजाना चाहता है)। यही भाव भगवद्गीता में भी आता है जैसे, 'यो यो यां यां तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेवविदधाम्यहम् स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥' [७।२१।२२] (जो जो भक्त जिस जिस मूर्ति की श्रद्धा से भक्ति करना चाहता है उसमें उसकी अचल श्रद्धा को मैं ही धारण करता हूँ। वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उसकी आराधना करता है और मुझसे ही वह अपनी कामनाओं को प्राप्त करता है)। सब वेदान्त शास्त्रों में ईश्वर ही सृष्टिका कारण है ऐसा कहा है। ईश्वर उनके कर्म के अनुसार प्रजा को उत्पन्न करता है यही ईश्वर का फल देना है। अब अनेक प्रकार के कार्य (एक ही कारण से) उत्पन्न हो नहीं सकते ऐसा जो दोष दिया गया है, वह भी ईश्वरको जीव कृत कर्मों की अपेक्षा होती है, ऐसा मानने से नहीं रहता।

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के तृतीय अध्याय का दूसरा पाद
समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय तीसरा पाद ।

१ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण । सू० १-४

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

चोदनाद्यविशेषात् विधि वाक्यों की एकता होने से **सर्ववेदान्तप्रत्ययम्** सर्व वेदांत वचनों में प्रतिपादित [ज्ञान] एक ही है ।

ज्ञेय रूप ब्रह्म तत्व का व्याख्यान हुआ । अब प्रत्येक वेदान्त शास्त्र में जो ज्ञान कहा हुआ है वह भिन्न भिन्न है अथवा एक ही है इसका विचार करते हैं ।

शंका—जब विज्ञेय रूप ब्रह्म पर तथा अपर भेद से रहित और नमक के डेले के समान एक रस है ऐसा निर्णय हुआ है; तब उसका विज्ञान भिन्न २ है अथवा एक ही है इस विचार के लिये स्थान ही कहाँ है ? ब्रह्म एक और एकरूप होने से, जैसे कर्म अनेक होते हैं, वैसे ब्रह्म भी अनेक हैं, ऐसा वेदान्त शास्त्रों के प्रतिपादन का अभिप्राय है ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि एकरूप वाले ब्रह्म के अनेक विज्ञान सम्भव नहीं है । यदि एक ही विषय का अन्य प्रकार से ज्ञान हो तो वह अभ्रान्त नहीं हो सकता । इसी प्रकार यदि एक ही ब्रह्म के बहुत विज्ञान अन्य वेदान्त शास्त्रों में प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया हो, तो उनमें से केवल एक ही यथार्थ और अन्य सब अयथार्थ होने से सभी वेदान्त शास्त्रों पर अविश्वास प्राप्त होने का प्रसंग आवेगा । इसलिये प्रत्येक वेदान्त शास्त्रमें भिन्न भिन्न ज्ञान कहा गया है ऐसी शंका नहीं बन सकती । यदि ऐसी शंका की भी जाय तो भी 'चोदनाद्यविशेषात् (विधि वाक्यों की एकता होने से) वह ज्ञान एक ही है, ऐसा

नहीं कह सकते; क्योंकि ब्रह्म ज्ञान अविधि रूप है। विधि में नहीं, परन्तु वस्तु के ज्ञान में जिनका पर्यवसान होता है ऐसे ब्रह्म संबंधी वाक्यों से ब्रह्म ज्ञान होता है ऐसा आचार्य 'तत्तु समन्वयात्' [ब्र० सू० १।१।४] इस सूत्र में प्रथम प्रतिपादन कर चुके हैं। तब वह ज्ञान भिन्न है अथवा अभिन्न है इसका विचार अब यहाँ पर क्यों आरम्भ करते हैं?

समाधान—ज्ञान एक ही हैं अथवा अनेक, यह विचार सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में अथा प्राण आदि के संबंध में होने से इसमें कोई दोष नहीं है। कर्म के समान सगुण ब्रह्म के ज्ञान में नानात्व और अभेद दोनों सम्भव है और कर्म के समान उपासना भी दृष्टफल देने वाली तथा अदृष्ट फल देने वाली दोनों प्रकार की कही गई है। इनमें से जो सम्यक् ज्ञान को उत्पन्न करके क्रममुक्ति का फल देने वाली होती है उनके सम्बन्ध में ऐसा विचार हो सकता हैं कि क्या प्रत्येक वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म का ज्ञान भिन्न २ है अथवा अभिन्न है।

अब पूर्वपक्ष में जो हेतु प्राप्त हो सकते हैं उनको कहते हैं—

पूर्वपक्ष—भेद ज्ञान का एक हेतु नाम है, यह ज्योति आदि यज्ञ के प्रकरण में प्रसिद्ध है (पूर्व मीमांसा में ज्योतिष्टोम यज्ञ करनेका कह कर आगे यह ज्योति नामक यज्ञ है, हजार रूपये दक्षिणा में देकर इस यज्ञ को करना चाहिये ऐसा कहा है। यहां पर यह शंका की गई है कि ज्योतिष्टोम और ज्योतिर्यज्ञ दो भिन्न हैं या एक। भिन्न २ नामोंका कथन होने से ये दोनों भिन्न २ हैं ऐसा पूर्व मीमांसक मानते हैं)। अब भिन्न २ वेदांत शास्त्रों में भी जो ज्ञान कहे गये हैं, उनको तैत्तिरीयक, वाजसनेयक, कौथुमक, शाटयायनक, इत्यादि भिन्न २ नाम दिये गये हैं।

इसी प्रकार; (कर्मों के) रूपों के भेद से भी कर्म भिन्न २ हैं यह प्रतिपादित होता है । यह बात 'वैश्व देव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' (विश्व देवों के लिये आमिक्षा और वाजि देवताओं के लिये वाजिन) इत्यादि स्थान में प्रसिद्ध है (गरम दूध में दही मिलाने से जो कठिन अंश हो जाता है उसको आमिक्षा और पतले अंश को वाजिन कहते हैं) । यहां भिन्न २ देवताओं के लिये भिन्न हवि का प्रयोग होनेसे ये दोनों पृथक कर्म होते हैं । यह दोनों हवि एक ही यज्ञ में दिये जाते हैं, इसलिये ये दोनों एक ही कर्म नहीं है ऐसा कोई न समझे । हवि और देवता भिन्न होने से ये भिन्न २ कर्म ही हैं ऐसा मीमांसक मानते हैं । अब यहां पर भी रूप का भेद है, जैसे पंचाग्नि विद्या में कुछ शाखा के लोग छटे अग्नि का भी वर्णन करते हैं और कुछ शाखा के पाँच ही अग्नि का वर्णन करते है, इसी प्रकार प्राण संवाद आदि प्रकरणों में कुछ शाखा वाले वाक् आदि (प्राणों) की संख्या न्यून कहते हैं तथा कुछ अधिक कहते हैं ।

इसी प्रकार विशेष प्रकार के धर्मों से भी कर्मो की भिन्नता सिद्ध होती है, ऐसी कारीरी इष्टि के प्रकरण में शंका की गई है (कारीरी इष्टि में तैत्तिरीय शाखा के लोगों ही को भूमि पर बैठ कर भोजन करने को लिखा है, अन्य शाखा वालों को नहीं। यह विषेष प्रकार का धर्म उस कर्म के भिन्नता का हेतु है, ऐसी शंका उस शास्त्र में की गई हैं) । अब यहां पर भी विशेष धर्म का कथन है । अथर्वण वेद के लोगों के लिए शिरोव्रत (सिर पर अग्नि धारण करने का व्रत) कहा है ।

इसी प्रकार पुनरुक्ति आदि (एक ही कर्म प्रत्येक शाखा में कहा हुआ है यह पुनरुक्ति है । यदि कर्म एक ही होता तो एक ही

शाखा में उसके कहने से काम चलता। आदि शब्द से (असामर्थ्य, निद्रा आदि का ग्रहण होता है।) प्रमाण भी कर्मों की भिन्नता सिद्ध करने में हेतुरूप हो सकते हैं इसलिये प्रत्येक वेदान्त शास्त्रमें भिन्न २ ज्ञान का कथन है, ऐसा प्रतीत होता है।

समाधान—सब वेदान्त शास्त्रों में जो ज्ञान कहे हुए हैं, जहां जहां जैसे जैसे कहे हैं वहाँ वहां वैसे ही (एक ही) हैं, क्योंकि उनके विधि आदि एकसे है। सूत्र में जो आदि शब्द हैं उससे [पूर्व मीमांसा के] शाखांतर नामक अधिकरण के सिद्धान्त सूत्र (संयोग, रूप, चोदना और आख्या, इनका ऐक्य होने से कर्म एक ही है) में कर्मों का अभेद सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिये गये हैं उनका ग्रहण करना चाहिये। संयोग, रूप, चोदना और आख्या, इनका ऐक्य होने से [कर्म एक ही है] ऐसा इसका अर्थ है। जैसे, अग्निहोत्र एक ही हैं, क्योंकि शाखा भिन्न होते हुए भी 'हवन करे' इस प्रकार पुरुष प्रयत्न सर्वत्र एक सा ही कहा है। वाजसनेयी और छाँदोग्य की शाखाओ में (यानी बृहदारण्यक और छांदोग्य उपनिषत् में) 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' [बृ० ६।१।१, छाँ० ५।१।१] (जो प्राण को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जानता है) इस प्रकार एक ही विधि कहा है। 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानाँ भवति' [छां० ६।१।१] (वह अपने लोगों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है) इस प्रकार प्रयोजन और संयोग (फल के साथ संबन्ध भी दोनों शाखाओं में एक ही प्रकार से हैं। ज्ञान का रूप भी दोनों शाखाओं में समान ही है, जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ आदि धर्मो से युक्त प्राण का स्वरूप है, वही उसका स्वरूप है। जैसे द्रव्य और देवता यह योग का स्वरूप है वैसे ही ज्ञेय ज्ञान का रूप है, क्योंकि ज्ञेय से ज्ञान का रूप प्राप्त होता है। 'प्राण विद्या, यह आख्या यानी नाम भी दोनों

में समान ही हैं। इसलिये सब वेदान्त शास्त्रों में एक ही ज्ञान कहा हुआ हैं ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार पंचाग्नि विद्या, वैश्वानर विद्या, शाँडिल्यविद्या आदि के संबंध में समझना चाहिये।

अब नाम रूप आदि मिथ्या भेद के हेतु जो पूर्वपक्ष में दिये गये है, उनका प्रथम काण्ड़ यानी पूर्वमीमाँसा शास्त्र ही में 'न नाम्नास्यादचोदनाभिधानत्वात्' [जै० २।४।१०] (नाम से भेद नहीं होता, क्यों कि विधि में यह नहीं है) इस सूत्र से आगे परिहार किया है।

इस पर कुछ और शंका उठाकर उसका परिहार करते हैं।

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

भेदात् [गौड़ वातों में] भेद प्राप्त होने से **न** [विद्या एक] नहीं है, **इतिचेत्** यदि ऐसा [कहो] तो **न** वैसा नहीं है; **एकस्याम्** [क्योंकि] एक विद्या में **अपि** भी [गौण वातों में भेद आसकता है]।

शंका:—सब विद्याओं में कुछ न कुछ अंश में भिन्नता होने से सव वेदान्त शास्त्रों में एक ही विद्या कही है यह कहना ठीक नहीं है। जैसे वाजसनेयी शाखा वाले पंचाग्नि विद्या के प्रकरण में 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति' [बृ० ६।२।१४] (उसका यानी मृत मनुष्य का अग्नि ही यह अग्नि है) इत्यादि वाक्यों में एक और छठे अग्नि का निर्देश करते हैं परन्तु छान्दोग्य शाखा के लोग उसका निर्देश नहीं करते और 'अथ ह य एतानेवं पंचाग्नीन्वेद' [छां० ५।१०।१०] (अब जो इन पांच अग्नि को

इस प्रकार जानता है) इस श्रुति में पांच ही अग्नि निर्देश पूर्वक उपसंहार करते हैं । अब जिन शाखा वालों में यह बात है और जिनमें नही है उन दोनों की विद्या एक कैसे हो सकती है ? अब वह (छठे अग्नि की) बात यहाँ पर अध्याहृत (गृहीत) है यानी अप्रकट है ऐसा मान लिया जाय तो पांच अग्नि का जो यहाँ पर निर्देश है उससे विरोध होता है । इसी प्रकार प्राण संवाद प्रकरण में भी छान्दोग्य शाखा के लोग श्रेष्ठ प्राण के अतिरिक्त वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन ऐसे चार प्राणों का निर्देश करते हैं और वाजसनेयी शाखा वाले 'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद, [बृ० ६।१ ६] (रेती ही प्रजापति है जो ऐसा जानता है वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है) इस वाक्य से पाँचवें प्राण का भी निर्देश करते हैं । ग्रहण और त्याग के भेद से वेद्य पदार्थ भिन्न होते हैं और वेद्य पदार्थो के भेद से विद्या का भेद होता है ,जैसे द्रव्य और देवता के भेद से त्याग भिन्न होते हैं ।

समाधान—यह दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि एक ही विद्या में इस प्रकार कुछ बातों में भेद हो सकता है । यद्यपि (छांदोग्य श्रुति में) छठे अग्निका ग्रहण किया गया है ऐसा नहीं कह सकते तो भी स्वर्ग आदि पाँच अग्नि दोनों स्थान पर एक ही प्रकार से हैं ऐसा देखते हुए (केवल छठे अग्नि का एक ही स्थान ग्रहण है अन्यत्र नहीं इतने ही से) दोनो विद्या भिन्न नहीं हो सकतीं । शोडषी (एक पात्र विशेष) के ग्रहण करने से अथवा ग्रहण न करने से अतिरात्र (एक याग) भिन्न नहीं होते । और छांदोग्य शाखा वाले छठे अग्नि का निर्देश करते भी हैं; जैसे 'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एवं हरन्ति' [छाँ० ५।६।२] (उस मृत मनुष्य को इस लोक से अन्य लोक की प्राप्ति के

लिये अग्नि में डालने के लिये ले जाते हैं)। अब स्वर्ग आदि पर जो पाँच अग्नि की भावना की गई हैं, उन अग्नि के सम्बन्ध में जो समिधा, धूम आदि की कल्पना यहां तक चली आई है, उसको बन्द करने के लिये ही वाजसनेयी लोगों ने ,तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' [बृ० ६।२।१४] (उसका अग्नि ही यह अग्नि होता है, समिध ही यह समिध होती है) इत्यादि वाक्य से (छठे अग्नि का) निर्देश किया है, वह केवल प्रसिद्ध वस्तु का अनुवाद है। अब यद्यपि यह निर्देश उपासना के लिये ही किया गया है, ऐसा मान लिया जाय तो भी इस अंश का अनुवाद छांदोग्य शाखा वाले भी कर सकते हैं। अब पाँच की संख्या से विरोध आवेगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। कल्पित अग्नि के अनुरोध से जो यह पांच की संख्या है, यह केवल प्रसिद्ध वस्तु का अनुवाद है। इस संख्या का उपासना विधि के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इसलिये इसमें कोई दोष नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार प्राण संवाद आदि प्रकरणों में एक स्थान पर कहे हुए अधिक अंश का अन्यत्र ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं है। वैसे ही, ग्रहण और त्याग के भेद से वेद्य पदार्थ का भेद होता है और वेद्य के भेद से विद्या का भेद होता है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यद्यपि वेद्य वस्तु का कुछ अंश कहीं पर ग्रहण किया जाता है और अन्यत्र नहीं ग्रहण किया जाता तो भी वेद्य वस्तु का अधिक अंश एक ही है ऐसा दिखाई देता है, इसलिये (सर्वत्र) विद्या एक ही हैं ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

स्वाध्यायस्य [मस्तक पर अग्नि धारण करने का व्रत]

वेदाध्ययन का [धर्म है] हि क्योंकि **समाचारे** समाचार ग्रन्थ में **तथात्वेन** यह ऐसा ही [कहा है] **च** और **अधिकारात्** प्रकरण से [भी यही विदित होता है] **च** तथा **सववत्** हवन के समान [अथर्वण शाखा वालों को] **तन्नियमः** इसका नियम है ।

पूर्वपक्ष में जो कहा था कि 'आथर्वणिक लोगों को विद्या के लिये शिरोव्रत की आवश्यकता बताई गई हैं औरों के लिये नहीं बताई गई, इसलिये भी दोनों की विद्या में भेद होना चाहिये' उसका उत्तर देते हैं - यह धर्म स्वाध्याय यानी वेदाध्ययन के लिये है, विद्या के लिये नहीं यह कैसे जाना जाता है ? वेदाध्ययन के लिये करने के व्रतों का वर्णन करने वाले समाचार नामक ग्रंथ में स्वाध्याय के धर्म रूप से इस व्रत का कथन है ऐसा आथर्वणिक लोग कहते हैं। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' [मु० ३।२।११] (जिसने यह व्रत न किया हो वह इसको नहीं पढ़ता) इस वाक्य में प्रकरण से प्राप्त विषय का निर्देश करने वाले 'एतद्' (यह इसका) इस सर्वनाम से तथा 'अध्ययन' शब्द से यह धर्म केवल उनके अपने उपनिषद् के अध्ययन के लिये ही है ऐसा निश्चय होता है।

यदि कहो कि 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम' [मु० ३।२।१०] (जिन्होंने इस शिरोव्रतका विधिवत् पालन न किया हो उनको इस ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देना चाहिये) इस वाक्य में इस व्रत का ब्रह्म विद्या के साथ संबंध बताया है । इसलिये यदि ब्रह्म विद्या एक ही हो तो इस व्रत का संकर होगा यानी अन्य शाखा वालों को, जिनके लिये इसका उपदेश नहीं है, उनको भी यह करना पड़ेगा, तो

कहते हैं, वह ठीक नहीं। उस वाक्य में 'एताम्' (इस) ऐसा जो सर्वनाम है वह प्रकृत वस्तु का यानी इसी उपनिषद् का निर्देश करता है और यहां ब्रह्म विद्या प्रकृत है, वह इस विशेष ग्रन्थ (उपनिषद्) की अपेक्षा रखता है, इसलिये उस व्रत का उस विशिष्ट ग्रन्थ यानी मुण्डक उपनिषत् के साथ ही सम्बन्ध है।

'सववच्च तन्नियमः' (हवन के समान इनका नियम है) इस सूत्रांश में उदाहरण का निर्देश है। जैसे सौर्य से लेकर शतौदन तक के सात हवनों का अन्य वेदों में कहे हुए तीन अग्नि से संबंध न होने से तथा अथर्वण वेद में कहे हुए एक अग्नि के साथ संबंध होने से, ये सात हवन करने का अथर्वणिकों के लिये ही नियम है, वैसे ही यह व्रत का धर्म भी विशिष्ट वेदाध्ययन में संबंध रखने से उसी वेद के अध्ययन करने वालों के लिये कहा गया है। इसलिये विद्या एक ही है यह कथन निर्दोष है॥३॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

च और **दर्शयति** [वेद भी] यही बताते है।

वेद भी सब विद्या एक ही है ऐसा कहते हैं। सब वेदान्त ग्रन्थों में वेद्य पदार्थ एक ही है ऐसा कहा है, जैसे, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' [क० २। १५] (जिस पद का सब वेद प्रतिपादन करते है)। वैसे ही, 'एतं ह्येव बह्वृचा 'महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' [ऐ० आ० ३। २। ३। १२] (इसी का होतागण महान उक्थ में ध्यान करते हैं, इसीका अध्वर्यु लोग अग्नि में और छंदोग लोग महाव्रत में ध्यान करते है), इसी प्रकार 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' [कठ० ६। २] (यह अर्थात् ब्रह्म ऊपर उठाया हुआ एक महान भयप्रद वज्र है) इस कठोपनिषत् के वाक्य में, भय-

प्रदत्व यह जो ईश्वर का गुण है; उसका तैत्तिरीय उपनिषत् में भेद दृष्टि की निन्दा करने के लिये प्रयोग किया गया है ऐसा देखने में आता है; जैसे, 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' [तै० २।७।१] (जब कोई इस आत्मा में थोड़ा भी भेद देखता है उसको भय की प्राप्ति होती है। भेद को जानने वाले को और अभेद को न मानने वाले को ब्रह्म ही भय रूप होता है), तथा वाजसनेय शाखा की छांदोग्य श्रुति में 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' [छां० ५।१८।१] (परन्तु जो इस प्रकार से अंगुष्ठमात्र रूप से भावना किये हुए वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है) इस वाक्य से अंगुष्ठमात्र पुरुष की जिस पर भावना की गई है; उसका प्रसिद्ध के समान निर्देश किया गया है। तथा सब वेदान्त ग्रन्थों में 'उक्थ' आदि भी एक से होने से वे एक स्थान पर कहे गये हैं, तो भी उपासना के लिये अन्यत्र भी उनका अवश्य ग्रहण करना चाहिये। इसलिये उपासना भी सब वेदान्त ग्रन्थों में एक ही है, ऐसा प्राय दर्शन न्याय से (जो सर्वत्र देखने में आता है उसको प्रायदर्शन न्याय कहते हैं) सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

२ उपसंहाराधिकरण।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

च और [ज्ञान] **समाने** एक होते हुए **अर्थाभेदात्** उपयोग [भी] भिन्न न होने से [अन्य शाखाओं में कहे हुए गुणों का यानी कर्म के विशेष अंशों का] **उपसंहारः** संग्रह [अन्य शाखा में] होता है, **विधिशेषवत्** जैसे विधि के शेष अंश का (अन्य शाखा में संग्रह) होता है।

यह सूत्र प्रयोजन यानी फल को दिखाने वाला है। सब वेदान्त शास्त्रों में कहे हुए सब ज्ञान एक ही है ऐसा ऊपर सिद्ध किया गया है। उससे यह भी सिद्ध होता है कि यदि ज्ञान एक ही है तो उस ज्ञान के (प्राप्ति के) अंग भूत जो वात एक स्थान पर कही गई हो उसका अन्य स्थान पर भी संग्रह होता है, क्योंकि दोनों का प्रयोजन या फल एक ही है। जिन विशेष गुणों का (विशेष विधि अंशों का) एक विशेष ज्ञान के लिये उपयोग है वह अन्यत्र भी वैसा ही है। ज्ञान दोनों स्थानों पर एक ही है, इसलिये अन्य स्थान पर उनका संग्रह होता है। विधि शेष में (यानी कहीं पर विधि पूर्ण हो और कहीं पर उसका अंश न दिया हो तो वहां पर) ऐसा ही होता है। जैसे अग्निहोत्र आदि सर्वत्र एक ही है, इसलिये उन अग्निहोत्र आदि कर्मो के विधि के कुछ भाव का (यद्यपि वह एक ही स्थान पर कहा हो तो भी) अन्यत्र संग्रह होता है; क्योंकि दोनों स्थान पर प्रयोजन एक ही है, वैसे ही यहां पर समझना चाहिये। यदि ज्ञान भिन्न हो तो एक ज्ञान के लिये आवश्यक अंशों का उसी के साथ संबंध होने से तथा उन ज्ञानों में प्रकृति विकृति भाव न होने से (दर्श आदिक नित्य इष्टियां प्रकृति यानी मूल है और पशु आदि के याग उनके विस्तार यानी विकृति हैं। प्रकृति में जो विधि कहा हो उसके अंश का, जो विकृति में नहीं कहा हो, संग्रह होता है) उनका अन्यत्र संग्रह न होता, परन्तु ज्ञान एक होने से ऐसा न होना चाहिये अर्थात् उनका अन्यत्र संग्रह होता है यही सिद्ध होता है। इसी फल प्रतिपादक सूत्र का 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' [ब्र० सू० ३ । ३ । १०] इस सूत्र से लेकर आगे विशेष विस्तार किया गया है ॥ ५ ॥

३ अन्यथात्वाधिकरण । सू० ६-८

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

शब्दात् श्रुति के [भिन्न भिन्न] कथनों से **अन्यथात्वम्** [विद्या] भिन्न भिन्न हैं **इति** ऐसा **चेत्** कहो तो **न** वैसा नहीं है, **अविशेषात्** क्योंकि [अनेक बातों का उनमें] साम्य है ।

वाजसनेयी शाखा के बृहदारण्यक उपनिषत् में 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति' [बृ० १।३।१] (वे देव बोले, यज्ञ में असुरों को हम उद्गीथ से जीतेंगे), 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय [बृ० १।३।२] (वे वाणी से बोले, तू हमारे लिये उद्गीथ गान कर) इस प्रकार प्रारंभ करके वाक् आदि प्राणों को असुरों के पाप से संयुक्त बता कर उनकी निन्दा करते हुए मुख्य प्राण का देवताओं ने आश्रय किया, ऐसो 'अथहेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्' [बृ० १।३।७] (फिर वे मुख में रहे हुए प्राण से बोले, तू हमारे लिये गान कर । अच्छा कह कर उसने उनके लिये उद्गीथ गान किया ।) इस श्रुति में कहा है । छाँदोग्य में भी ऐसा ही कहा है—'तद्ध देवा उद्गींथमाजग्मूरनेनैनानभिभविष्याम:' [छाँ० १।२।१] (इससे हम इनका पराभव करेंगे, ऐसा समझ कर देवों ने उद्गीथ का आश्रय किया) इस प्रकार आरंभ करके अन्य सब प्राणों को असुरों के वाणों से युक्त बताते हुए उनकी निन्दा करके देवताओं ने मुख्य प्राण का आश्रय ग्रहण किया, ऐसा 'अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' [छाँ० १।२।७] (पश्चात् यह जो मुख्य प्राण है उस रूप से उन्होंने उग्दीथ की उपासना

की) इस वाक्य से कहा गया है। दोनों स्थलों पर मुख्य प्राण की प्रशंसा की हुई होने से वहाँ पर प्राण विद्या ही का विधि कहा गया है, ऐसा निश्चय होता है। यहाँ संशय होता है कि इनमें एक ही विद्या का कथन है अथवा भिन्न भिन्न विद्याओंका।

पूर्वपक्ष—यही प्रतीत होता है कि पूर्व में दिये हुए न्याय के अनुसार विद्या एक ही है। यदि कहो कि विद्या एक ही है ऐसा मानना युक्त नहीं है; क्योंकि दोनों स्थानों पर प्रकरण का आरंभ भिन्न २ प्रकार से किया गया है; वाजसनेयी शाखा वाले इसका एक प्रकार से आरंभ करते हैं और छांदोग्य वाले भिन्न प्रकार से आरंभ करते हैं। वाजसनेयी शाखा वाले 'त्वं न उद्गाय' [वृ० १।३।२] (तू हमारे लिये उग्दीथ का गान कर) इस प्रकार उग्दीथ के कर्ता रूप से प्राण को मानते हैं, परन्तु छांदोग्य शाखा वाले 'तमुदगीथमुपासाँचक्रिरे' [छां० १।२।७] (उसकी उग्दीथ रूप से उपासना की) इस प्रकार प्राण को उग्दीथ रूप से मानते हैं, तब दोनों स्थान पर एक ही विद्या है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? तो हम कहते हैं यह दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि इतने भेद से विद्या की एकता कहीं चली नहीं जाती। दोनों स्थान पर बहुत बातों में सोभ्यता भी प्रतीत होती है, जैसे, देव और असुरों में युद्ध आरंभ होना, आसुरों को जीतने के लिये संवाद करना, उग्दीथ का प्रस्ताव करना, वाणी आदि से संवाद करना, उनकी निंदा करके प्राण का आश्रय करना और उसके सौर्य से, जैसे मिट्टी का डेला पत्थर पर गिरने से टूटता है वैसे असुरों का विध्वंस होना इत्यादि बहुत बातें उभय स्थानों पर एकसी ही है, ऐसा प्रतीत होता है। दूसरे, वाजसनेयी शाखा के उपनिषत् में भी प्राण का उद्गीथ से समानाधिकरण है यानी प्राण ही उद्गीथ

है ऐसा कहा है, जैसे, 'एष उ वा उद्गीथः' [बृ० १ । ३ । २३] (यह ही उद्गीथ है)। इसलिये छांदोग्य में भी [प्राण उद्-गीथ का] कर्ता है इस बात में लक्षणा जाननी चाहिये यानी यह कर्तृत्व गौण रूप से कहा है ऐसा समझना चाहिये। इस-लिये विद्या एक ही है यही विदित होता है ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

वा परन्तु **प्रकरणभेदात्** भिन्न प्रकरण यानी आरम्भ होने से न [विद्या एक] नहीं है **परोवरीयस्त्वादिवत्** 'वह बड़े से बड़ा है' इत्यादि [उपासनाओं] के समान [इसको समझना चाहिये]।

समाधान—परन्तु यहां पर विद्या एक है ऐसा मानना युक्त नहीं है, विद्या भिन्न २ है ऐसा हो मानना युक्तियुक्त है। सो कैसे ? प्रकरण भेद से यानी दोनों स्थानों पर आरम्भ भिन्न भिन्न प्रकार से होता है इससे। यहां आरम्भ इस प्रकार भिन्न भिन्न है—छांदोग्य में 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [छां० १ । १ । १] (ॐ इस अक्षर की उद्गीथ रूप से उपासना करनी चाहिये), इस प्रकार उद्गीथ का अवयव जो ॐकार उसको उपास्य रूप बताकर आगे वह सब रसों का रस है इत्यादि रूप से ॐ के गुणों का वर्णन करके 'अथ खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्या-ख्यानं भवति' [छां० १ । १ । १०] (यह उस अक्षर ही का वास्तव में वर्णन है), ऐसा उस ॐकार रूप उद्गीथ का निर्देश करते हुए देव और असुरों का आख्यान कहा है और इस प्रसंग में उसका 'प्राणमुद्गीथमुपासां चक्रिरे' [छां० १ । २ । २] (उद्गीथ की प्राणरूप से उपासना की) ऐसा कथन है। यहां

यदि उद्गीथ शब्द से सम्पूर्ण उपासना मानी जाय और उसका कर्ता उद्गाता नामक ऋत्विज माना जाय तो श्रुति के उपक्रम का विरोध होगा (क्योंकि, उद्गीथ का एक अंश जो ॐकार उसकी उपासना का उपक्रम इस श्रुति में किया गया है) तथा लक्षणा का स्वीकार करना पड़ेगा। वैसे ही, एक भाग में उपक्रम के अनुरूप ही उपसंहार होना चाहिये। इसलिये, यहां पर ॐकार रूप उद्गीथ के अवयव पर प्राण की भावना करने का उपदेश दिया गया है, ऐसा सिद्ध होता है। परन्तु वाजसनेयी शाखा में उद्गीथ शब्द से अवयव (ॐकार) अर्थ लेने का कोई कारण न होने से वहां पर समस्त (उद्गीथ की) उपासना का बोध होता है। 'त्वं न उद्गाय' [बृ० १।३।२] (तू हमारे लिये उद्गीथ गानकर) इस प्रकार से इस उपासना का कर्ता उद्गाता नामक ऋत्विज प्राण है, ऐसा कहा है, यह दूसरा भेद है।

अब यहां पर प्राण के साथ उद्गीथ की एकता कही है, वह भी प्राण को उद्गाता रूप से बताने में वही सबका आत्मा है यही प्रतिपादन करने के हेतु से कहा है, इसलिये उससे भी विद्या एक है यह सिद्ध नहीं होता। वहां भी उद्गीथ शब्द है, परन्तु वह समस्त उद्गीथ की उपासना के लिये है, इस प्रकार दोनों श्रुतियों में विषमता है। प्राण उद्गाता नहीं हो सकता इस हेतु से वह उद्गाता है ऐसा जो श्रुति में कहा है, उसका त्याग नही कर सकते, क्योंकि उपासना के निमित्त जैसे प्राण उद्गीथ रूप है ऐसा कहा है वैसे ही, वह उद्गाता रूप है यह भी कह सकते हैं। तथा उद्गाता अपना काम भी प्राण ही के सामर्थ्य से करता है, इसलिये यह असम्भव भी नहीं है और उसी स्थान पर 'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' [बृ० १।३।२४] (उसने वाणी

से और प्राण ही केवल से गान किया) इस प्रकार यही बात कही हुई हैं। जहाँ पर भिन्न अर्थ ही विवक्षित है, ऐसा विदित होता हो वहाँ पर केवल भाषा की सभ्यता के कारण समान अर्थ का निश्चय करना ठीक नहीं हैं। जैसे, अभ्युदय प्रकरण और पशु काम प्रकरण में दोनों स्थलों पर 'त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्‌ मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोड़ाशमष्टकपालं कुर्यात्' (चावलों के तीन भाग कर उनमें से जो मध्यम भाग हो उससे अष्ट कपालों पर दातृत्व गुण वाले अग्नि को पुरोडाश दे) इस प्रकार एक ही प्रकार से निर्देश है, तो भी दोनों स्थान पर उपक्रम भिन्न होने से अभ्युदय प्रकरण में उनका (चावलों) का देवताओं से वियोग माना जाता हैं यानी वे चावल देवताओं को न देना चाहिये ऐसा भाव उससे ग्रहण किया जाता हैं, परन्तु पशु काम प्रकरण में इन्हीं शब्दों से इनके याग का विधि कहा गया हैं। इसी प्रकार यहाँ भी उपक्रम के भेद के कारण विद्या भी भिन्न २ है ऐसा निश्चय होता है।

'परोवरीयस्त्व' (बड़े से भी वह बड़ा है) इत्यादि श्रुति कथन के समान ही यह है। जैसे—'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' [छां० १।९।१] (आकाश ही इन से महान है, आकाश ही इन का परम आश्रय है), 'स एष परोवरीयानुद्‌गीथः सएषऽनन्तः' [छं० १।९।२] (ऐसा यह महान से महान उद्‌गीथ हे वही यह अनंत है) इन वाक्यों में महान से महान होना इस गुण से युक्त उद्‌गीथ की जो उपासना कही है वह तथा चक्षु और सूर्य मंडल में रहना, सोने की दाढ़ी से युक्त होना आदि गुणों से युक्त उद्‌गीथ की उपासना, इनमें, यद्यपि परमात्मा की भावना करना इतना साम्य है, तो भी पूर्व की उपासना इनसे भिन्न ही है। अब

जैसे ये दोनों उपासना एक ही शाखान्तर्गत होते हुए भी एक के किसी अंश का दूसरे में ग्रहण नहीं होता, वैसे ही इन भिन्न शाखान्तर्गत उपासनाओं में समझना चाहिये ॥ ७ ॥।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

संज्ञातः नाम एक होसे से [विद्या एक ही है ऐसा यदि कहो] चेत् तो [वह ठीक नहीं है] तद् ऐसा उक्तम् कहा है तद् वह [भिन्न २ विद्याओं में] अपि भी अस्ति हो सकेगा, तु परन्तु [जहां पर ऐसा कोई कारण न हो वहां पर विद्या भिन्न हो सकती है]।

अब यदि कहो कि एक ही नाम होने से विद्या एक ही है ऐसा कहना युक्त है; क्योंकि दोनों स्थलों पर 'उद्गीथ विद्या' यह नाम एक ही है, तो कहते हैं वह भी युक्त नहीं है। यह बात 'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' [ब्र० सू० ३।३।७] इस ऊपर के सूत्र में कहा है और वही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि वही श्रुति के शब्दों के अधिक निकट है। परन्तु नाम एक है यह बात श्रुति के शब्दों में नहीं है; श्रुति में उद्गीथ शब्द ही का केवल निर्देश है, इससे व्यवहारिक लोगों ने इसको उद्गीथ विद्या ऐसा नाम दिया है। वैसे ही 'परोवरीयस्त्व' (वह बड़े से बड़ा हैं) आदि जो उपासनाएं भिन्न रूप से प्रसिद्ध हैं, उनके लिये भी उद्गीथ विद्या ऐसा एक ही नाम दिया जाता है। अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास आदि कर्म भिन्न भिन्न हैं, ऐसा यद्यपि प्रसिद्ध है, तो भी काठक नामक ग्रंथ में उनका संग्रह होने से उनको 'काठक' ऐसी एक ही संज्ञा प्राप्त हुई है ऐसा देखने में आता है वैसा यहां भी होगा। परन्तु जहां विद्या भिन्न भिन्न है ऐसा मानने के

लिये कोई प्रमाण न हो वहां नाम एक होने से विद्या एक हो सकती है, जैसे संवर्ग विद्या आदि में होता है ॥ ८ ॥

४ व्याप्त्यधिकरण ।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

च परन्तु व्याप्तेः [ॐकार सब वेदों को] व्याप्त करता है, इसलिये [उद्गीथ उसका विशेषण है, ऐसा मानना ही] समञ्जसम् निर्दोष है ।

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [छां० १।१।१] (ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, उसकी उपासना करनी चाहिये) इस श्रुति में अक्षर और उद्गीथ इन दो शब्दों का समानाधिकरण कहा है । इसमें अध्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषत्व ऐसे चार पक्ष भासते हैं । उनमें से कौनसा पक्ष न्याय्य है इसका विचार करना है ।

अध्यास वह है जिसमें दोनों वस्तुओं में से एक वस्तु की बुद्धि निवृत्त न होते हुए उस पर दूसरे वस्तु की बुद्धि की जाती है । जिसमें इतर वस्तु की बुद्धि होती है उसमें उस वस्तु की बुद्धि के साथ (जिसमें अध्यास होता है) उस वस्तु कीं बुद्धि भी रहती है जैसे, नाम में ब्रह्म बुद्धि का अध्यास होता है तब उसमें नाम बुद्धि रहती है, ब्रह्म बुद्धि होने से नाम बुद्धि निवृत नहीं होती अथवा, जैसे प्रतिमा आदि में विष्णु आदि की बुद्धि का अध्यास होता है । इसी प्रकार यहां पर भी अक्षर में उद्गीथ बुद्धि का अध्यास होता है अथवा उद्गोथ में अक्षर बुद्धि की जाती है ।

अपवाद वह हैं जिसमें पहले जिस मिथ्या बुद्धि का निश्चय होता है, जब पश्चात् उस वस्तु की यथार्थ बुद्धि (ज्ञान)

उत्पन्न हो जाती है तब वह यथार्थ बुद्धि पूर्व में बनो हुई मिथ्या बुद्धि को निवृत करती है। जैसे, देह और इन्द्रियगण में आत्म बुद्धि होती है; वह पश्चात् जब 'तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है) इस वाक्य से आत्मा में आत्म बुद्धि उत्पन्न हो जाय, तब वह यथार्थ बुद्धि पूर्व की मिथ्या बुद्धि को निवृत करती है, अथवा, जैसे दिशा भ्रम दिशा के यथार्थ ज्ञान से निवृति होता है। इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर बुद्धि से उद्गीथ बुद्धि निवृत होती है अथवा उद्गीथ बुद्धि से अक्षर बुद्धि निवृत्ति होती है (यह प्राप्त होता है।

परन्तु एकत्व में अक्षर और उद्गीथ दोनों का भिन्न अर्थ नहीं होता, जैसे द्विजोत्तम, ब्राह्मण, भूमि देव इसमें सब शब्दों का एक ही अर्थ है।

अब (उद्गीथ अक्षर शब्द का) विशेषण माना जाय तब सब वेदों को व्याप्त होकर रहने वाले ॐ इस अक्षर के साथ उद्गीथ का (उद्गाता के कर्म विशेष का) भी ग्रहण होता है, जैसे, नील कमल ला (इस प्रयोग में देखने में आता है); वैसे यहां पर उद्गीथ अक्षर की उपासना करनी चाहिये (यह भाव निकलेगा)।

इस प्रकार इस सामानाधिकरण्य का विचार करते हुए ये पक्ष खड़े होते हैं। उनमें किसी एक पक्ष के ही ठीक होने का निश्चय करने के लिये कोई कारण नहीं मिलता, इसलिये यह बात यहाँ पर अनिश्चित ही है।

इस पूर्वपक्ष पर सूत्रकार उत्तर देते है—'व्याप्तेश्च समञ्जसम्' (ॐकार सब वेदों में व्याप्त होने से उद्गीथ उसका विशेषण है, ऐसा कहना ही युक्त है)।

सूत्र में 'च' शब्द परन्तु के स्थान में है और वह अन्य तीनों पक्षों का निवारण सूचित करता है। इसलिये यहाँ के जो अन्य तीनों पक्ष सदोष हैं उनका त्याग किया जाता है और एक विशेषण पक्ष ही निर्दोष है, उसका ग्रहण किया जाता है।

अध्यास में जिस बुद्धि का अन्यत्र अध्यास किया जाता है उसके वाचक शब्द की लक्षणा माननी पड़ेगी और उसका फल भी मानना पड़ेगा। यदि कहो कि 'आपयिता ह वै कामानां भवति' [छां० १।१।७] (वह निश्चय ही,सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होता है) इत्यादि श्रुतियों में फल का कथन है, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि यह अन्य ही का फल है। इच्छा पूर्ण करना आदि जो भावनाएँ ॐकार में की गई हैं उनका वह फल है, उद्गीथ के अध्यास का वह फल नहीं है। अपवाद पक्ष में भी फल का अभाव समान ही है। यदि कहो कि मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति यह इसमें फल है तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि इसका पुरुषार्थ के लिये कोई उपयोग हो यह समझ में नहीं आता। वैसे ही, इससे न ॐकार में ॐकार बुद्धि दूर होती है और न उद्गीथ में उद्गीथ बुद्धि दूर होती है, न यह वाक्य वस्तु का प्रतिपादन करने वाला भी है, क्योंकि यह उपासना विधि का दर्शक है। एकत्व का पक्ष भी समीचीन नहीं, क्योंकि उस पक्ष में एक ही शब्द से विवक्षित अर्थ निकलने से दो शब्द का प्रयोग ही व्यर्थ जाता है। वैसे ही होता के विषय में (यानी ऋग्वेद में) और अध्वर्यु के विषय में (अर्थात् यजुर्वेद में) ॐ शब्द वाचक अक्षर के अर्थ में उद्गीथ शब्द का व्यवहार होता है और (सामवेद के संपूर्ण द्वितीय भाग में उद्गीथ की उपासना के सम्बन्ध में ॐकार शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये दोनों का एक अर्थ नहीं हो सकता। इसलिये शेष रहा हुआ

विशेषण पक्ष ग्रहण किया जाता है। ॐ यह अक्षर सब वेदों के लिये सामान्य होने से इस सर्व व्यापी अक्षर का यहाँ पर ग्रहण न किया जाय इस अभिप्राय से अक्षर शब्द के लिये उद्गीथ यह विशेषण लगाया गया है। उद्गीथ के अवयव रूप ॐकार का यहाँ पर ग्रहण किस प्रकार हो सकता है।

यदि कहो कि इस पक्ष में भी लक्षणा वैसी ही करनी पड़ती है, क्योंकि उद्गीथ शब्द से उद्गीथ का अवयव ऐसा अर्थ लक्षणासे लेना पड़ता है, तो वह ठीक है। लक्षणा में भी दूरता और निकटता होती ही है। अध्यास पक्ष में एक वस्तु में अन्य वस्तु की बुद्धि की जाती है, इसलिए वह लक्षणा दूर की है, परन्तु विशेषण पक्ष में अवयवी के कथन से अवयव का बोध प्राप्त होता है, इसलिये यह लक्षणा निकटवर्त्ती है। समुदाय वाचक शब्द उनके अवयव में भी लगाये जाते हैं ऐसा देखा जाता है, जैसे ग्राम, वस्त्र इत्यादि में होता है। अब ॐ यह अक्षर सब वेदों को व्याप्त हो रहता है, इसलिए इस अक्षर का उद्गीथ विशेषण है ऐसा मानना ही समञ्जस अर्थात् निर्दोष है ॥ ६ ॥

५ सर्वाभेदाधिकरण।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

सर्वाभेदात् सर्वत्र [प्राणविद्या] एक ही होने से [एक शाखा में कहे हुए **इमे** ये (गुण) **अन्यत्र** अन्य शाखाओं में भी [प्राप्त होते हैं]।

वाजसनेयी और छंदोग शाखाओं में श्रेष्ठत्व गुण वाले प्राण की उपासना करनी चाहिये ऐसा कहा है। वहाँ पर वाक् आदि भी वसिष्ठत्व (द्रव्य या रस से संपन्न होना) आदि गुणों से

युक्त कहे हैं और वे ही गुण फिर 'यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' [बृ० ६ । १ । १४] (जैसी मैं वसिष्ठा हूँ वैसा ही तू वसिष्ठ है) इत्यादि से प्राण को अर्पण किये गये हैं। कौषीतकी आदि अन्य शाखा वालों के प्राण संवादों में 'अथातो निःश्रेयसादानम्' एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' [कौषी० २ । १४] (अब आगे कौन श्रेष्ठ है इसका निश्चय करते हैं। ये देवता अपनी श्रेष्ठता के लिये विवाद करने लगे) इस प्रकार के वाक्यों में प्राण का श्रेष्ठत्व कहा है, परन्तु ये शाखा वाले वसिष्ठत्व आदि गुणों का कथन नहीं करते। इसलिये संशय होता है कि क्या ये वसिष्ठत्व आदि गुण जो एक स्थान पर कहे हुये हैं, अन्यत्र भी ग्रहण किये जा सकते हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—यही प्राप्त होता है कि इनका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वहां पर 'एवम्' (इस प्रकार) शब्द लगाया गया है। 'अथो य एवं विद्वान्प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' [कौषी० २ ।१४] (इस प्रकार जो प्राणों का श्रेष्ठत्व जान कर) इस प्रकार प्रत्येक स्थान पर 'एवम्' शब्द से वेद्य वस्तु का निवेदन किया गया है। यह 'एवम्' शब्द निकट वस्तु के लिये ही लगाया जाता है, इसलिये वह अन्य शाखाओं में कहे हुए इस प्रकार के गुण समूह का निवेदन नहीं कर सकता। इसलिये अपने प्रकरण में कहे हुए गुणों से ही आकांक्षा की समाप्ति होती है यानी प्रकरण समाप्त होता है।

समाधान—एक शाखा में कहे हुए वसिष्ठत्व आदि गुण अन्य शाखाओं में भी ग्रहण करने चाहिये। कारण यह है कि सर्वत्र प्राण विद्या एक ही है। सब ही शाखाओं में

प्राण विद्या एक ही है ऐसा दिखाई देता है; क्योंकि सर्वत्र प्राण संवाद आदि एक से ही हैं। जब विद्या एक ही है तब एक स्थान पर कहे हुए इन गुणों का अन्य स्थान पर ग्रहण क्यों न किया जाय? यदि कहो कि वहां पर 'एवम्' शब्द भिन्न २ प्रकार के गुण समूहों का बोध कराता है ऐसा (पूर्वपक्ष में) कहा गया है तो उसका उत्तर यह है कि यद्यपि कौषीतकी ब्राह्मण में आये हुए 'एवम्' शब्द से वाजसनेयी ब्राह्मण में कहे हुए गुण समूह का बोध नहीं होता, क्योंकि वह दूर का है; तथापि उसी विद्या में वाजसनेयी ब्राह्मण में आये हुए 'एवम्' शब्द से उस गुण समूह का बोध होता हैं। इसलिये पर शाखा में एक ही विद्या में कहे हुए गुण समूह से अन्य शाखा में (उसी विद्या में) कहा हुआ गुण समूह भिन्न नहीं हो सकता। और ऐसा मानने से श्रुत हानि (श्रुति प्रतिपादित अर्थ का निषेध) और अश्रुत कल्पना (श्रुति बाह्य अर्थ की कल्पना करना) ये दोष भी प्राप्त नहीं होते। एक शाखा में कहे हुए गुण सब शाखाओं के लिये श्रुति प्रतिपादित ही होते हैं, क्योंकि जिसके ये गुण है वह गुणी वस्तु सर्वत्र एक ही है। जैसे अपने देश में शौर्यादि गुणों से प्रसिद्ध देवदत्त अन्य देश में जाता है तब वहां के निवासी यदि उसमें ये गुण न मानें तो भी वह उन गुणों से रहित नहीं होता; क्योंकि अधिक परिचय से उस देश में भी उसके वे गुण प्रगट होते हैं। इसीलिये वशिष्ट ध्यान के कारण अन्य शाखा में जिन गुणों की उपासना कही है, उनका अन्य शाखाओं में ग्रहण करना ही चाहिये। इसलिये एक प्रधान वस्तु से संबद्ध जितने गुण हैं वे एक ही शाखा में कहे हुए हों तो भी उनका सर्वत्र ग्रहण करना चाहिये ॥ १० ॥

६ आनन्दाद्यधिकरण । सू० ११–१३

आनन्दादयः प्रधानस्य ।। ११ ।।

प्रधानस्य [ब्रह्म रूप] प्रधान वस्तु के **आनन्दादयः** आनन्द आदि [धर्मों का सर्वत्र संग्रह होता है] ।

ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों में ब्रह्म के विज्ञानघनत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वात्मत्व आदि धर्म कहीं कहीं पर कहे हुए हैं। वहाँ संशय होता है कि क्या ये आनन्दादि धर्म जहां पर जितने दिये गये हैं वहां पर उतने ही समझना चाहिये अथवा सर्व गुण सर्वत्र ही समझना चाहिये ?

पूर्वपक्ष—जिस श्रुति में जितने धर्म कहे गये हों उतने ही वहां पर मानना चाहिये ।

समाधान—ब्रह्म रूप प्रधान वस्तु के आनन्दादि जो धर्म हैं वे सब सर्वत्र ही समझना चाहिये, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म एक ही है। सब श्रुतियों में वही एक ब्रह्म रूप प्रधान विशेष्य या धर्मी है, वह कहीं भी भिन्न नहीं है। इसलिये पूर्व सूत्र में दिये हुए देवदत्त के शौर्यादि गुण सर्वत्र दिखाई देने के दृष्टांत ही से ब्रह्म के धर्म भी सर्वत्र ही मानने चाहिये, ऐसा सिद्ध होता है ।। ११ ।।

शंका—यदि ऐसा (ब्रह्म के सब गुण सर्वत्र) मानें तो ब्रह्म के प्रिय शिरस्त्व आदि सब धर्म भी सर्वत्र प्राप्त होंगे। तैत्तिरीयक उपनिषत् में आनन्दमय आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि 'तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' [तै० २।५] (उसका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है, तथा प्रतिष्ठारूप पुच्छ ब्रह्म है) ।

इसका उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः प्रिय शिरस्त्व आदि धर्म [अन्यत्र] प्राप्त नहीं होते, **हि** क्योंकि **उपचयापचयौ** [धर्मों का] बढ़ना और घटना **भेदे** द्वैत भाव ही में [बन सकता है]।

तैत्तिरीयक उपनिषत् में कहे हुए प्रियशिरस्त्व आदि धर्म अन्यत्र नहीं प्राप्त होते, क्योंकि; प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये धर्म परस्पर की तथा भोक्ता की अपेक्षा से बढ़ते और घटते हैं ऐसा दिखाई देता है। घटना और बढ़ना द्वैत ही में बन सकता है, परन्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' [छां० ६।२।१] (ब्रह्म एक और अद्वितीय है) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म में भेद के अभाव का निश्चय होता है यह प्रियशिरस्त्व आदि ब्रह्म के धर्म नहीं परन्तु कोश (आनंदमय कोश) के धर्म हैं यह हम 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' [ब्र० सू० १।१।१२] इस सूत्र में बता चुके हैं। तथा ये धर्म चित्त की परब्रह्म में स्थिति करने के ही अभिप्राय से कल्पना किये गये हैं इनको परब्रह्म में देखने के अभिप्राय से इनका कथन नहीं है। इस प्रकार से भी प्रिय शिरस्त्व आदि धर्म अन्यत्र प्राप्त न होने का भली प्रकार सिद्ध होता है। इनको ब्रह्म के धर्म बताकर वे अन्यत्र प्राप्त नहीं होते, ऐसा 'प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः' इस सूत्रांश से कहकर आचार्य ने एक सामान्य नियम भी बता दिया है। यही सामान्य नियम उपासना के निमित्त ही निश्चित रूप से कहे हुए ब्रह्म के संयद्वाम (कर्म का यथा-योग्य फल देना) आदि और सत्यकाम (पूर्ण होने वाली कामना का होना) आदि धर्मों के सम्बन्ध में भी लगाना चाहिये। उपास्य ब्रह्म एक होते हुए भी भिन्न भिन्न प्रकरणों में भिन्न भिन्न उपासना कही हुई होने से इन धर्मों में से एक

स्थान पर कहे हुए धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती। जैसे दो स्त्रियां एक ही राजा की सेवा करें, एक छत्र से सेवा करे और दूसरी चमर से। यहां पर जैसे उपास्य (राजा) एक होते हुए भी उपासना में (सेवा में) भेद होता है वैसे ही यहां पर ब्रह्म के धर्मों की व्यवस्था है ऐसा समझना चाहिये। धर्मों का बढ़ना और घटना भेद व्यवहार होते हुए ही केवल सगुण ब्रह्म में हो सकता है निर्गुण परब्रह्म में यह बन नहीं सकता। इसलिये सत्यकामत्व आदि धर्म श्रुति में कहीं कहीं पर कहे हुए हैं, उनकी सर्वत्र प्राप्ति नहीं है यह सिद्ध हुआ॥ १२॥

इतरे त्वर्थसामान्यात्॥ १३॥

तु परन्तु इतरे इतर [धर्म सर्वत्र माने जाते हैं] अर्थसामान्यात् क्योंकि उनका विषय एक ही है। परन्तु इतर आनन्दादि धर्म ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये कहे हुए होने से उनका विषय एक ही हैं। इसलिये, प्रतिपाद्य ब्रह्म जो धर्मी है वह सर्वत्र एक ही होने से उन सबकी सर्वत्र ही प्रतीत होगी। यहाँ विशेष यही है कि ये धर्म [ब्रह्म के स्वरूप के] ज्ञान के लिये ही कहे हुए होते हैं॥ १३॥

७ आध्यानाधिकरण। सू० १४-१५

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥ १४॥

आध्यानाय [कठोपनिषत् में जो कथन है वह पुरुष के] ध्यान के लिये है, **प्रयोजनाभावात्** क्योंकि उसका [अन्य कोई] प्रयोजन नहीं है।

कठोपनिषत् में लिखा है 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः' [कठ० ३।१०] (इन्द्रियों से

अर्थ पर यानी श्रेष्ठ है, अर्थों से मन पर है, मन से बुद्धि पर है)। इस प्रकार प्रारम्भ करके 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' [कठ० ३।११] (पुरुष से कोई पर नहीं है, वही सबका अन्त है और वही सब की परमगति है। ऐसा कहा है। यहां पर संशय होता है कि क्या ये अर्थ आदि सब एक एक से पर हैं ऐसा प्रतिपादन करने का श्रुति का अभिप्राय है अथवा उन सब से पुरुष पर है यह उसका अभिप्राय है।

पूर्वपक्ष—ये सब एक एक से पर हैं ऐसा ही यहां पर प्रतिपादन किया है ऐसा विदित होता है, क्योंकि यह इससे पर है और यह इससे पर, ऐसा ही श्रुति कहती चली गई है। यदि कहो कि बहुत अर्थों को पर कहा गया हो तो वाक्य भेद यानी एक ही वाक्य के अनेक तात्पर्य निकलने का दोष प्राप्त होगा तो यह दोष नहीं आता, क्योंकि वहां वाक्य भी बहुत ही हैं। ये बहुत वाक्य बहुत विषयों को वे एक एक से पर हैं ऐसा दिखाते हैं। इसलिये इनमें से प्रत्येक वस्तु पर ही है, यही विदित होता है।

समाधान—पुरुष ही इन सब से पर है यही प्रतिपादन करने का श्रुतिका अभिप्राय है, यही मानना युक्त है। श्रुति इनमें से प्रत्येक को पर नहीं प्रनिपादन करती; क्योंकि ऐसा करने से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। इनमें इतर किसी को पर प्रतिपादन करने से कोई प्रयोजन सिद्ध हो, ऐसा न देखा है न सुना है। परन्तु पुरुष इन्द्रिय आदि से तथा सब अनर्थ समूह से पर है ऐसा प्रतिपादन करने से मोक्ष की सिद्धि होती है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'निचाय्य तं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते' [कु० ३।१५] (उसको जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है)। तथा, अन्य का प्रतिषेध करके तथा उसके लिये काष्ठा (अन्त, मर्यादा) शब्द का प्रयोग करके उसके लिये आदर बताते हुये

कथन का पूर्वापर प्रवाह पुरुष का ज्ञान कराने के लिये ही है, ऐसा सूत्रकार 'आध्यानाय' इस पद से कहते हैं। 'आध्यानाय' का अर्थ है ध्यान पूर्वक जो सम्यक् ज्ञान होता है उसके लिये; क्योंकि यह ध्यान सम्यक् ब्रह्म दर्शन के लिये ही कहा गया है, ध्यान का यहां पर प्रधान रूप से कथन नहीं है ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

च और अत्मशब्दात् आत्मा शब्द का प्रयोग होने से [वह कथन पुरुष ही का है]।

और इस कारण से भी इन्द्रियादि पदार्थों की मालिका का वर्णन पुरुष का प्रतिपादन करके लिये ही है कि 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि.' [क० ३।१२] (यह सब भूतों में गुप्त रूप से रहा हुआ आत्मा सबको दीखता नहीं, परन्तु सूक्ष्म दर्शी पुरुष अपनी सूक्ष्म और कुशाग्र बुद्धि से उसको देखते हैं) इस प्रकार उस प्रकृत पुरुष को ही वह आत्मा है ऐसा कहा है। इससे इतर सब अनात्मरूप है ऐसा प्रतिपादन करने से श्रुति का अभिप्राय है ऐसा विदित होता है। और उस पुरुष को (सामान्म बुद्धि से) कठिनता से जाना जाता है तथा संस्कार युक्त बुद्धि ही उसको जानने में समर्थ होती है यह भी उस श्रुति का अभिप्राय प्रतीत होता है। उस पुरुष के जानने के लिये ही 'यच्छेद्वाङ्-मनसी प्राज्ञः' [कठ० ३।१३] (प्राज्ञ पुरुष मन और वाणी आदि इन्द्रिय उसमें अर्पण करे) इस प्रकार के ध्यान का विधान दिया गया है। इसका व्याख्यान 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' [ब्र० सू० १।४।१] इस सूत्र में किया गया है। इस प्रकार पुरुषके विषय में ही श्रुति का तात्पर्य है अन्य किसी संबंध में नहीं है

ऐसा दिखाई देता है। तथा 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' [कं० ३।९] (वह मार्ग के यानी संसार के अन्तको प्राप्त होता है, वही विष्णुका परमपद है) ऐसा कह कर वह मार्ग का अन्त और विष्णु का पद क्या है, इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिये इन्द्रिय आदि को एक २ के पश्चात् कहा हुआ होने से परम पद का प्रतिपादन करने के लिये ही यह प्रयास किया गया है ऐसा निश्चय होता है ॥ १५ ॥

८ आत्मगृहीत्यधिकरण । सू० १६–१७

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

इतरवत् इतर [स्थानों पर है उनके] समान [यहां पर भी] आत्मगृहीतिः परमात्मा ही का ग्रहण करना चाहिये उत्तरात् क्योंकि [इसी के अनुकूल] आगे [प्रतिपादन किया गया है]।

ऐतरेय उपनिषत् में लिखा है कि 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचनमिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजाः' [ऐ० १।१] (पहले यह एक आत्मा ही था और कुछ भी चलायमान जगत् नहीं था; उसने ईक्षण किया कि मैं लोकों को उत्पन्न करूं), 'स इमांल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' [ऐ० १।२] (उसने अभ यानी स्वर्गलोक, मरीची यानी अंतरिक्षलोक मर्त्यलोक और उदक यानी पाताल लोक इन लोकों को उत्पन्न किया), इत्यादि यहां पर संदेह होता है कि क्या आत्मा शब्द यहां परमात्मा के अर्थ में है अथवा अन्य किसी के ?

पूर्वपक्ष—आत्मा शब्द से यहां पर परमात्मा का निर्देश नहीं हो सकता; क्योंकि इस वाक्य का अन्वय देखने से यहा

प्रतीत होता है। यदि कहो कि वाक्य का अन्वय तो भली प्रकार से परमात्मा ही का निर्देश प्रदर्शित करता है, क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व एक ही आत्मा था ऐसा कहा गया है, तथा ईक्षण पूर्वक ही उसने सृष्टि उत्पन्न की ऐसा वहां कथन है, तो कहते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस वाक्य में लोकों की सृष्टि कही है। यदि यहां पर श्रष्टा परमात्मा को मानें तो प्रथम महाभूतों की सृष्टि का कथन आवश्यक था और यहां तो प्रथम लोकों की सृष्टि कही गई है। लोक तो केवल महाभूतों की एक विशिष्ट प्रकार की रचना है। 'अदोम्भः परेण दिवम्' [ऐ०१।२। (द्यु लोक के पर अंभ है) इस वाक्य से अंभ आदि लोक ही हैं ऐसा श्रुति स्पष्ट करती है। लोकों की सृष्टि परमेश्वर के अधिकार में रहने वाला कोई अन्य ईश्वर करता है, ऐसा श्रुति और स्मृति दोनों से जाना जाता है। श्रुति इस प्रकार है—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' [बृ० १।४।१] (यह पहिले पुरुष के समान आत्मा ही था) इत्यादि। स्मृति ऐसी है—'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' (वही प्रथम देहधारी हुआ उसी को पुरुष कहते हैं, जो सब भूतों को प्रथम निर्माण करता है ऐसा ब्रह्मा ही पहले था)। ऐतरेय शाखा के लोग भी 'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः' [ऐ० ब्रा० २।१।३।१] (अब रेत से सृष्टि कहते हैं-प्रजापति के रेत से देव हुए) ऐसा इसके पहिले ही प्रकरण में प्रजापति द्वारा हुई विचित्र सृष्टि का कथन करते हैं। प्रजापति के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग किया हुआ भी दिखाई देता है, जैसे, 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविध' [बृ० १।४।१] (पहिले यह पुरुष का सा आत्मा ही था)। उत्पत्ति के पहिले

जो प्रजापति एक ही था ऐसा कथन है वह भी उसके अपने विकारों की अपेक्षा ही से युक्त होता है तथा वह चेतन होने से उसका ईक्षण भी बन सकता है। तथा, 'ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्तां अब्रुवन्नि' [ऐ० २।४।२।२] (उन देवताओं के लिये वह गाय लाया, उनके लिये घोड़ा लाया उनके लिये पुरुष लाया, तब देवता बोले) इस प्रकार विशिष्ट प्रकार के अनेक व्यापार, जो कि व्यवहार में विशिष्ट प्रकार के आत्माओं में प्रसिद्ध हैं, उनका संबंध इस आत्मा के साथ श्रुति बताती है। इसलिये, इन विशेष प्रकार के आत्माओं में से ही किसी आत्मा का यहां निर्देश होना चाहिये।

समाधान—जैसे अन्य स्थान पर किया गया है वैसे यहां भी आत्मा शब्द से परमात्मा ही का ग्रहण होना चाहिये। जैसे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, [तै० २।१।१] (ऐसे इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि सृष्टि विषयक श्रुतियों में आत्मा शब्द से परमात्मा का ग्रहण है तथा जैसे इतर लौकिक व्यवहार में आत्मा शब्द से मुख्य प्रत्यगात्मा ही का ग्रहण होता है वैसा ही यहां पर होना चाहिये। जहां पर 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' [बृ० १।४।१] (यह पहिले आत्मा ही था) इत्यादि वाक्यों में 'पुरुषविधः' (पुरुषकासा) इत्यादि अन्य विशेषण दिये हों, वहां भले विशेष वाले आत्मा का ग्रहण किया जाय। परन्तु यहां पर तो परमात्मा ऐसा अर्थ ग्रहण करने के अनुकूल ही आगे भी विशेषण पाये जाते हैं; जैसे 'स ईक्षत लोकन्नु सृजा इति' [ऐ० १।१] (उसने ईक्षण किया कि मैं लोकों को उत्पन्न करूं), 'स इमांल्लो कानसृजत' [ऐ० १।२] (उसने इन लोकों को उत्पन्न किया) इत्यादि। इसलिये परमात्मा का ग्रहण करना ही यहां पर युक्त है ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

अन्वयात् अन्वय से [परमात्मा नहीं कहा है ऐसा प्रतीत होता है] इति ऐसा चेत् [यदि कहो] तो [श्रुति में वैसा ही] अवधारणात् निश्चय होने से स्यात् [परमात्मा का ही वहां ग्रहण] होता है।

वाक्यों का अन्वय देखते हुए परमात्मा ही का वहां पर ग्रहण करना युक्त है ऐसा जो [पूर्वपक्ष में] कहा था उसका परिहार करना चाहिये। इसके विषय में कहते हैं कि श्रुति में वैसा ही अवधारण यानी निश्चय होने से परमात्मा ही का ग्रहण यहां पर युक्त है, परमात्मा का ग्रहण यहां युक्ति से भी सिद्ध होता है; क्योंकि श्रुति में वैसा ही निश्चय मिलता है। परमात्मा का ग्रहण करने ही से उत्पत्ति के पहले श्रुति ने जो एक ही आत्मा था ऐसा निश्चय किया है वह युक्त प्रतीत होता है अन्यथा वह अयुक्त ही होगा। लोकों की उत्पत्ति का जो यहां पर कथन है वह अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध महाभूतों के पश्चात् की उत्पत्ति का है, ऐसा हम उस श्रुति का अर्थ लगाते हैं जैसे हमने 'तत्तेजोऽसृजत' [छां० ६।२।३] (उसने तेज उत्पन्न किया) इस श्रुति का अर्थ किया था कि अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध आकाश और वायु की उत्पत्ति के अनन्तर ही उसने तेज उत्पन्न किया; वैसे ही यहां पर समझना चाहिये। एक श्रुति में प्रसिद्ध ऐसी एक ही विषय की कोई विशेष बात हो तो उसका उसी विषय की अन्य श्रुतियों में भी ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार, उन देवताओं के लिये वह गाय लाया इत्यादि व्यापार विशेष श्रुति आत्मा के संबंध में कहती है उसमें भी श्रुति का अमुक अभिप्राय है ऐसा निश्चय करके तदनुसार

ही समझ लेना चाहिये । यहां पर आरम्भ से अन्त तक का सभी कथन विवक्षित है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा मानने से कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। परन्तु ब्रह्म आत्मा है [ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है इसलिये] यही यहाँ पर विवक्षित है।

अंभ (स्वर्ग) आदि लोकों की, लोक पालों की और अग्नि आदि की उत्पत्ति का उपदेश देकर श्रुति इन्द्रिय तथा उनका आश्रय शरीर का उपदेश देकर फिर वही ब्रह्म 'कथं न्विदं मदृते स्यात' [ऐ० ३।११] (यह मेरे विना कैसे रहेगा) ऐसा देखकर 'स एतमेव सोमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' [ऐ० ३।१२] (उसके मस्तक का विदारण करके उस मार्ग से उसने शरीर में प्रवेश किया) इस वाक्य से श्रुति उसने शरीर में प्रवेश किया ऐसा दिखाती है। और फिर यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितम् [ऐ० ३।११] (यदि वाणी ही ने भाषण किया और यदि प्राण ही ने श्वास क्रिया की) इत्यादि वाक्यों में इन्द्रियों के व्यापारों का विवेचन करके 'अथ कोऽहम्' [ऐ० ३।११] (अब मैं कौन हूँ) इस वाक्य में कहा है। वैसे अपने को देखते हुए यानी विचारते हुए 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्' (ऐ० ३।१३) (उसने इसी पुरुष रूप व्यापक ब्रह्म को देखा) इस प्रकार ब्रह्म ही सबका आत्मा है ऐसा उसने देखा ऐसा श्रुति निश्चय करती है। वैसे ही आगे भी 'एष ब्रह्मैष इंद्रः' [ऐ० ५।३] (वह ब्रह्म है, वह इन्द्र है) इत्यादि से महाभूतों से लेकर समस्त भेद सृष्टि को कह कर 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' [ऐ० ५।३] (यह सब प्रज्ञा यानी चैतन्य ही से नियंत्रित है चैतन्य ही में स्थित है, इस लोक का नियंत्रण भी

प्रज्ञा ही करती है, प्रज्ञा ही सबका आधार है और वह प्रज्ञान ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्म ही सब का आत्मा है ऐसा श्रुति निश्चय करती है। इसलिये यहां पर परमात्मा ही का ग्रहण होना चाहिये यह निरपवाद रीति से सिद्ध हुआ।

इस अधिकरण (सू० १६-१७) की दूसरी योजना इस प्रकार है—

'आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्'—वाजसनेयी शाखाके बृहदारण्य उपनिषत् में 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' [बृ० ४।३।७] (आत्मा कौनसा ? वह जो हृदय में प्रकाशने वाला और प्राणों में विज्ञानमय पुरुष है) इस वाक्य में आत्मा शब्द से उपक्रम करके उसी को सर्व संग से रहित प्रतिपादन करते हुए वह आत्माब्रह्म है ऐसा निश्चय किया गया है। इस (प्रकरण का) उपसंहार भी इसी बात के अनुकूल है जैसे, 'सवाएष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' [बृ० ४।४।२५] (वही यह महान्, अजन्मा, जरा रहित, मृत्यु रहित और भय रहित ऐसा आत्मा ब्रह्म है)। परन्तु छांदोग्य उपनिषत् में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [छां० ६।२।१] (हे सोम्य, पहले यह सब सत् ही था और वह एक और अद्वितीय था) इस वाक्य में आत्मा शब्द के बिना ही प्रकरण का आरंभ करके 'स आत्मा तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह आत्मा तू है) इस प्रकार (पूर्व कथित सत् से) तादात्म्य का श्रुति उपदेश करती है। अब यहां पर संशय होता है कि क्या इन दोनों श्रुतियों में एक ही अर्थ का प्रतिपादन है अथवा भिन्न भिन्न अर्थ का ?

पूर्वपक्ष – दोनों श्रुतियों में भिन्न २ अर्थ ही प्रतिपादित है, क्योंकि दोनों के कथन भिन्न प्रकार के हैं। जब कथन भिन्न २

हों तो उनमें एक ही अर्थ प्रतिपादित है ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि अमुक कथन का क्या अर्थ है वह उस कथन ही पर निर्भर है। वाजसनेयी शाखा के बृहदारण्यक उपनिषत् में आत्मा शब्द का प्रयोग होने से उसमें आत्मतत्त्व का उपदेश है ऐसा विदित होता है। परन्तु छांदोग्य उपनिषत् में प्रकरण का प्रारंभ भिन्न रीति से किया गया है इसलिये उसमें उपदेश भी भिन्न ही है। यदि कहो कि छांदोग्य में भी प्रकरण के उपसंहार में तादात्म्य का उपदेश है ऐसा ऊपर कहा है तो वह ठीक कहा है। उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार होता है इसलिये यह जो तादाम्य बताया गया है वह केवल भावना के लिये है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं कि यहां पर परमात्मा ही का ग्रहण करना चाहिये। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' छां० ६।२।१] (हे सोम्य, पहिले यह सब सत् ही था) इस वाक्य में, जैसे इतरत्र होता है, वैसे परमात्मा ही का ग्रहण होना चाहिये; जैसे 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७] (आत्मा कौनसा है) इस वाक्य में वाजसनेयी लोग परमात्मा का ग्रहण करते हैं, क्योंकि श्रुति ने आगे तादात्म्य का उपदेश किया है।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् [सू १७]—पहले (पूर्वपक्ष में) जो कहा था कि उपक्रम के अनुसार तथा श्रुति में आत्मा शब्द न होने से परमात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता; उसका क्या उत्तर है ऐसा कोई पूछे तो उत्तर देते हैं कि परमात्मा का ही श्रुति ने निश्चय किया है, इसलिये उसी का ग्रहण करना चाहिये। श्रुति में वैसा ही निश्चय होने से परमात्मा का ग्रहण ही युक्त है । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' [छां० ६ । १ । १] (जिससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, जिसका मनन नहीं हुआ वह मनन हुआ हो जाता

है, जो न जाना हो वह जाना हुआ हो जाता है) इस वाक्य से एक के जानने से सबका ज्ञान होता है ऐसा निश्चय करके उसी का समर्थन करने के लिये 'सदेव' (सत् ही था) ऐसा कहा है और परमात्मा का ग्रहण करने ही से ऊपर कही हुई बात का समर्थन होता है; अन्यथा, जो यह मुख्य आत्मा है उसका ज्ञान न होने से सबका ज्ञान होता है यह बात सिद्ध नहीं होती। उत्पत्ति के पूर्व एक आत्मा ही था यह निश्चय, जीव का आत्मा शब्द से निदर्शन (परामर्श) और सुषुप्ति अवस्था में वह अपने स्वरूप को यानी ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है यह कथन तथा बार बार प्रश्न करते हुए 'तत्त्वमसि' [छां० ६ । ८ । ७] (वह तू है) इस प्रकार का निश्चय, यह सब तादात्म्य (ब्रह्म ही सब का आत्मा है, सब ब्रह्म ही है इस प्रकार) के प्रतिपादन से श्रुति में किया गया हो तब ही युक्त होता है, केवल उपासना के किये तादात्म्य की भावना के अभिप्राय से कथन होने से युक्त नहीं होता। यहां उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार होना चाहिये यह बात आगे निकालना भी योग्य नहीं, क्योंकि उपक्रम में न तो आत्मा का वर्णन है न अनात्मा का। जब प्रकरण का उपक्रम (प्रारंभ) सामान्य रूप से होता है तब प्रकरण के अन्तिम भाग में आये हुए विशेष कथन से उसका विरोध नहीं होता; क्योंकि सामान्य को विशेष की आकांक्षा रहती है। वैसे ही सत् शब्द के अर्थ का विचार किया जाय तो वह भी मुख्य आत्मा से कोई भिन्न वस्तु है ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इससे अतिरिक्त जो कुछ है वह सब मिथ्या है ऐसा 'आरंभण' (मिथ्यात्व) प्रतिपादक श्रुतियां आदि से [ब्र० सू० २ । १ । १४ में] सिद्ध किया गया है। कथन के प्रकार भेद से भी भिन्न अर्थ का प्रतिपादन हो यह आवश्यक नहीं, क्योंकि, पात्र ला

और ला पात्र इत्यादि कथनों में अर्थ एक होते हुए भी भिन्न प्रकार से कहा गया है। इसलिये ऐसे वाक्यों में प्रतिपादन करने के प्रकार भिन्न होने से प्रतिपाद्य वस्तु भिन्न नहीं होती यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

६ कार्याख्यानाधिकरण।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

कार्याख्यानात् कार्य रूप से [कहे हुए आचमन का ही] निर्देश होने से [उसका यहां पर विधि संभव नहीं, केवल प्राण को आच्छादित करने के संकल्प का] **अपूर्वम्** विधि [यहां पर कहा गया] है।

छंदोग और वाजसनेयी शाखा के लोग प्राण संवाद में श्वान तक प्राणियों का जो अन्न है वह प्राण का अन्न है ऐसा कह कर उस प्राण का जल वस्त्र है ऐसा कहते हैं और इसके आगे छंदोग शाखा के लोग 'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' [छां० ५ । २ । २] (इसलिये भोजन के पहले और पीछे उसको जल से आच्छादित करते हैं) ऐसा कहते हैं। तथा वाजसनेयी लोग 'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेवतदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' [बृ० ६ । १ । १४] (इसलिये विद्वान श्रोत्रिय भोजन के पहले आचमन करते हैं और भोजन करके आचमन करते हैं और ऐसा करने से वे उसको आच्छादित करते हैं ऐसा वे मानते हैं), 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेत्तमेव तदनमनग्नं कुरुते' (इसलिये ऐसा जानने वाला भोजन के पूर्व और भोजन के अन्त में आचमन करता है; वह प्राण को नग्न नहीं छोड़ता यानी आच्छादित करता है) ऐसा कहते हैं। अब यहाँ पर

आचमन तथा प्राण का अनग्न का अनाच्छादित नहीं छोड़ना ऐसी भावना करना, ऐसी दो बातें दिखाई देती है, तब यहां दोनों वा विधान है अथवा केवल आचमन का विधान है अथवा केवल प्राण को अनग्न रखने की भावना करने का विधान है इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्ष—दोनों का विधान है, ऐसा ही प्रतीत होता है; क्योंकि दोनों का यहाँ पर (स्पष्ट) विधान है तथा दोनों ही यहां पर अपूर्व (नवीन) होने से इनका विधान आवश्यक है। अथवा, केवल आचमन ही का विधान है, क्योंकि उस श्रुति में ऐसा जानने वाला भोजन के पहिले और पश्चात् आचमन करे, ऐसा स्पष्ट विधि कहा हुआ है। उस विधि की प्रशंसा के निमित्त ही प्राण को अनग्न न रखने की बात कही है।

समाधान—यहां पर आचमन का विधि कहा हुआ हो यह सम्भव नहीं, क्योंकि अन्यत्र कहे हुए इस विधि का यहां पर केवल निर्देश मात्र है। यह आचमन जो शुद्धि के निमित्त विधि रूप से स्मृति में प्रसिद्ध है वह सबको करना आवश्यक ही है। यदि कहो कि यह श्रुति ही उस स्मृति की आदि प्रमाण है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है। स्मृति का विषय सामान्य है यानी वह सब पुरुषों के शुद्धि के निमित्त आचमन का विधान करती है, परन्तु यह श्रुति प्राण विद्या के प्रकरण में आई हुई हैं, इसलिये वह उसमें यदि आचमन विधि का कथन हो तो वह प्राणों के विषय ही होना चाहिये। किसी एक विषय की श्रुति भिन्न विषय के स्मृति वचन के लिये मूल प्रमाण नहीं हो सकती, और यह श्रुत्ति प्राण विधि के सम्बन्ध में कोई नवीन आचमन विधि का उपदेश करती है ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि पहले के (अर्थात् स्मृति प्रतिपादित) प्रत्येक

पुरुष के लिये कहे हुए आचमन से ही यहां अभिप्राय है ऐसा स्पष्ट विदित होता है। इसलिये इस श्रुति में दोनों बातों का विधान नहीं हो सकता। दोनों बातों का विधान माने तो एक श्रुति के दो उद्देश्य होने का दोष प्राप्त होगा। इसलिये पहले ही से भोजन के पहले और पश्चात् दोनों समय आचमन करने की जो विधि सबको करना आवश्यक है (ऐसा स्मृतियों में बताया गया है) उसी का यहां पुनः निर्देश करके 'एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' [बृ० ६।१।१४] (और इस प्रकार उसको वे आच्छादित करते हैं, ऐसा वे समझते हैं) इस वाक्य से आचमनीय जल से प्राण को आच्छादित करे, ऐसा यहां प्राण विद्या के सम्बन्ध में एक नवीन संकल्प (भावना) कहा गया है। और यह प्राण को आच्छादित करने की बात कही है वह आचमन की स्तुति के लिये हैं, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यहां आचमन विधि का कथन (मुख्य) नहीं है। यहां पर तो केवल प्राण को आच्छादित करने की भावना ही का विधान है ऐसा प्रतीत होता है। ऐसा होने से एक ही आचमन के विधान वाक्य के दो अर्थ या उद्देश्य होते हैं, एक पुरुष की शुद्धि और दूसरा प्राणों का आच्छादन करना, क्योंकि दोनों भिन्न २ क्रियाएं हैं ऐसा माना जाता है। पुरुष के शुद्धि के लिये आचमन यह एक क्रिया है तथा जल से प्राण को आच्छादन करने की कल्पना (भावना) करने के लिये कहना यह एक दूसरी ही क्रिया है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है। वैसे ही यदिदं किंचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्नम्, [बृ० ६।१।१४] (श्वान तक का या कृमि, कीट वा पतंग तक का जो कुछ अन्न है वह तेरा अन्न है)। इस श्रुति में सर्व अन्न का आहार करने का विधान है ऐसा कोई नहीं कह

सकता, क्योंकि न उसके लिये श्रुति का कहीं प्रमाण है और न यह सम्भव भी है, परन्तु यह सब प्राण ही का अन्न है, ऐसी प्राण भावना का यहां पर विधान किया गया है तथा उसके साथ २ वह जल प्राण का वस्त्र है, ऐसा कहकर जल के आचमन का विधान नहीं किया गया परन्तु आचमन करने के प्रसिद्ध जल में प्राण के परिधान की भावना का विधान है ऐसा ही मानना युक्त है। इतना ही नहीं 'आचमन्ति, (आचमन करते हैं) इस प्रकार वर्तमान काल का निर्देश किया हुआ होने से यह वाक्य विधिपर हो नहीं सकता। यदि कहो कि 'मन्यन्ते' (समझते हैं) यह भी क्रिया वैसी ही वर्तमान काल वाचक है तो यह ठीक है। तो भी जब विधि अवश्य ही मानना है तो प्राण पर वस्त्र की भावना करने का विधि यहां पर कहा हुआ होने से वस्त्र की भावना का नवीन विधि ही कहा हुआ है, आचमन का नहीं। आचमन का विधि तो पहिले ही से प्राप्त है यह सिद्ध किया ही गया है। (पूर्वपक्ष में) जो कहा था कि आचमन के विधि का इसमें स्पष्ट कथन है तो उसका उत्तर यह है कि आचमन पहिले ही से प्राप्त है ऐसा जो ऊपर प्रतिपादन किया है उससे उसका परिहार होता है। इसीलिये आचमन का विधि प्रतिपादन करने का उद्देश्य न होने से ही काण्व शाखा के लोग 'एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' 'और इस प्रकार वे प्राण को आच्छादित करते हैं ऐसा वे मानते हैं) इतना कहकर ही रह जाते हैं आगे 'ऐसा जानने वाला आदि' वाक्य नहीं कहते। इसलिये माध्यंदिनों के पाठ में भी आचमन का अनुवाद (पुनः निर्देश)करते हुए 'ऐसा जो जानता है, ऐसा जो कहा है उससे '(जल को) प्रकृत प्राण के वस्त्र रूप जो जानता है' इस ज्ञान का ही विधान यहां पर किया है ऐसा

जानना चाहिये। कहीं पर आचमन का विधि कहा है और कहीं पर वस्त्र (की भावना) का विधान है ऐसा माने तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जल (प्राण का) वस्त्र है इत्यादि जो प्रकरण की प्रवृत्ति है वह सर्वत्र एक सी है। इसलिये, यहां पर (जल को प्राण का) वस्त्र जानने का ही विधान है आचमन का विधि नहीं है यही न्याय युक्त है ॥ १८ ॥

१० समानाधिकरण।

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

च और **समाने** एक ही शाखा में [उपास्य वस्तु के] **अभेदात्** एक होने से **एवम्** इसी प्रकार [विद्याओं की एकता] है।

वाजसनेयी शाखा में अग्नि रहस्य में शांडिल्य नामक विद्या कही हुई है। उस विद्या में 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राण-शरीरं भारूपम्' (मनोमय, प्राण रूप शरीर वाला, प्रकाश स्वरूप, ऐसे आत्मा की वह उपासना करे) इत्यादि गुणों का कथन है। उसी शाखा के बृहदारण्यक उपनिषत् में कहा है कि 'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' [बृ० ५। ६। १] (जो पुरुष मनोमय है प्रकाश स्वरूप और सत्य स्वरूप है वह इस हृदय के भीतर व्रीहि अथवा जौ के बराबर भासता है वही सब का शासन करने वाला और सब का ईश्वर है, वही यह जो कुछ है उस पर शासन करता है)। यहां पर संशय होता है कि क्या यह अग्नि रहस्य में और बृहदारण्यक में दी हुई विद्या एक ही है और एक विद्या में कहे हुए गुणों का दूसरी विद्या में ग्रहण होता है अथवा ये दोनों भिन्न भिन्न विद्याएं हैं और एक में कहे हुए गुणों का दूसरी में ग्रहण नहीं होता।

पूर्वपक्ष—यहां पर भिन्न विद्याओं का ही कथन है और एक विद्या के गुणों का ग्रहण भी दूसरी विद्या में नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने से पुनरुक्ति का दोष प्राप्त होगा। विभिन्न शाखाओं में प्राण संवाद आदि के पढ़ने वाले और जानने वाले भिन्न भिन्न होने से पुनरुक्ति के दोष की प्राप्ति नहीं होती ऐसा देखकर वह विद्या एक हीं है ऐसा निश्चय करते हुए एक स्थान पर कहे हुऐ विशेष गुणों का अन्य स्थान पर संग्रह कर सकते हैं ऐसा पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं। परन्तु एक ही शाखा में जहां पर पठन करने वाले और जानने वाले भिन्न नहीं होते हैं वहां पर पुनरुक्ति का दोष टल नहीं सकता, इसलिये वहां अन्य स्थान में दूर पर कही हुई विद्या एक नहीं हो सकती। यहाँ पर एक श्रुति वचन विद्या का विधान करता है और दूसरा गुणों का विधान करता है इस प्रकार विभाग बन नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो दोनों स्थलों पर पृथक् पृथक् गुणों का वर्णन होता परन्तु दोनों स्थलों पर मनोमयत्व आदि समान ही गुणों का वर्णन आता है। इसलिये एक स्थान पर कहे हुए गुणों का दूसरे स्थान पर संग्रह नहीं होता।

समाधान—जैसे विभिन्न शाखाओं में एक ही विद्या का कथन और एक शाखा में कहे हुए गुणों का अन्य शाखा में ग्रहण होता है वैसे ही एक शाखा में भी मानना चाहिये, क्योंकि दोनों स्थान में उपास्य एक ही है। मनोमयत्व आदि गुण वाला वहीं ब्रह्म दोनों स्थान पर समान रूप से उपास्य है ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। और उपास्य वस्तु विद्या का रूप है इसलिये रूप एक होते हुए विद्या भिन्न भिन्न है ऐसा निश्चय हो नहीं सकता और न विद्या एक होते हुए गुणों के वर्णन में भी भेद हो सकता है। यदि कहो कि पुनरुक्ति दोष प्राप्त होने से

विद्या का भेद माना गया है तो कहते हैं कि वसा नहीं है; क्योंकि दोनों श्रुतियों में विभिन्न अर्थ का प्रतिपादन होता है ऐसा दिखा सकते हैं । एक ही श्रुति वचन विद्या का विधान करता हो और दूसरा गुणों का विधान करता हो यह बात असम्भव नहीं है। यदि कहो कि 'सएष सर्वस्येशानः' (ऐसा वह मबका ईश्वर है) आदि जो वातें अग्नि रहस्य में नहीं कही गई हैं, वे ही बृहदारण्यक में कहनी चाहिये थीं और 'मनोमय' इत्यादि जो वातें उसमें कहीं है वे नहीं कहनी चाहिये थी, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि यही प्रमाण है जिससे अन्य देश में भी वही विद्या कही हुई है ऐसा जाना जाता है । [बृहदारण्यक उपनिषत् में अग्नि रहस्य के] समान ही गुणों को कहकर दूर पर कही हुई शांडिल्य विद्या हीं यहां पर कही हुई है; ऐसा दिखाकर फिर उसमें ईशानत्व आदि का उपदेश श्रुति देती है । अन्यथा यह गुणों का कथन उस विद्या ही के सम्बंध में है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अप्राप्त गुणों के कथन से सार्थक होने वाले वाक्य में यदि किसी प्राप्त गुण का निर्देश किया गया हो तो वह नित्य का ही अनुवाद रूप है, ऐसा उसका समर्थन हो सकता है। इसलिये उस निर्देश से दोनों स्थान पर एक ही विद्या का कथन है ऐसा जो जाना जाता है, उसको छोड़ नहीं सकते। इसलिये यहां पर एक शाखा में भी विद्या एक ही है और एक के गुणों का अन्यत्र संग्रह होता है यह सिद्ध हुआ ॥ १९ ॥

११ संबंधाधिकरण । सू० २०–२२

संबंधादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

संबंधात् [एक ही विद्या से] सम्बन्ध होने से **अन्यत्र** अन्य स्थानों पर **अपि** भी [गुणों का] **एवम्** वैसा ही (संग्रह होना चाहिये)।

बृहदारण्यक उपनिषत् में 'सत्यं ब्रह्म' [बृ० ५। ५। १] सत्यब्रह्म है ऐसा उपक्रम करके 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यौ य एष एतास्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' [बृ० ५। ५। २] (वह जो सत्य है वही यह सूर्य है, जो इस मंडल में पुरुष है और जो यह दाहिने आँख में पुरुष है) इस वाक्य से उसी सत्य रूप ब्रह्म के आधिदैविक और आध्यात्मिक स्थान विशेष का उपदेश करके व्याहृतियां उसका शरीर है ऐसी कल्पना करके उनके दो उपनिषत् यानी गुप्त नाम दिये गये है। 'अहः' यह उसका आधिदैविक उपनिषत् है। और 'अहम्' यह उसका आध्यात्मिक उपनिषत् है यहा पर संशय होता है कि क्या ये दोनों उपनिषत् दोनों स्थानों के लिये है, ऐसा समझना चाहिये अथवा एक आधिदैविक स्थान के सम्बन्ध में है और दूसरा आध्यात्मिक स्थान के सम्बन्ध में है ऐसा समझना चाहिये इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से सूत्रकार पूर्वपक्ष करते हैं। जैसे शांडिल्य विद्या पृथक् पृथक् स्थानों पर कही हुई होने पर भी उसमें एक स्थान पर कहे हुए गुणों का दूसरे स्थान पर संग्रह होता है, वैसे ही अन्य स्थान पर भी उसी प्रकार के विषय में गुणों का संग्रह होना चाहिये, क्योंकि उनका एक ही विद्या के साथ संबंध है। आधिदैविक और आध्यात्मिक ऐसे दो रूपों से एक ही सत्य विद्या का कथन किया गया है, क्योंकि दोनों स्थान पर उपक्रम एक सा ही है और दोनों परस्पर संबंध से कथन की गई। इसलिये एक ही विद्या में कहा हुआ धर्म उसी विद्या में क्यों न ग्रहण किया जाय ? आचार्य संबंधी कहे हुए अनुगमन आदि आचार, वह ग्राममें जाय अथवा अरण्य मे, समान ही रहते हैं; इसी प्रकार दोनों उपनिषदों का (यानी गुप्त नामों की) दोनों स्थान पर प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

इसका निराकरण करते हैं कि—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

विशेषात् [स्थान के] भेद से (दोनों उपनिषत् (गुप्त नाम) दोनों स्थान पर) न वा प्राप्त नहीं होते ।

दोनों उपनिषत् (गुप्त नाम) दोनों स्थान पर प्राप्त नहीं होते क्योंकि दोनों के स्थान विभिन्न हैं अर्थात् दोनों का उपासना के विशेष स्थानों से संबंध है । स्थान विशेष से किस प्रकार संबंध है वह दिखाते हैं—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः [बृ० ५ । ५ । ३] (जो यह इस आदित्य मण्डल में पुरुष है) इस प्रकार आधिदैविक पुरुष के प्रकरण में उसका उपनिषत् 'अहः' है ऐसा श्रुति कहती है । 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' [बृ० ५।५।४] (यह जो दाहिने नेत्र में पुरुष हैं) इस प्रकार आध्यात्मिक पुरुष के प्रकरण में उसका उपनिषत् 'अहम्' है ऐसा श्रुति कहाती है । समीपवर्ती वस्तु का बोध कराने वाला 'तस्य' (उसका) यह सर्वनाम है, इसलिये विशिष्ट स्थानों के सम्बन्ध से ही ये विभिन्न उपनिषत् कहे गये हैं, फिर दोनों की दोनों स्थान पर प्राप्ति किस प्रकार होगी ? यदि कहो कि 'आध्यात्मिक और आधिदैविक पुरुष एक ही है, क्योंकि एक ही सत्य रूप ब्रह्म के ये दो स्थान हैं ऐसा प्रतिपादन किया गया है, तो यह ठीक ही है । एक ही ब्रह्म की अवस्था विशेष का ग्रहण करके उसके लिये विशिष्ट उपनिषत् का उपदेश किया हुआ होने से वह उपनिषत् उसी का हो सकता है । (पूर्वपक्ष में दिया हुआ आचार्य का) दृष्टान्त भी अनुकूल ही है; जैसे, आचार्य का स्वरूप यद्यपि नहीं बदलता तो भी आचार्य बैठे हों तब जो उनका अनुवर्तन कहा है वह ही वे खड़े हों तब प्राप्त नहीं होता और जो

उनके खड़े होने पर प्राप्त होता है वही उनके बैठने पर प्राप्त नहीं होता। परन्तु आचार्य ग्राम में हों अथवा अरण्य में हों तो भी उनके स्वरूप में भेद नहीं होता, इसलिये उससे संबंध रखने वाले धर्म में उनके ग्राम में रहने से अथवा अरण्य में रहने से कोई भेद नहीं होता, इसलिये दोनों स्थान पर समान हीं धर्म प्राप्त होते हैं। इसलिये पूर्वपक्ष में दिया हुआ दृष्टांत ठीक नहीं है। अर्थात् इन दोनों उपनिषदों की दोनों स्थान पर प्राप्ति नहीं होती ॥२१॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

च और दर्शयति [यही बात श्रुति] कहती है।

इसी प्रकार ये धर्म दोनों स्थान पर प्राप्त नहीं होते इस विषय में श्रुति में लिंग (यानी हेतु, कारण) मिलता है—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' [छां० १।७।५] (ऐसे) उसका जो रूप वही इसका रूप है, जो उसके जोड़ वही इसके जोड़, जो नाम वही नाम है)। इसका यह लिंग है यह कैसे जाना जाय ? चक्षु और सूर्य के भिन्न भिन्न स्थानों के कारण वहां रहे हुए भिन्न धर्मों का परस्पर एक एक में संग्रह नहीं होता, ऐसा देखकर श्रुति ने यहां पर सूर्य मंडलगत पुरुष के रूप आदि धर्मों का 'तस्यैतस्य तदेव रूपम्, [छां० १।७।५] (ऐसे इसका यह रूप है) इस प्रकार के अतिदेश (एक के धर्मों का दूसरे में ग्रहण करने के लिये आदेश) द्वारा चक्षुगत पुरुष में संग्रह किया है। इसलिये यही निर्णय होता है कि ये दोनों उपनिषत् विभिन्न स्थान के लिये ही प्राप्त होते हैं॥ २२॥

१२ संभृत्यधिकरण ।

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।। २३ ।।

च और **अतः** इसलिये **संभृतिद्यु व्याप्ती** धारण करना तथा स्वर्ग को व्याप्त करना [इन विभूतियों का] **अपि** भी [संग्रह नहीं होता] ।

राणायन शाख वालों के खिल ग्रंथ में (जिसमें विधि निषेध का कथन नहीं होता उस ग्रंथ को खिल कहते हैं) ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' (ब्रह्म महान् वीर्य यानी सामर्थ्य धारण करता है, प्रथम वह ब्रह्म स्वर्ग में व्याप्त था) इस वाक्य में वीर्य धारण करना तथा स्वर्ग को व्याप्त करना आदि ब्रह्म की विभूतियां कही हैं। उन्हीं के उपनिषत् में शांडिल्य विद्या आदि ब्रह्म विद्याओं का वर्णन है। अब उन ब्रह्म विद्याओं में ब्रह्म की इन विभूतियों का संग्रह होना चाहिये अथवा नहीं ऐसा विचार करते हुए उन विभूतियों का ब्रह्म से संबंध होने से उनका ब्रह्म विद्या में संग्रह होना चाहिये ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि—

'संभृतिव्याप्ती' धारण करना और स्वर्ग में व्याप्त होना आदि विभूतियों का शांडिल्य विद्या में संग्रह नहीं होता, अतएव' इसीलिये यानी विभिन्न स्थानों के साथ ब्रह्म का संबंध होने से 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' [छां० ३।१४।३] (यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर है) इस वाक्य में शांडिल्य विद्या में हृदय ब्रह्म का स्थान है ऐसा कहा है। वैसे ही दहर विद्या में भी 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' [छां० ८।१।१] (जो यह छोटे कमल रूप घर हैं, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है), इस वाक्य से यही कहा है। 'य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते' [छां० ४।१५।१] (वह जो चक्षु में पूरुष दीखता है) इस वाक्य से

उपकोसल विद्या में ब्रह्म का चक्षु स्थान कहा है। इस प्रकार इन विद्याओं में स्थान स्थान पर ब्रह्म का आध्यात्मिक स्थान कहा है. यह तो प्रतीत होता है; परन्तु संभृति (धारण करना) और द्युव्याप्ति (स्वर्ग को व्याप्त होना) ये विभूतियों तो आधिदैविक हैं इसलिये उन विद्याओं में इनकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकेगी ? यदि कहो कि इन विद्याओं में भी आधिदैविक विभूतियों का वर्णन है, जैसे, ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' [छां० ३।१४।३] (वह स्वर्ग से भी बड़ा है, इन सब लोकों से भी बड़ा है), 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' [छां० ४।१५।४] (यही प्रकाशमय है, यही सब लोकों में प्रकाशता है), 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' [छां० ८।१।३] (जितना यह आकाश है उतना ही हृदय के भीतर आकश है, इसी के भीतर स्वर्ग और पृथिवी दोनों रहे हुए हैं) इत्यादि तथा अन्य 'षोडशकला' आदि भी ब्रह्म विद्याएं हैं, जिनमें ब्रह्म के विशेष स्थान का कोई निर्देश नहीं है, तो यह कहना ठीक ही है। तथापि धारण करना और स्वर्ग में व्याप्त रहना आदि विभूतियों का ग्रहण न करने के लिये कारण है। दूर दूर स्थानों में कही हुई होने पर भी समान गुणों के निर्देश से एक रूप से प्रतीत होने वाली समान विद्याओं में दूर दूर कहे हुए गुणों का संग्रह होना यह युक्त ही है। परन्तु 'संभृति' (धारण करना) आदि विभूति तथा शांडिल्य विद्या आदि में कहे हुए मनोमयत्व आदि गुण ये परस्पर विजातीय स्वरूप वाले होने से अन्य स्थान पर उनका निर्देश होने से उससे वहाँ पर उन ही विद्याओं का कथन है ऐसा निश्चित नहीं होता। इस विद्या का ब्रह्म से संबंध होने से ही इतर स्थान पर कही हुई

विद्या ही यहां पर कही गई हो, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विभिन्न विद्याओं का भी ब्रह्म के साथ संबंध हो सकता है। ब्रह्म एक होते हुए भी उनकी अनेक विभूतियां होने से उसकी अनेक प्रकार से उपासना की जा सकती है यह वस्तु स्थिति है। जैसे, 'परोवरीयस्त्व' (बड़े से बड़ा होना) आदि गुणों से उसकी विभिन्न रूप से उपासना कही हुई है, वैसे ही यहां पर अनेक उपासनाएं कही हुई हैं। इसलिये वीर्य धारण करना आदि विभूतियों का शाण्डिल्य विद्या आदि में संग्रह नहीं होता ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २३ ॥

१३ पुरुषविद्याधिकरण ।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

च और **पुरुष विद्यायाम्** [जैसा] पुरुष विद्या में [कहा है] **इव** वैसा **इतरेषाम्** इतर विद्याओं के लिये **न** नहीं **आम्नातम्** कहा हुआ होने से [उसके गुणों का संग्रह अन्यत्र नहीं होता]।

तांडी और पैंगी शाखा वालों के रहस्य ब्राह्मण ग्रन्थ में पुरुष विद्या कही हुई है। उसमें पुरुष यज्ञ है ऐसी कल्पना की गई है। उस पुरुष की आयु तीन विभागों में बाँटकर उनको सवन रूप से माना है तथा भूख आदि को दीक्षा आदि भाव से माना है एंव प्रार्थना मन्त्र आदि अन्य धर्म भी वहां (किसी ने किसी भाव से) माने हैं। तैत्तिरीय शाखा के लोग भी एक पुरुष यज्ञ की कल्पना 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धापत्नी' [तै० आ० १०।६४] (उस ऐसे जानने वाले के यज्ञ का आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है) इस अनुवाक् से करते हैं। यहां पर शंका होती है कि क्या जो धर्म अन्यत्र कहे

हैं वे तैत्तिरीयक हुए में भी ग्रहण करने चाहिये अथवा नहीं ग्रहण करने चाहिये। दोनों स्थान पर पुरुष यज्ञ ही का वर्णन होने से यदि कोई कहे कि वहां धर्मों का संग्रह करना चाहिये, तो हम कहते हैं नहीं करना चाहिये, क्योंकि, पुरुष यज्ञ ही तैत्तिरीय में कहा हुआ है ऐसा नहीं दिखाई देता। यही आचार्य इस 'पुरुषविद्यायाम्:' आदि सूत्र से कहते है।

तांडी या पैगी शाखा वाले लोगों के किसी ग्रन्थ में पुरुष विद्या का जो कथन है वह तैत्तिरीय शाखा वालों के ग्रन्थ में नहीं मिलता। उनकी यज्ञ को कल्पना यजमान, पत्नी, वेद, वेदी कुश, यूप (यज्ञ का स्तम्भ), आज्य (घृत), पशु, ऋत्विज आदि की भावना से युक्त होने से इतरत्र कही हुई कल्पना से विलक्षण है। तथा उनकी सवन की कल्पना भी औरों से विलक्षण है जैसे, 'यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं च तानि' [नारा० ८०] (जो प्रातःकाल, मध्यान्ह और सायंकाल है वे ही सवन है)। यद्यपि मरण में अवभृथ की कल्पना करना आदि कुछ बातों का दोनों में साम्य है, परन्तु वह बहुत थोड़ा होने से तथा अधिकतर दोनों में विलक्षणता ही दिखाई देने से वह अल्प सी साम्यता उनकी एकता सिद्ध नहीं कर सकती। अब तैत्तिरीयक में पुरुष यज्ञ है ऐसा नहीं कहा। 'विदूषो यज्ञस्य' (ऐसे जानने वाले के यज्ञ का) इस वाक्य में दोनों षष्ठी के पद हैं उनका समान अधिकरण नहीं है अर्थात् 'जो जानने वाला (पुरुष) यज्ञ है उसका' ऐसा उस वाक्य का अर्थ नहीं है, क्योंकि मुख्य रूप से पुरुष यज्ञ नहीं हो सकता, अर्थात् ये दोनों षष्ठियां भिन्न अधिकरण वाली (यानी भिन्न वस्तु बोधक) हैं जिससे इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होता है—

'जानने वाले का जो यज्ञ है उसका' क्योंकि पुरुष का यज्ञ से मुख्य सम्वंध होता है और वने वहां तक मुख्य अर्थ ही का आश्रय लेना चाहिये, गौण अर्थ न लेना चाहिये। 'आत्मा यजमान है' ऐसा जव श्रुति कहती है तव इससे पुरुष यजमान है ऐसा कहकर पुरुष और यज्ञ इनका अधिकरण भिन्न है (यानी दोनों भिन्न पदार्थ हैं) ऐसा दिखाती हुई पुरुष का यज्ञ से सम्वंध है ऐसा दिखाती है। तथा 'तम्यैव विदुषः' (ऐसा जानने वाले को) इस वाक्य में श्रुति ने केवल सिद्ध वस्तु का अनुवाद किया हो तो उसी श्रुति में आगे पुरुष यज्ञ है और आत्मा आदि यजमान आदि है ऐसी कल्पना की है। इसलिये ऐसा मानने से वाक्य भेद (एक ही वाक्य के दो अर्थ होना) का दोष प्राप्त होगा। इसलिये संन्यास के साथ आत्म विद्या का पहिले उपदेश करके पश्चात् 'तस्येवं विदुषः' (उस ऐसे जानने वाले के) इत्यादि प्रकरण आरंभ किया गया है ऐसा देखकर हम यही निश्चय करते हैं कि यह वचन पूर्व के उपदेश के अंगभूत है, स्वतंत्र नहीं है। इसीलिये 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' [नारा० ८०] (उसको ब्रह्म की महिमा प्राप्त होती है) इस प्रकार दोंनों वाक्यों का एक ही फल कहा हुआ है ऐसा हमको दिखाई देता है। परन्तु अन्यत्र जो पुरुष विद्या कही हुई है वह किसी के अंगभूत नहीं है; क्योंकि 'षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद' [छाँ० ३।१६।७] (जो ऐसा जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीता है) इस प्रकार उस पुरुष विद्या का आयुर्वृद्धि का स्वतंत्र फल बताया गया है। इसलिये, अन्य शाखाओं में कहे हुए प्रार्थना, मंत्र आदि जो पुरुष विद्या के धर्म हैं उनकी तैत्तिरीयक में प्राप्ति नहीं होती यह सिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

१४ वेधाद्यधिकरण ।

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

वेधाद्यर्थ भेदात् वेध आदि के मंत्रों का अर्थ भिन्न होने से [मंत्र आदि का विद्या में संग्रह नहीं होता] ।

आथर्वणिकों के उपनिषत् के आरंभ में यह मंत्र होता है— 'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' (शत्रुओं का सर्व शरीर विद्ध कर यानी वींधडाल, हृदय विद्धकर नसें तोड़ दे सिर फोड़ दे इस प्रकार उनका शरीर तीन प्रकार से छिन्न भिन्न कर दे) इत्यादि, तांडो शाखा वालों के उपनिषत् के आरंभ में मंत्र है कि 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' (हे सूर्य भगवान् यज्ञ उत्पन्न कर यानी मुझसे यज्ञ करा) इत्यादि, शाट्यायनियों के उपनिषदों के आरंभ में यह मंत्र है— 'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' (तेरा श्वेत घोड़ा है, तू इन्द्रनील मणि के सदृश नीला है) इत्यादि, कठ और तैत्तिरीय शाखा के उपनिषत् के प्रारंभ में मंत्र है—-शं नोमित्रःशं वरुणः' (सूर्य हमारा कल्याण करे, वरुण हमारा कल्याण करे) इत्यादि, वाजसनेयी शाखा के उपनिषत् के आरंभ में प्रवर्ग कर्म संबंधी ब्राह्मण में कहा हुआ है— 'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' (देव गण सत्र करने बैठे) इत्यादि, कौषीतकी शाखा में भी अग्निष्टोम ब्राह्मण में दिया हुआ है—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति' (अग्निष्टोम ही वास्तव में ब्रह्म है, जिस दिन यह यज्ञ किया जाय वह दिन भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म हो से वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, जो इस दिन यह कर्म करते हैं वे अमृतत्व को प्राप्त होते हैं) इत्यादि ।

अब यहाँ पर ऊपर दिये हुए 'सर्व प्रविध्य' आदि सब मंत्र तथाप्रवर्ग्य आदि कर्म इनका विद्या में संग्रह होता है अथवा नहीं होता इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्ष—यही प्रतीत होता है कि इनका विद्याओं में संग्रह होता है; क्योंकि मुख्य रूप से जिनमें विद्या ही का प्रतिपादन है ऐसे उपनिषत् ग्रन्थों के समीप इनका पाठ है। यदि कहो कि विद्या प्राप्त करने के लिये इनका विधान कहीं भी नहीं मिलता तो वह ठीक है। यदि इसके लिये कोई विधान न मिले तो भी हम ये उनके संनिहित है इसीसे इनको विद्या प्राप्ति के लिये उपयोगी समझते हैं। संनिधि के कारण ही जब हम इनकी उपयोगिता देखते हैं तब केवल इनका विधान नहीं किया इसलिये इनको छोड़ नहीं सकते। यदि कहो कि इन मन्त्रों में विद्या प्राप्त कराने की कुछ शक्ति है ऐसा भी नहीं दिखाई देता, तथा प्रवर्ग्य आदि कर्म जब अन्य कर्म के लिये ही विशेष रूप से कहे हैं, तब उनका विद्या के साथ सम्बन्ध किस प्रकार लगा सकते हैं, तो कहते हैं यह दोष नहीं प्राप्त होता। इनमें प्रथम हृदय आदि का कथन होने से इन मन्त्रों का विद्या प्राप्त कराने में भी कुछ सामर्थ्य हो सकता है ऐसा मान सकते हैं; क्योंकि हृदय आदि का ही प्रायः उपासना के स्थान रूप से उपदेश किया होता है। इसलिये इससे 'हृदयं प्रविध्य' (हृदय विदारण करके) इत्यादि मन्त्रों का उपासना का अंगभूतत्व सिद्ध होता है। 'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' [छां० ३ । १५ । ३] (इसके साथ, इसके साथ, इसके साथ मैं भूलोक को प्राप्त होता हूँ) इत्यादि इन मन्त्रों का विनियोग उपासना में भी किया हुआ दिखाई देता है। वैसे ही, जैसे बृहस्पति सव का (सव-यज्ञ) स्वतन्त्र विनियोग होते हुए भी उसका वाजपेय यज्ञ में भी विनियोग दिया हुआ है। वैसे ही,

प्रवर्ग्य आदि कर्मों का अन्यत्र विनियोग होते हुए भी उनका विद्या में विनियोग होने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।

समाधान—इनका संग्रह विद्या में नहीं हो सकता; क्योंकि इनके वेध आदि के मन्त्रों का अर्थ भिन्न है। 'हृदयं प्रविध्य' (हृदय को विद्ध करके) इत्यादि प्रकार के मन्त्रों में हृदय को विद्ध करना आदि जो बातें कही हैं उनका उपनिषदों में कही हुई विद्याओं के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और न वे उनके साथ उपयोगी भी हो सकती है। यदि कहो कि हृदय की उपासना में उपयोग होने से तद्द्वारा उनका उपासना से सम्बन्ध होता है ऐसा कह दिया है, तो, वह ठीक नहीं। केवल हृदय ही का वहां निर्देश होता तो उसका ऐसा उपयोग कदाचित् मान भी लेते, परन्तु केवल हृदय ही उस मंत्र का अर्थ नहीं है। 'हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य' (हृदय को विद्ध कर, नसें तोड़ दे) इत्यादि सब मंत्र का जो अर्थ है उस सब का विद्या के साथ सम्बन्ध नहीं बनता; क्योंकि 'सर्व प्रविध्य' (सबको नष्ट कर) इस मंत्र का अभिचारक के साथ सम्बन्ध होने से यह मन्त्र अभिचारिक विषय का है (दूसरे के नाश के निमित्त कर्म को अभिचार कर्म कहते हैं)। तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' (हे सूर्य भगवान यज्ञ निर्माण करो) इत्यादि का यज्ञ की उत्पत्ति यह लक्षण होने से इसका यज्ञ कर्म के साथ सम्बन्ध है। अब किस विशेष कर्म के साथ इसका संबंध है यह अन्य प्रमाणों से निश्चित करना चाहिये इसी प्रकार अन्य मन्त्रों के विषय में भी (उनका किस विशेष का किस विषय के साथ संबंध है यह), कुछ मन्त्रों का लिंग से, कुछ मन्त्रों का श्रुति प्रमाण से और कुछ मन्त्रों का अन्य प्रमाणों से निश्चय किया जा सकता है और इसीलिये अन्य अर्थ में नियुक्त किये हुए मन्त्र उपनिषत् में कहे

हुए होने से केवल संनिधि मात्र से वे विद्या के अंश रूप हैं यह सिद्ध नहीं होता। संनिधि का प्रमाण दुर्वल है यह 'श्रुति' इत्यादि सूत्र से पूर्व मीमांसा शास्त्र में ही कह चुके हैं। वह सूत्र इस प्रकार है–'श्रुतिलिंग वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षत्' [जै० सू० ३ । ३ । १३] (श्रुति यानी श्रुति का स्पष्ट वचन, लिंग यानी वेद सामर्थ्य, वाक्य अर्थात् प्रधान वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या यानी अन्वर्थक शब्द, इनके समूह में पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर दुर्वल हैं; क्योंकि उत्तर प्रमाण से निश्चित किया हुआ अर्थ दूर का है)। प्रावर्ग्य आदि कर्मों का भी अन्यत्र विनियोग होने से उनका विद्याओं से संबंध नहीं वन सकता न उनका विद्याओं से किसी वात में साम्य है। वृहस्पति सव का विनियोग तो वाजपेय प्रकरण में 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेनयजेत' (वाजपेय यज्ञ करके वृहस्पति यज्ञ करे) इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहा है। तथा पहिले एक वार कहे हुए प्रवर्ग्य कर्म का जब प्रवल प्रमाण से एक स्थान पर विनियोग होता है तब उसका अन्य किसी दुर्वल प्रमाण से और कहीं विनियोग नहीं हो सकता। यदि प्रमाणों में अन्तर नहीं माना जाता तो ऐसा वन सकता था, परन्तु प्रवल और दुर्वल प्रमाण का अन्तर ग्रहण नहीं होता ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि एक प्रमाण प्रवल होना और दूसरा दुर्वल होना यही उनमें अन्तर है। इसलिये इस प्रकार के मन्त्र अथवा कर्म केवल संनिधि के कारण ही विद्या के अंश भूत हैं ऐसा नहीं कहना चाहिये। ये दोनों (विद्या और मन्त्रादि) एक ही अरण्य में कहे हुए हैं इत्यादि धर्म का साम्य होने ही से इनका संनिधि में निर्देश है यह जानकर संतोष करना चाहिये ॥ २५ ॥

१५ हान्यधिकरण ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तुत्यु-
पगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत् कुश, छन्द, स्तुति और उपगायन के समान **उपायन शब्द शेषत्वात्** [त्याग का विधान] ग्रहण के विधान का अंगभूत होने से **हानौ** त्याग में **तु** भी [ग्रहण प्राप्त ही है **तदुक्तम्** [पूर्व मीमांसा में भी] यह बात कही हुई है ।

तांडी शाखा की श्रुति है कि 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' [छां० ८।१३।१] (जैसे अश्व अपने बाल झाड़ता है यानी साफ करता है वैसे मैं पाप को दूर करता हूँ, और जैसे चंद्र राहू के मुख से मुक्त होता है वैसा मैं अपने शरीरका त्याग करके कृतकृत्य होता हूं और ब्रह्म लोक को नित्य के लिये प्राप्त होता हूँ), आथर्वणिकों की श्रुति है–तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मुण्ड० ३।२।८] (तब विद्वान् नाम रूपों का त्याग करके पर से पर ऐसे दिव्य पुरुष को यानी परमात्मा को प्राप्त होता है), शाट्यायनींय कहते हैं, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' (उसके पुत्र उसका धन ग्रहण करते हैं, मित्र उनके अच्छे कर्म के भागी होते हैं और द्वेष करने वाले पाप कर्मो को प्राप्त करते हैं) तथा कौषीतकी शाखा के लोगों की श्रुति है कि 'तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्तयप्रिया दुःकृतम्' [कौषी० १।४] (उससे उसके अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म छूट जाते हैं उसके जो प्रियजन होते हैं उनके प्रति उसके

सत्कर्म वा पुण्य चले जाते हैं और जो अप्रिय होते हैं उनको उसके पाप मिल जाते हैं)।

यहां पर कहीं तो पूण्य और पाप का त्याग होता है ऐसा कहा है किसी श्रुति में इनका विभाग करके एक एक को शत्रु और मित्र ग्रहण करते हैं ऐसा कहा है और कहीं पर तो दोनों का कथन है वहां पर कुछ कहना नहीं है; परन्तु जहां पर केवल ग्रहण ही का कथन है त्याग का नहीं, वहां पर अर्थात् ही त्याग की प्राप्ति होती है। जब किसी के सुकृत दुष्कृतों का और कोई ग्रहण करता है तब उनका उस पुरुष से त्याग होना आवश्यक है। परंतु जहां पर केवल त्याग ही की श्रुति है ग्रहण का निर्देश नहीं है वहां पर ग्रहण प्राप्त होता है या नहीं प्राप्त होता इसका विचार करते हैं—

पूर्वपक्ष—यहां पर अर्थात् ही ग्रहण नहीं प्राप्त होता क्योंकि श्रुति में उसका कथन नहीं है। अन्य शाखा में जो ग्रहण का निर्देश है वह अन्य विद्या से संबंध रखता है। दूसरे, ज्ञानी सुकृत दुष्कृत का त्याग स्वयं करता है और उसका ग्रहण करते हैं अन्य। अब एक के त्याग करने से अन्य उसका ग्रहण करेंगे ही ऐसा कोई इसमें आवश्यक संबंध न होने से केवल त्याग के ही कथन से ग्रहण का अनुमान किस प्रकार कर सकते हैं ? इसलिये त्याग के कथन से ग्रहण प्राप्त नहीं होता यही प्रतीत होता है।

इसी पूर्वपक्ष का उत्तर 'हानौ तु०' इत्यादि प्रकृत सूत्र से देते हैं—

श्रुति में केवल त्याग ही का निर्देश हो तो भी उससे ग्रहण अवश्य प्राप्त होता है; क्योंकि त्याग ही का एक अंश ग्रहण है, क्योंकि कौशीतकी उपनिषत् में त्याग की श्रुति के अंश भूत ही

ग्रहण की श्रुति है। इसलिये अन्य स्थान पर जहां केवल त्याग ही श्रुति में निर्देश हो वहां पर ग्रहण का अनुवर्तन होता है। पूर्वपक्ष में जो कहा है कि श्रुति में निर्देश न होने से, अन्य विद्या में उसका निर्देश होने से तथा (त्याग और ग्रहण करने वालों में) आवश्यक भाव के अभाव से ग्रहण की प्राप्ति नहीं होती, उसका ऊत्तर देते हैं कि यह निर्णय तब ठीक होता, जब किसी अनुष्ठेय कर्म संवंधी एक श्रुति में कथन होता और उसको अन्य स्थान में लगाते; परन्तु यहां पर त्याग और ग्रहण का जो निर्देश है वह किसी को कर्तव्य रूप से नहीं किया गया है। इनका निर्देश केवल विद्या की स्तुति के निमित्त ही किया गया है। भाव यह है कि यह विद्या ऐसी महान् वैभववाली है कि इसके सामर्थ्य से संसार के कारण भूत ऐसे सुख दुखों की निवृत्ति होती है और वे इसके मित्र और द्रोही को प्राप्त होते हैं। इस स्तुति निमित्त किये हुए कथन में ग्रहण का कहीं पर त्याग ही के अन्तर्भूत कथन है, और जहां पर त्याग ही की श्रुति है वहां पर भी विद्या की स्तुति भले प्रकार से हो इसलिये ग्रहण की अनुवृत्ति लेनी ही चाहिये।

अब एक अर्थवाद का आधार लेते हुए दूसरा अर्थवाद प्रवृत्त होता है यह 'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' [छां० २।१०।५] (इस लोक से यह आदित्य लोक इक्कीसवां है) इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध है। इस स्थान पर आदित्य इक्कीसवां लोक है यह बात 'द्वादशमासाः पंचर्तवस्त्रयइमे लोका असावादित्य एकविंशः' (मास बारह है, ऋतु पांच है, ये लोक तीन हैं और आदित्य इक्कीसवां है) इत्यादि में आये हुए आगे के अर्थवाद का ग्रहण किये बिना किस प्रकार कह सकते हैं ? इसी प्रकार 'त्रिष्टुभौ भवसः सेन्द्रियत्वाय' (दो त्रिष्टुभ् छन्द इन्द्रिय सहित होने की कल्पना के

लिये है) इत्यादि में भी 'इन्द्रिय वै त्रिष्टुप्' (इन्द्रिय ही त्रिष्टुभ् छन्द है) इत्यादि दूसरे अर्थवाद का ग्रहण करना आवश्यक प्रतीत होता है। अब यह ग्रहण का निर्देश केवल विद्या की स्तुति के निमित्त होने से यहां पर एक के पाप पुण्य का ग्रहण दूसरा किस प्रकार कर सकता है ऐसा अधिक आग्रह नहीं करना चाहिये। 'उपायनशब्द शेषत्वात्' (ग्रहण का विधान त्याग के अंगभूत होने से) इस सूत्र के अंश में 'शब्द' (विधान) शब्द का प्रयोग करके त्याग में जो ग्रहण की अनुवृत्ति है वह विद्या की स्तुति के निमित्त ही है ऐसा सूत्रकार सूचित करते हैं। यदि किसी अंश में ग्रहण का निर्देश करने से उनका अभिप्राय होता तो त्याग की श्रुति में (ग्रहण के विधान की अनुवृत्ति है, ऐसा न कहते हुए) ग्रहण ही की अनुवृत्ति होती है ऐसा कहते। इसलिये, उस विधान के अंश का ग्रहण करना चाहिये या संपूर्ण का, इसका विचार करते हुए इस विधान का विद्या की स्तुति में उपसंहार होता है यह बात बताने के लिये यह सूत्र कहा है ऐसा जानना चाहिये।

कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत् (कुश, छन्द, स्तुति और गायन इत्यादि के समान) इस सूत्रांश में इसके कुछ उदाहरण दिये हुए हैं। 'कुशा वानस्पत्याःस्थ ता मा पात' (हे कुश, तुम वनस्पतियों से उत्पन्न हुए हो, तुम हमारी रक्षा करो) इस भाल्लवी शाखा के मंत्र में कुश वनस्पति के होते है ऐसा समान्य रूप से कथन है, परन्तु शाट्यायनीय शाखा के मंत्र में 'औदुम्बराःकुशा' (कुश गूलर के वृक्ष से होते हैं) ऐसा विशेष कथन है, इसलिये कुश गूलर हो के वृक्ष के लिये जाते हैं, तथा कहीं कहीं देवच्छंद और आसुरच्छंद इनमें से पहले कौनसा आता है और पीछे कौनसा आता है इसके लिये नियम नहीं दिया, परन्तु पैंगियों

के मंत्र से 'देवच्छंदांसि पूर्वाणि' (देवच्छंद पहले आते हैं) ऐसा विदित होता है। शोडशी स्तोत्र के सम्बन्ध में कुछ शाखाओं में काल का नियम नहीं कहा, परन्तु 'समयाव्युषिते सूर्य' (सूर्य उदय के समय में) इस ऋग्वेद की श्रुति से उसके काल का निर्णय होता है। वहुत शाखाओं में (ऋत्विजों के) गाने का सामान्य निर्देश है परन्तु भाल्लवीशाखा वाले अध्वर्य नहीं गाते ऐसा विषेष रूप से कथन करते हैं। जिस प्रकार इन कुश आदि के उदाहरणों में अन्य श्रुति में कहे हुए विशेष नियमों का ग्रहण होता है उसी प्रकार त्याग की श्रुति में (अन्यत्र कहे हुए) ग्रहण का अन्वय होता है यही सवका तात्पर्य है। एक श्रुति में कहा हुआ विशेष यदि अन्य श्रुति में ग्रहण न किया जायगा तो सर्वत्र ही विकल्प मानना पड़ेगा और बने वहां तक ऐसा करना ठीक नहीं। यही वात जैमिनीय सूत्र में (इनको द्वादशलक्षणी भी कहते है) 'अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् [पू० मी० १०।८।५] (वाक्य शेष से अन्य सवका निशेध होता है; क्योंकि ऐसा न मानें तो विकल्प की प्राप्ति होगी) इस सूत्र से कही है।

अथवा, ज्ञानी पुरुष सुकृत दुष्कृतों का विधूनन करता है, त्याग करता है, ऐसा प्रतिपादन करने वाली [छां० ८।१३।१] श्रुति का इस सूत्र से इस प्रकार विचार करना चाहिये–क्या इस त्याग की विधूनन श्रुति का पाप पुण्य के त्याग से अभिप्राय है अथवा इसमें और कुछ कहा गया है? यहां पर पूर्वपक्ष इस प्रकार करना चाहिये। विधूनन शब्द का अर्थ त्याग नहीं है, धू धातु कंपन के अर्थ ही में प्रसिद्ध है। वायु से जव ध्वजाओं के सिरे हिलते हैं तव 'दोधूयंते ध्वजाग्राणि' (ध्वाजाओं के अग्र भाग हिलते हैं) ऐसा कहते हैं, अर्थात् यहां पर विधूनन शब्द से

हिलने ही का निर्देश होता है। और सुकृत और दुष्कृतों के विधूनन या हिलने का अर्थ होगा उनके फलको कुछ कालरोक देना। इस पूर्वपक्ष पर इस प्रकार उत्तर देना चाहिये—विधूनन शब्द का अर्थ त्याग ही होना चाहिये, क्योंकि वह शब्द ग्रहण श्रुति के अंश में आया हुआ है। जो सुकृत दुष्कृत एक मनुष्य के पास रहे हुए हैं उनका जब तक त्याग न हो, तब तक उनका दूसरों से ग्रहण बन नहीं सकता। तद्यपि, एक के सुकृत दुष्कृत दूसरा ग्रहण करे यह ठीक रीति से संभव नहीं है, तो भी जब उसका कथन है, तब उसके अनुसार विधूनन का अर्थ त्याग ही होता है यही निर्णय कर सकते हैं। अब यह ग्रहण विधूनन यानी त्याग के संनिध कहीं कहीं पर ही कहा हुआ है तो भी, कुश, छन्द, स्तुति और गायन इन उदाहरणों के समान उसकी सर्वत्र ही आवश्यकता होने से अन्य सब श्रुतियों में उसका (त्याग का) ग्रहण करना चाहिये ऐसा निर्णय करने के लिये यह एक हेतु हो जाता है। ध्वजा के अग्रभाग के समान पुण्य पाप का हिलना उसके प्रधान अर्थ में संभव नहीं है, क्योंकि पुण्य पाप द्रव्य नहीं है। घोड़ा अपने बालों को झाड़कर उनमें रही हुई रज को दूर करता है, तब साथ साथ कुछ जीर्ण बाल भी झाड़ देता है। ब्राह्मण ग्रंथ का वाक्य भी ऐसा ही है जैसे, 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' [छां० ८।१३।१] (जैसे घोड़ा अपने बालों को झाड़ता है, वैसे मैं अपने पापों का त्याग करता हूँ)। धातुओं के अनेक अर्थ होने से स्मृति से भी (जो 'धू' धातु का अर्थ हिलना बताती है) विरोध नहीं प्राप्त होता।

'तदुक्तम्' की व्याख्या पहले की गई है (वैसी ही यहां पर समझनी चाहिये)।

१६ सांपरायाधिकरण । सू० २७–२८

सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

सांपराये देह त्याग के समय [सुकृत दुष्कृतों का त्याग करता है] **तर्तव्याभावात्** क्योंकि उसको प्राप्त करने का कुछ भी शेष नहीं रहता, **तथाहि** वैसा ही **अन्ये** अन्य शाखा वाले [कहते हैं] ।

कौषीतकी शाखा वाले पर्यंक विद्या में कहते हैं कि पर्यंक पर बैठे हुए ब्रह्मा के प्रति जाने वाला पुरुष मार्ग में ही सुकृत दुष्कृतों का त्याग करता है। 'स एतं देवयानं पंथानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' [कौषी० १।३] (वह देवयान मार्ग को प्राप्त होकर अग्नि लोक को जाता है) ऐसा उपक्रम करते हुए वह श्रुति कहती है कि 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' [कौषी० १।४] (वह फिर विरजा नदी के पास पहुंचता है और उसको मन ही से पार करता है, इसके अनन्तर वह सुकृत दुष्कृतों का त्याग करता हैं)। यहाँ पर, जैसा कि इस श्रुति में कहा है, वैसे ही मार्ग ही में वह सुकृत दुष्कृतों का त्याग करता है ऐसा समझना चाहिये अथवा पहिले ही देह से निकलने के समय उनका त्याग करता है, इसका अब विचार करते हैं:—

पूर्वपक्ष—जब श्रुति का प्रमाण है, तब जैसा श्रुति में कहा है वैसा ही मानना चाहिये ।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'सांपराये०' इत्यादि सूत्र से कहते हैं। परलोक को जाते समय यानी देह से निकलने के समय ही ज्ञान के सामर्थ्य से पुरुष के सुकृत और दुष्कृतों का त्याग

होता है ऐसा निश्चय करते हैं और इसका कारण यह है कि उसको प्राप्त करने का कुछ भी शेष नहीं रहता। जब ज्ञानी पुरुष देह का त्याग करता है और ज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त होने की इच्छा रखता है, तब उसके लिये अब बीच में सुकृत दुष्कृतों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता जिसके लिये कुछ क्षण तक वे नष्ट नहीं होते ऐसा मान लिया जाय। तथा इनके फल से विद्या का फल विरोधी होने से विद्या के सामर्थ्य ही से उनका क्षय हो जाता है और वह क्षय अर्थात् जिस समय विद्या का फल होने वाला हो उसी समय होना चाहिये। इसलिये इन सुकृत दुष्कृतों का क्षय पहिले ही होता है, श्रुति ने हो केवल पश्चात् लिखा है यही मानना पड़ेगा। अन्य शाखा वाले भी, जैसे कि ताण्डी और शाट्यायनीय पूर्व अवस्था ही में सुकृत दुष्कृतों की हानि मानते हैं, जैसे, 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' [छां० ८।१३।१] (अश्व जैसे अपने बालों को झाड़ता है यानी त्याग देता है, वैसे ही अपने पापों को दूर करते हुए) तथा 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' (उसके पुत्र उसका धन ग्रहण करते हैं, मित्र अच्छे कर्म और द्वेषीजन बुरे कर्म ग्रहण करते हैं)॥ २७॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

छन्दतः इच्छापूर्वक प्रयत्न के अभाव से **उभयाविरोधात्** दोनों में विरोध नहीं है।

यदि देह को छोड़कर देवयान मार्ग से जाने वाले पुरुष के सुष्कृत दुष्कृत आधे मार्ग ही में क्षीण हो जाते हैं ऐसा मानों तो देह पात, के अनंतर सुकृत दुष्कृतों को क्षय करने वाले यम नियम और विद्या अभ्यास रूप पुरुष प्रयत्न का अनुष्ठान

असम्भव होने से उस अनुष्ठान से जो सुकृत दुष्कृत का क्षय होता है वह भी असम्भव होगा। इसलिये पहले साधकावस्था में ही पुरुष प्रयत्न से इनका अनुष्ठान हो सकता है और उससे ही सुकृत दुष्कृत का त्याग होता है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार इनके कार्य कारण भाव की सिद्धि होती है और ताण्डी और शाट्यायनीय श्रुति के वचनों की संगति भी मिलती है ॥ २८ ॥

१७ गतेरर्थवत्त्वाधिकरण। सू० २९-३०

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

गतेः मार्ग के **अर्थवत्त्वम्** उपयोग के **उभयथा** दोनों प्रकार है, [ऐसा मानना पड़ेगा] **हि** क्योंकि **अन्यथा** ऐसा न हो तो **विरोधः** विरोध की प्राप्ति होगी।

कहीं पर पुण्य पाप के त्याग के कथन के साथ देवयान मार्ग का कथन होता है, कहीं पर नहीं होता। यहाँ पर संशय होता है कि पुण्य पाप के त्याग के पश्चात् सभी ज्ञानियों को देवयान मार्ग की प्राप्ति होती है अथवा किसी को होती है और किसी को नहीं होती।

पूर्वपक्ष—त्याग के प्रसंग में सामान्य रूप से सर्वत्र ग्रहण की अनुवृत्ति कही हुई है, वैसे ही देवयान की भी सर्वत्र अनुवृत्ति होनी चाहिये।

समाधान—देवयान मार्ग की उपयोगिता दोनों प्रकार हो सकती है, कहीं पर यह आवश्यक है और कहीं पर आवश्यक नहीं भी है, ऐसा मानना पड़ेगा, सर्वत्र उसकी आवश्यकता है ऐसा नहीं कह सकते। इसके विपरीत, यदि सामान्य रूप से सर्वत्र ही यह गति होती है ऐसा स्वीकार करें तो विरोध प्राप्त होगा।

'पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' [मुण्ड० ३।१।३] (पुण्य और पाप का त्याग कर वह असंग हुआ पुरुष परम समत्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है) इस श्रुति में जो कथन है उसके साथ ज्ञानी को अन्य देश को प्राप्त कराने वाली गति का विरोध प्राप्त होता है। शुद्ध और अविचल पुरुष अन्य देश को किस प्रकार जायगा ? यहाँ पर जो प्राप्त होने का स्थान रूप परब्रह्म है वह किसी अन्य देश में जाने ही से प्राप्त नहीं होता; इसलिये यहाँ पर (देवयान) गति निरर्थक ही है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

उपपन्न [ऊपर कहे हुए दोनों प्रकार से] युक्त होता है, **तल्लक्षणार्थोपपत्तेः** क्योंकि [पर्यंक विद्या में] उसके कारण भूत बातें मिलती हैं **लोकवत्** व्यवहार में भी ऐसा ही देखने में आता है।

कहीं पर मार्ग का उपयोग है और कहीं मार्ग निरर्थक है ऐसे दोनों प्रकार के भाव ठीक है; क्योंकि उस मार्ग के हेतुभूत बातें मिलती हैं अर्थात् सगुण उपासना रूप पर्यंक विद्या में देवयान गति के कारणभूत बातें मिलती हैं। वहाँ पर पर्यंक पर चढ़ना, पर्यंक पर बैठे हुए ब्रह्मा से संवाद करना, विशेष प्रकार का गन्ध प्राप्त होना, इत्यादि अन्य देश में जाकर ही प्राप्त होने वाले फल कहे हुए है इसलिये वहाँ मार्ग सार्थक है। परन्तु यथार्थ ज्ञान के लिये मार्ग के लिये हेतु भूत बातें उपलब्ध नहीं है। जिनको आत्मा एक है, ऐसा ज्ञान हुआ है जिनकी सब इच्छाएं पूर्ण हुई हैं, जिनके दुखों का अविद्या रूपी बीज दग्ध हुआ है, ऐसे लोगों का प्रारब्ध भोग द्वारा

कर्माशय को क्षीण करने के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती इसलिये ऐसे लोगों के लिये गति (देवयान आदि) निरर्थक है। यह भेद व्यवहार में होता है, वैसा ही समझना चाहिये। जैसे व्यवहार में देखते है कि किसी ग्राम को जाना हो तो वहां से भिन्न प्रदेश में ले जाने वाले मार्ग की आवश्यकता होती है परन्तु आरोग्य प्राप्त करने के लिये ऐसे किसी मार्ग की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही यहाँ पर समझना चाहिये। आगे इस भेद को हम चौथे अध्याय में और अच्छी तरह से सिद्ध करेंगे ॥ ३० ॥

१८ अनियमाधिकरण ।

अनियमः सर्वासामविरोधः

शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

सर्वासाम् सब [सगुण विद्याओं] में अनियमः [मार्ग के सम्बन्ध में] कोई नियम नहीं है [और ऐसा मानने से] **अविरोधः** विरोध नहीं प्राप्त होता ऐसा **शब्दानुमानाभ्याम्** श्रुति और अनुमान के प्रमाण से [विदित होता है] ।

सगुण उपासनाओं में देवयान आदि गति का उपयोग है, निर्गुण परमात्मा के ज्ञान में इसका कोई उपयोग नहीं है ऐसा कहा। सगुण विद्याओं में भी कहीं २ पर गति का कथन है, जैसे कि पर्यंक विद्या, उपकोसल विद्या, पंचाग्नि विद्या और दहर विद्या, इनमें परन्तु अन्य विद्याओं में जैसे कि मधु विद्या, शाँडिल्य विद्या, शोडशकल विद्या तथा वैश्वानर विद्या इनमें मार्ग का कथन नहीं है। यहाँ पर संशय होता है कि जिन विद्याओं में गति का कथन है नियम से उन्हीं के साथ इनका

सम्वन्ध माना जाय अथवा ऐसा नियम न मानते हुए इस प्रकार का सब ही विद्याओं के साथ गति का सम्वन्ध मान लिया जाय।

पूर्वपक्ष—जिस विद्या में गति का कथन है उससे उसका सम्बन्ध मानना चाहिये। जहाँ जैसा श्रुति का कथन है वहां वैसा ही होना चाहिये; क्योंकि वहां पर प्रकरण ही से निर्णय होना चाहिये। यदि अन्य प्रकरण में कही हुई गति का भी अन्य प्रकरण में ग्रहण होगा तो श्रुति का प्रमाण्य नष्ट होगा और सर्वत्र सब की प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। तथा अर्चिरादि एक ही गति (मार्ग) उपकोसल विद्या में और पंचाग्नि विद्या में एक ही सी कही हुई है, इसलिये यदि उसका सर्वत्र सम्बन्ध माना जाय तो वह निरर्थक पुनरुक्ति ही होगी। इसलिये जहाँ जो गति कही हो वहां वही मानना ठीक है।

समाधान—ऐसा नियम नहीं है। अभ्युदय प्राप्त कराने वाले सभी सगुण उपासकों को समान रूप से देवयान की गति होनी चाहिये। यदि कहो कि ऐसा नियम न मानने से प्रकरण विरोध का दोष प्राप्त होता है ऐसा पहले कहा है, तो उसका उत्तर यह है कि यह विरोध नहीं प्राप्त होता ऐसा शब्द और अनुमान से यानी श्रुति और स्मृति के प्रमाण से विदित होता है। श्रुति इस प्रकार है—'तद्य इत्थं विदुः' [छां० ५।१०।१] (जो ऐसा जानते हैं) इत्यादि इस वाक्य में पंचाग्नि विद्या जानने वाले देवयान मार्ग से जाते हैं ऐसा कहकर आगे 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' [छां० ५।१०।१] (और ये जो अरण्य में श्रद्धा और तप रूप से उपासना करते हैं) इस वाक्य में अन्य विद्या जानने वाले लोग भी पंचाग्नि विद्या जानने वालों के समान एक

(देवयान) मार्ग ही से जाते हैं ऐसा श्रुति सूचित करती है। यदि कोई शंका करे कि) अन्य विद्या वालों को यह गति प्राप्त होती है, ऐसा इस श्रुति से किस प्रकार जाना जाता है ? केवल श्रद्धा और तप का आचरण करने वालों को ही यह गति प्राप्त होनी चाहिये, क्योंकि केवल उन्हीं का श्रुति में निर्देश है। (इसका समाधान यह है कि) यह दोष नहीं, है क्योंकि कोई उपासना के वल से बिना केवल श्रद्धा और तप से इस गति को प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरी श्रुति स्पष्ट कहती है कि 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागतः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांस स्तपस्विनः' [श० ब्रा० १०।५।।४।१६] (जिससे इच्छाएं परावृत हुई हैं ऐसे स्थान को वे विद्या से प्राप्त होते हैं, दक्षिण मार्ग से जाने वाले लोक वहाँ नहीं जाते अथवा अविद्वान तपस्वी भी वहां नहीं जाते) इसलिये यहाँ पर श्रद्धा और तप से अन्य विद्याओं का ग्रहण करना चाहिये। वाजसनेयी लोग पंचाग्नि विद्या के प्रकरण में कहते हैं कि—'य एवमेतद्विदुर्यें चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' [बृ० ६।२।१५] (जो ऐसा जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं) इस श्रुति से 'जो श्रद्धा और सत्य रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये, क्योंकि सत्य शब्द का ब्रह्म के लिये सर्वदा प्रयोग होता है। अब इस श्रुति में पंचाग्नि विद्या जानने वाले लोगों का 'जो ऐसा जानते हैं' इस रूप से निर्देश किया हुआ होने से 'और जो अरण्य में इत्यादि से अन्य विद्या जानने वालों का ही ग्रहण करना युक्त है। तथा 'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतंगा यदिदं दन्दशूकम्' [बृ० ६।२।१६] (अब जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते

वे कीट, पतंग और ये काटने वाले जन्तु होते हैं) यह श्रुति दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट हुए लोगों को कष्टप्रद अधोगति दिखाती हुई देवयान और पितृयान मार्ग ही में इतर विद्या जानने वालों का समावेश करती है। और वहाँ भी विद्याकी विशेषता से उनको देवयान की प्राप्ति होती है (और कर्म की विशेषता से पितृयान की प्राप्ति होती है)। स्मृति भी यही कहती है— 'शुल्कक्रृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यना वृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥' [भग० गी० ८। २६] (शुक्ल और कृष्ण ऐसे दो जगत् के शाश्वत मार्ग हैं, एक मार्ग से जाने वाले फिर लौटते नहीं और दूसरे से जाने वाले फिर इस संसार को प्राप्त होते हैं)। अब उपकोसल विद्या और पंचाग्नि विद्या में देव मार्ग का दो बार कथन है वह केवल अनुचिंतन यानी ध्यान ही के लिये है। इसलिये (जिस विद्या में जो कथन है वह केवल वहीं माना जाय) ऐसा नियम नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

१९ यावदधिकाराधिकरण।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

आधिकारिकाणाम् अधिकारापन्न लोगों का **यावदधिकारम्** जब तक अधिकार है [तब तक इस शरीर में [**अवस्थितिः** स्थिति होती है।

ज्ञानियों के वर्तमान देह छूट जाने पर उनको अन्य देह की प्राप्ति होती है वा नहीं होती, इसका अब विचार करते हैं। यदि कोई कहे कि कैवल्य के साधन भूत विद्या की प्राप्ति होने पर कैवल्य की प्राप्ति होगी या नहीं इसका विचार इस सूत्र में किया है, तो यह विचार यहाँ पर संभव नहीं है; क्योंकि रसोई का सब साधन उपलब्ध होने पर भात पकेगा या नहीं इसका

विचार बन नहीं सकता और भोजन करने पर पुरुष की तृप्ति होगी वा नहीं इसका भी कोई विचार नहीं करता। परन्तु ब्रह्म-ज्ञानियों को भी अन्य देह प्राप्त होने का वर्णन इतिहास और पुराणों से मिलता है, इसलिये (देह पतन के अनन्तर ज्ञानियों को अन्य देह मिलता है वा नहीं) यह विचार युक्त होता है। कहते हैं कि वेदों के आचार्य अवांतरतम नामक एक प्राचीन काल के ऋषि विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की संधि में कृष्ण द्वैपायन रूप से उत्पन्न हुए थे। ब्रह्मा के मानस सत्नु वसिष्ठ का देह निमि के शाप से नष्ट हो गया था और ब्रह्मा की आज्ञा से सूर्य और वरुण ने उसको फिर उत्पन्न किया। भृगु आदि ब्रह्मा के मानस पुत्रों की वारुण यज्ञ में फिर से उत्पत्ति हुई है ऐसा सुनते हैं। सनत्कुमार भी ब्रह्मा ही के मानस पुत्र थे और उन्होंने रुद्र को वर दिया था इसलिये वे स्कंद रूप से अवतीर्ण हुए, इसी प्रकार दक्ष, नारद आदि के विभिन्न निमित्तों से पुनः अन्य देह की उत्पत्ति का कथन स्मृति में मिलता है। श्रुति में भी मंत्र और अर्थवाद में बहुत स्थानों पर ऐसे उदाहरण मिलते हैं। इनमें से कुछ तो पूर्व देह को त्याग कर अन्य देह को धारण करते हैं और जैसे योगी योग के ऐश्वर्य से अनेक देह धारण करता है, वैसे कुछ पूर्व देह के होते हुए ही अन्य देह धारण करते हैं। तथा इन सब को सकल वेद का तात्पर्य विदित है ऐसा प्रसिद्ध है।

पूर्वपक्ष—ऊपर कहे हुए लोगों के अन्य देह प्राप्त होते हैं, इसलिये यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म विद्या कभी तो मोक्ष का हेतु होती है और कभी नहीं भी होती।

समाधान—वैसा नहीं है। इन अवान्तरतम आदि को इस लोक की स्थिति के लिये कारण भूत ऐसे वेद का प्रचार करना

आदि अधिकार में नियुक्त किया गया है, इसलिये उनकी (शरीर में) स्थिति उस अधिकार पर आधार रखती है। जैसे 'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' [छ० ३।११।१] (पश्चात् वहाँ से ऊँचे उदय होकर वह फिर न उदय होता है न अस्त होता है, वह अकेला बीच में रहता है) इस श्रुति वचन के अनुसार जैसे यह सूर्य भगवान् सहस्त्र युगों तक जगत् पर अधिकार करके उसके समाप्त होने पर उदय अस्त से रहित ऐसे कैवल्य का अनुभव करता है, तथा जैसे वर्तमान काल के ब्रह्मवेत्ता प्रारब्ध क्षीण हो जाने पर 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्ये' [छां० ६।१४।२] (जब तक वह देह से मुक्त नहीं होता तब तक ही विलम्ब है, मुक्त होने पर तत्काल वह सत् को प्राप्त होता है) इस श्रुति के अनुसार कैवल्य पद का अनुभव करते हैं; इसी प्रकार अवांतरतम आदि भी सब ईश्वर हैं और परमेश्वर ने उनको अपने अपने अधिकारों पर नियुक्त किया है, इसलिये उनको मोक्ष के हेतु रूप सम्यक् ज्ञान होते हुए भी उनके प्रारब्ध कर्म क्षीण न होने के कारण जब तक उनका अधिकार रहता है तब तक वे बने रहते हैं और अधिकार समाप्त होने पर वे मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार इसमें कुछ विरोध नहीं है। फल देने के पहिले ही से प्रवृत हुए कर्माशय का क्षय करते हुए, जैसे कोई एक घर से दूसरे घर में जाता है वैसे ही, अपने अधिकारों का योग्य रूप से पालन करने के लिए वे एक देह से दूसरे देह में संचार करते हैं। देह और इन्द्रिय आदि की कारण सामग्री इनके स्वाधीन होने से इससे वे अन्य देह उत्पन्न करते हैं और अपनी स्मृति अबाधित रखते हुए ही उनमें क्रम से अथवा एक ही साथ सब में निवास करते हैं।

अब अन्य देह को प्राप्त होने पर उनको अपने पूर्व जन्म का स्मरण रहता है ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि वे ही ये हैं यह बात स्मृतियों में प्रसिद्ध है (अर्थात् उनका दूसरा जन्म नहीं माना है जिससे उनको पूर्व जन्म की स्मृति रहती है ऐसा कहना पड़े); जैसे सुलभा नामक ब्रह्मवादिनी जनक के साथ वाद विवाद करने की इच्छा से अपने देह को छोड़कर जनक के देह में प्रविष्ट हुई और उसके साथ वाद विवाद करने के पश्चात् अपने देह में प्रविष्ट हुई ऐसा स्मृति में प्रसिद्ध है। अब पूर्व में प्रवृत्त हुए कर्म उपयोग से क्षीण हो जाने पर यदि अन्य कर्म अन्य देह को उत्पन्न करने के लिये काम आवेंगे तो, जिनके बीज अभी दग्ध नहीं हुए ऐसे अन्य कर्म भी उसी प्रकार (अन्य देह को उत्पन्न करने में) प्रादुर्भूत होंगे और इस अवस्था में ब्रह्मविद्या से कभी मोक्ष होगी और कभी नहीं होगी ऐसी प्राप्ति होगी, ऐसी शंका युक्त नहीं है; क्योंकि ज्ञान से कर्म बीज का नाश होता है यह श्रुति और स्मृति दोनों में प्रसिद्ध है। श्रुति इस प्रकार है—'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' [मु० २।२।८] (उस कार्य कारण रूप आत्मा का दर्शन करने से उसकी हृदय ग्रंथि खुल जाती है, सर्व संशय नष्ट हो जाते हैं तथा सब कर्म क्षीण होजाते हैं) 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः' [छां० ७।२६।२] स्मृति प्राप्ति होने पर सब ग्रंथियां खुल जाती हैं) इत्यादि। स्मृति भी कहती हैं—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥' [भ० गी० ४।३७] (जैसे प्रज्वलित किया हुआ अग्नि, हे अर्जुन, सब लकड़ियों को जला कर भस्म करदेता है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है),

'बीजान्यन्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः॥' (जैसे अग्नि से भुने हुए बीज फिर नहीं ऊगते वैसे ही ज्ञान से दग्ध हुए क्लेश आत्मा को फिर प्राप्त नहीं होते), इत्यादि। अविद्या आदि क्लेश नष्ट होने पर उन क्लेशों के बीज रूप कर्माशय का एक भाग दग्ध हो जाता है और एक भाग फिर प्रादुर्भूत होता है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अग्नि में जले हुए शालि बीज (धान) का एक अंग उग उठे यह देखने में नहीं आता। परन्तु जो कर्माशय फल देने में प्रवृत हुआ है उसकी तो, जैसे छूटे हुए तीर का वेग समाप्त होने पर ही उसकी निवृत्ति होती है, वैसे अपना कार्य समाप्त होने पर ही, निवृत्ति होती है। 'तस्य तावदेव चिरम्' [छां० ६।१४।२] (उसको तब तक ही यानी देहपात तक ही विलम्ब है) इस प्रकार शरीर पात होने तक ही उसको (यानी उसके कर्माशय के नाश को) विलम्ब है ऐसा श्रुति कहती है। इसलिये जब तक अधिकार पर आरूढ हैं तब तक अधिकारियों की स्थिति होती है यह सिद्ध हुआ।

ज्ञान का फल सर्वत्र नहीं होता यह भी नहीं कह सकते। वैसे ही, 'तद्यो यो देवानाँ प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्'] बृ० १।४।१०] (देवों में जिन जिनको बोध की प्राप्ति हुई वे सब तद्रूप होगये और वैसे ही ऋषियों में और मनुष्यों में हुआ) इस प्रकार श्रुति सब किसी को समान रूप से ज्ञान द्वारा मोक्ष होती है ऐसा प्रतिपादन करती है। महर्षिगण ऐश्वर्य आदि के फलों के ज्ञान में आसक्त हुए हों और ऐश्वर्य के क्षय को देखकर विरक्त हो परमात्मज्ञान की निष्ठा से कैवल्य को प्राप्त हो जाँय इस प्रकार सब ठीक बैठता है 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते संप्रतिसंचरे।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशंति परं पदम् ॥' (जब प्रलय होता है और हिरण्यगर्भ का अन्त होता है तब जिन्होंने अपने मन विशुद्ध किये हैं ऐसे वे उस परम पद को प्राप्त होते हैं) इस स्मृति में भी यही बात कही है। तथा ज्ञान का फल मोक्ष प्रत्यक्ष होने से ज्ञान का फल प्राप्त होगा या नहीं ऐसी शंका नहीं बन सकती। स्वर्ग आदि कर्मफल प्रत्यक्ष अनुभव का विषय न होने से वे प्राप्त होंगे वा नहीं ऐसी शंका हो सकती है; परन्तु ज्ञान का फल तो अनुभव में आता है। श्रुति कहती है—'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' [बृ० ३ । ४ । १] (जो ब्रह्म सामने प्रत्यक्ष है) तथा 'तत्वमसि' [छां० ६ । ८ । ७] (वह तू है) इस श्रुति में उसका सिद्ध वस्तु के समान उपदेश किया है। 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस वाक्य का अर्थ वह तू मरने के पश्चात् हो जायगा ऐसा किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। तथा, 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च'] बृ० १ । ४ । १०] (ऐसे उसका यानी ब्रह्म का दर्शन करके वामदेव ऋषि को अनुभव हुआ कि मैं मनु हुआ था, मैं सूर्य हुआ था), इस वाक्य में यथार्थ ज्ञान का फल जो सर्वात्मत्व भाव वह ज्ञान होते ही प्राप्त होता है, ऐसा श्रुति दिखाती है। इसलिये ज्ञानी को मोक्ष सर्वदा निरपवाद रूप से प्राप्त होता है यह सिद्ध हुआ ॥ ३२ ॥

२० अक्षरध्यधिकरण।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौप-
सदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

अक्षरधियाम् तु अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध में जो ज्ञान कहा है उसका **अवरोधः** [सर्वत्र] समावेश करना चाहिये,

सामान्यतद्भावाभ्याम् क्योंकि वह ज्ञान [सर्वत्र] समान है और उसीका (यानी ब्रह्म का सर्वत्र) वर्णन है। **औपसदवत्** उपसद इष्टि के मन्त्रों के समान यह है, [तथा] **तदुक्तम्** यह बात [जैमिनीय सूत्रों में] कही हुई है।

वाजसनेयी शाखा की श्रुति है कि 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' [बृ० ३।८।८] हे गार्गि, इसीको ब्राह्मण अक्षर कहते हैं; यह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न लाल है, न चिकना है), आथर्वण शाखा की श्रुति है कि, 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' [मु० १।१।५] (अब उस परा विद्या को कहते हैं जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है। वह अक्षर देखा नहीं जाता न ग्रहण किया जा सकता है, उसको न गोत्र हैं न वर्ण है) इत्यादि। इसी प्रकार अन्यत्र भी विशेष धर्मों का निषेध करके अक्षर ब्रह्म का श्रुति में उपदेश दिया है। इन श्रुतियों में कहीं किस धर्म का निषेध किया है तो कहीं किस धर्म का, इसलिये यहाँ पर संशय होता है कि इन विशेषों का निषेध करने वाले सब ज्ञान सर्वत्र प्राप्त होते हैं अथवा कोई विभिन्न स्थानों पर पृथक् निषेध ज्ञान प्राप्त होते हैं।

पूर्वपक्ष—श्रुति भिन्न भिन्न होने से विभिन्न स्थानों पर पृथक् निषेध ज्ञान ही प्राप्त होते हैं।

समाधान—अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध जो विशेषों का निषेध ज्ञान है उन सबका सर्वत्र संग्रह करना चाहिये; क्योंकि वह (ज्ञान) सर्वत्र समान है और उसी (ब्रह्म) का सर्वत्र वर्णन है। अर्थात् धर्मों का निषेध करना यह जो ब्रह्म के प्रतिपादन

का प्रकार हैं वह सर्वत्र समान ही है तथा एक ही ब्रह्म सर्वत्र प्रतिपादित किया गया है ऐसा निश्चय होता है; इसलिये अब एक स्थान पर कहे हुए निषेध ज्ञान अन्यत्र क्यों प्राप्त न हों ? 'आनन्दादयः प्रधानस्य' [ब्र० सू० ३ । ३ । ११] इस सूत्र में इसकी व्याख्या हम पहिले कर चुके हैं। वहाँ पर विधि रूप विशेषणों का विचार किया गया था और यहाँ पर निषेध रूप, इतना ही अन्तर है। विषय का सविस्तार वर्णन करने के लिये ही इस प्रकार पृथक विचार किया गया है। 'औपसदवत्' (उपसद इष्टि के मंत्रों के समान) इस पद से दृष्टान्त कहा है। जैसे, जामदग्न्य अहीन (एक दिन से अधिक चलने वाले यज्ञ को अहीन कहते हैं) में उपसद् इष्टि पुरोडाश युक्त होती है ऐसा श्रुति का कथन है। अब पुरोडाश देने के समय 'अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्' [तां० ब्रा० २१ । १० । ११] (देवताओं का होत्र और अध्वर कर्म अग्नि से है) इत्यादि मन्त्र कहे जाते हैं; वे यद्यपि प्रथम उद्गाता के वेद में (सामवेद में) कहे हुए हैं तो भी उनको अध्वर्यु ही (जो यजुर्वेदी होता है) कहता है; क्योंकि पुरोडाश देने वाला अध्वर्यु है और मुख्य बात पर उसके अंग निर्भर रहते हैं। ऐसे ही यहाँ पर भी अक्षर के विशेषण अक्षर के ऊपर निर्भर होने से वे कहीं एक स्थान पर कहे हुए हों तो भी उनका सर्वत्र सम्बन्ध लेना चाहिये यह सूत्रकार का अभिप्राय है। यह पूर्व मीमांसा में 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेद संयोगः' [जै० सू० ३ । ३ । ८] (गुण तथा प्रधान में विरोध प्राप्त होने पर मंत्रात्मक वेद का मुख्य अध्वर्यु के साथ संयोग है) इस सूत्र से कहा गया है।।३३।।

२१ इयदधिकरण।

इयदामननात् ।। ३४ ।।

इयदामननात् इयत्ता कही हुई होने से] एक ही विद्या का निर्देश है]।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यन श्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।' [मु० ३। १। १] (समान अवस्था के और मित्र ऐसे दो पक्षी एक वृक्ष पर बैठते हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा कुछ न खाते हुए देखता है) यह मन्त्र अध्यात्म प्रकरण में आथर्वण और श्वेताश्वर इन दोनों शाखाओं में आता है। तथा, ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।'] क० ३। १] (अपने कर्मों के फल भोगने वाले तथा पुण्य के फल रूप देह में वुद्धि रूप जो उत्कृष्ट स्थान है उसमें प्रविष्ट हुए ऐसे जीव और ईश्वर धूप और छाया के सदृश है ऐसे ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं और पंचाग्नि विद्या वाले तथा त्रिणाचिकेत विद्या वाले भी ऐसा ही कहते हैं)। अब यहाँ पर संदेह होता है कि इन श्रुतियों में एक ही विद्या कही है अथवा भिन्न भिन्न विद्या कही है।

पूर्वपक्ष—यहाँ भिन्न विद्याओं का कथन है क्योंकि दोनों स्थान का कथन भिन्न है ऐसा दिखाई देता है। 'द्वा सुपर्णा' (दो पक्षी) आदि की श्रुति में एक का भोक्तृत्व वताया है और एक अभोक्ता बताया है। 'ऋतं पिबंतौ' (अपने कर्मों का फल भोगने वाले) आदि की श्रुति दोनों की भोक्ता वताती है।

इसलिये, जब यहाँ वेद्यरूप भिन्न है तब विद्या में भी भेद प्राप्त होगा।

समाधान—यहां एक ही विद्या का कथन है; क्योंकि दोनों श्रुतियों में वेद्यरूप द्वित्व की संख्या की इयत्ता से परिच्छिन्न होने से वह दोनों स्थान पर समान ही है। यदि कहो कि दोनों के रूप में भेद है यह (पूर्वपक्ष में) बताया गया है तो वह ठीक नहीं। ये दोनों मंत्र जीव के सहित ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं और किसी का नहीं। 'द्वा सुपर्णा, इत्यादि मंत्र में 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (दूसरा कुछ न खाते हुए देखता रहता है) इस प्रकार क्षुधा आदि से पर ऐसे परमात्मा का ही वर्णन है। तथा वाक्य शेष में भी 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' [मु० ३।१।२] (जब वह अनेक रीति से सेवन किये गये परमेश्वर को देखता है और उसकी महिमा को जानता है) इस प्रकार उसी परमात्मा का प्रतिपादन किया हुआ है ऐसा दिखाई देता है। परन्तु 'ऋतं पिबंतौ' (अपने कर्मों के फल भोगने वाले) इत्यादि श्रुति में भोग करने वाला जीव ही होते हुए भी क्षुधा से अतीत ऐसा परमेश्वर भी जीव के साथ रहने से भोगता है ऐसा गौण रूप से कथन किया है, क्योंकि, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' [क० २।१४] (जो धर्म से भिन्न है अधर्म से भिन्न है) इस प्रकरण का आरंभ होने से यह परमात्म संबंधी प्रकरण है और परमात्मा संबंधी यहां भी 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' [कठ० ३।२] (जो यज्ञ करने वालों के लिये सेतु है और जो अविनाशी परब्रह्म है) इस प्रकार इसका वाक्य शेष है। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि०' [ब्र० सू० १।२।११] इस सूत्र में यह बात अधिक विस्तार से

कही है। इसलिये यहाँ पर वेद्य वस्तु भिन्न भिन्न न होने से विद्या भी भिन्न नहीं है, एक ही है। इतना ही नहीं इन तीनों उपनिषदों के वाक्यों के पूर्वापर सम्बन्ध देखने से इनमें परमात्मा का ज्ञान ही कहा हुआ है ऐसा निश्चय है। जीव का जो वर्णन इसमें किया गया है वह जीव ईश्वर के अभेद को लेकर है, जीव कोई भिन्न पदार्थ है ऐसा प्रतिपादन करने के लिये नहीं। और परमात्मा के सम्बन्ध में विद्या एक है अथवा अनेक है यह विचार ही उपस्थिति नहीं होता यह हम पहिले ही कह चुके हैं और यह सूत्र उसी का अधिक विस्तार से वर्णन करने के लिए है। इसलिये जहाँ जो धर्म रहे हैं उनसे अधिक (अर्थात् अन्यत्र कहे हुए) धर्मों का वहां पर संग्रह करना चाहिये यह सिद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

२२ अन्तराधिकरण । सू० ३५-३६

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

भूतग्रामवत् पंच भूतों के समूह के समान **स्वात्मनः** अपना आत्मा (सब के) **अन्तरा** भीतर है (ऐसा कथन होने से विद्या एक ही है]

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' [बृ० ३।४।१, ३।५।१] (जो प्रत्यक्ष है परोक्ष नहीं है वह ब्रह्म है, जो आत्मा सब के भीतर है) ऐसा वाजसनेयी शाखा की श्रुति में उषस्त और कहोल के प्रश्न में एक ही स्थान पर दो बार आता है। यहाँ पर संदेह होता है कि वह एक ही विद्या का कथन है अथवा विभिन्न विद्याओं का।

पूर्वपक्ष—यहां पर विभिन्न विद्याओं का कथन है क्योंकि दुबारा कहने से ही यह बात सिद्ध होती है। नहीं तो प्रथम

कहे हुए से दुवारा कहे हुए में कुछ भी न्यूनाधिक न हो तो दुवारा कहना ही निरर्थक हो जायगा। इसलिये जैसे द्विरुक्ति होने से दो भिन्न कर्म माने जाते हैं वैसे यहाँ भी द्विरुक्ति होने से विद्या भी भिन्न हैं ऐसा मानना पड़ेगा।

समाधान—अपना आत्मा (सव के) भीतर है, यह वात दोनों स्थानों पर समान रूप से कही गई है, इसलिये विद्या एक ही है। सवके भीतर जो अपना ही आत्मा रहा हुआ है उसी के सम्वन्ध में दोनों स्थान पर प्रश्न पूछा गया है और उसी का वहां उत्तर दिया गया है। सव के भीतर रहने वाले दो आत्मा एक ही शरीर में नहीं रह सकते। उनमें से एक आत्मा सवके भीतर रहता है यह मानना युक्त है, परन्तु दूसरा तो पंच भूतों के समान सव के भीतर है ऐसा नहीं कह सकते। जैसे पंचभूतों के समूह में जल पृथ्वी के भीतर है और तेज जल के भीतर है और इस प्रकार यद्यपि एक एक भूत अन्य की अपेक्षा से उसके भीतर है ऐसा कह सकते हैं तो भी वह निरपेक्ष रूप से सव के भीतर है ऐसा नहीं कह सकते। वैसे ही यहाँ पर समझना चाहिये। अथवा सूत्र में 'भूतग्रामवत्' (पंच भूतों के समूह के समान) इस पद से अन्य श्रुति का दृष्टान्त दिया है ऐसे ससझना चाहिये; जैसे, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' [श्वे० ६।११] (सव भूतों में गुप्त रहा हुआ सर्व व्यापक और सव भूतों के अन्तरात्मा रूप से रहा हुआ ऐसा एक देव है) इस मंत्र में सव भूत प्राणियों में एक ही आत्मा रहा हुआ है ऐसा प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार इन प्रस्तुत ब्राह्मण मन्त्रों को समझना चाहिये। इसलिये यहाँ वेद पदार्थ एक होने से विद्या भी एक ही है ऐसा सिद्ध हुआ॥ ३५॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अन्यथा अन्य प्रकार से **भेदानुपपत्तिः** भेद कथन यानी भेद की सिद्धि नहीं होती **इति चेत्** ऐसा यदि कहो तो **न** वह ठीक नहीं; **उपदेशान्तरवत्** श्रुति के अन्य उपदेश के समान ही यह है [ऐसे समझना चाहिये]।

अब [पूर्वपक्ष में] जो कहा था कि यदि दोनों स्थान पर विभिन्न विद्याओं का कथन नहीं है, ऐसा माने तो दो बार वही बात कहना उपपन्न नहीं होता इस बात का परिहार करना चाहिए। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह दोष नहीं है; क्योंकि अन्यत्र जैसा उपदेश है उसी प्रकार यह है ऐसा कह सकते हैं। जैसे तांडी शाखा के उपनिषत् के छठे प्रपाठक में 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छां० ६।७।१] (हे श्वेतकेतो, यह आत्मा है वही तू है) इस प्रकार नौ बार उपदेश करने पर भी इतनी विभिन्न विद्यायें वहां पर नहीं होतीं वैसे ही यहां पर भी होगा। नौ बार ऐसा ही कहते हुए विभिन्न विद्याओं का वर्णन वहाँ पर नहीं किया यह कैसे जाना जाता है? प्रकरण के उपक्रम और उपसंहार को देखकर उसमें एक ही विद्या कही हुई ऐसा निश्चय होता है। 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' [छाँ० ६।५।४] (हे भगवन्, मुझे फिर ब्रह्म का उपदेश दीजिये) इस श्रुति से विदित होता है कि एक ही विषय को बार २ प्रतिपादन करने के अभिप्राय से बार बार कहा गया है। विभिन्न आशंकाओं का निराकरण करने के लिये बार बार उपदेश दिया जाय यह ठीक ही है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रश्न का स्वरूप एक ही होने से तथा 'अतोऽन्यदार्तम्' [बृ० ३।४।२] (इससे जो अन्य है वह विनाशी है) इस प्रकार उस प्रक-

रण की समाप्ति भी समान होने से उपक्रम और उपसंहार दोनों एक ही विषय के हैं ऐसा विदित होता है। 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' [बृ० ३।५।१] (वह ही प्रत्यक्ष और अपरोक्ष ब्रह्म है) इस प्रकार दूसरे प्रश्न में 'ही' शब्द का प्रयोग करके श्रुति पूर्व प्रश्न में आये हुए विषय का दूसरे प्रश्न से सम्बन्ध दिखाती है। पूर्व ब्राह्मण में कार्य कारण रहित आत्मा के अस्तित्व का वर्णन है और उत्तर ब्राह्मण में वही संसार धर्मों से अतीत है ऐसा कथन है। इस प्रकार एक ही विषय का यहाँ प्रतिपादन है, ऐसा सिद्ध होता है; इसलिये यहाँ एक ही विद्या का कथन है ॥ ३६ ॥

२३ व्यतिहाराधिकरण।

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

इतरवत् इतर [गुणों] के समान [यह उपासना का] **व्यतिहारः** परस्पर अनुवर्तन होता है **हि** क्योंकि [दोनों शाखा वालों का] **विंशिषंति** विशेष प्रकार का विधान है।

जैसे 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' [ऐ० आ० २।२४।६] (जो मैं हूं सो वह है और जो वह है मो मैं हूं) इस प्रकार आदित्य में रहे हुए पुरुष के लिये ऐतरेयी लोग कहते हैं, तथा जाबाल शाखा के लोग, 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' (हे भगवन् देवते, तू ही मैं हूं और मैं ही तू है) ऐसा कहते हैं। अब यहाँ पर संशय होता है कि क्या यहाँ पर दोनों स्थान पर परस्पर भाव से उपासना होती है अथवा एक रूपता से।

पूर्वपक्ष—एक रूपता से ही उपासना करनी चाहिये क्योंकि यहाँ ईश्वर के साथ आत्मा की एकता के भाव को छोड़ और

किसी का चिन्तवन नहीं करना है। यदि यहाँ पर चिन्तवन करने के लिये किसी विशेष गुण की कल्पना की जाय तो संसारियों को ईश्वरत्व और ईश्वर को संसारित्व प्राप्त होगा। ऐसा मानने में संसारियों को ईश्वर प्राप्त होना तो उनका उत्कर्ष है परन्तु ईश्वर को संसारित्व प्राप्त होने में तो उसकी अवनति होगी। इसलिये दोनों की एकात्मता दृढ़ होने के लिये ही यह कथन है। श्रुति ने जो परस्पर भाव को कथन किया है वह इस एकात्मता को दृढ़ करने के लिये ही किया गया है।

समाधान—यह परस्पर भाव का कथन श्रुति ने ध्यान के लिये कहा है, जैसे इतर गुणों का ध्यान के लिये कथन किया गया है। जैसे इतर सर्वात्मत्व आदि गुण ध्यान के निमित्त श्रुति में कहे हैं वैसे ही यह जानना चाहिये। दोनों शाखा के लोग 'तू मैं है और मैं तू हूं' इस प्रकार दोनों प्रकार से उच्चारण करके विशेष प्रकार का कथन करते हैं और वह दो प्रकार की उपासना अभिप्रेत हो तब ही सार्थक हो सकते हैं; अन्यथा विशेष रूप दोनों प्रकार का कथन व्यर्थ होगा, क्योंकि एक ही कथन से प्रयोजन निकल सकता था। यदि कहो कि दोनों प्रकार के विधानों में विशेष प्रकार की उपासनाएं कही हैं ऐसा मानने से देवता को संसारित्व की प्राप्ति होने से उसको हीनता प्राप्त होगी तो यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि इस प्रकार से जीव और ईश्वर के ऐक्य ही का ध्यान किया जाता है। यदि कहो कि ऐसा मानने में जो जीव और ईश्वर के ऐक्यता को दृढ़ करने मात्र का इसका प्रयोजन [पूर्वपक्ष में] बताया था वही प्राप्त होता है तो हम उस ऐक्य के दृढीकरण का निषेध नहीं करते, परस्पर दोनों प्रकार से ऐसी उपासना करनी चाहिये, केवल एक ही प्रकार से

नहीं, यही हमारे प्रतिपादन का लक्ष्य है और इसके फल स्वरूप दोनों की एकता का भाव ही दृढ़ होता है। जैसे ध्यान के लिये ईश्वर सत्यकाम हैं इत्यादि प्रकार से श्रुति उसके गुणों का उपदेश करती है, परन्तु इस ध्यान से सत्यकाम वाले ईश्वर ही की सिद्धि होती है वैसे ही यह जानना चाहिये। इसलिये ध्यान करने के लिये परस्पर दोनों प्रकार के भाव ग्रहण करने चाहिये तथा इसी विषय के अन्य प्रकरण में (जहाँ दूसरे भाव का कथन न हो वहां भी) उसका संग्रह करना चाहिये ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ३७ ॥

२४ सत्याद्यधिकरण ।

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

सा [दोनों स्थान पर] वह **एव** ही [विद्या कही है] **हि** इसलिये **सत्यादयः** सत्य आदि गुणों का [अन्यत्र भी संग्रह करना चाहिये]।

'स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' [बृ० ५।४।१] (जो ऐसे महान्, पूजनीय और प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्म को जानता है) इत्यादि से वाजसनेयक उपनिषत् में नाम के अक्षरों के साथ उपासना कहकर पश्चात् कहा है कि 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मन्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष:' [बृ० ५।५।२] (वह जो सत्य है वही यह आदित्य है, वही इस मंडल में रहने वाला पुरुष है और वही इस दाहिनी आँख में दीखने वाला पुरुष है) इत्यादि। यहाँ पर संदेह होता है कि यहाँ पर दो सत्य विद्याएं कहीं है अथवा एक।

पूर्वपक्ष—दो विद्याओं का कथन ही प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों का विभिन्न फलों के साथ सम्बन्ध होता है। पहिले 'जयतीमांल्लोकान्' [बृ० ५।४।१] (वह इन लोकों को जीतता है) इस वाक्य से और पीछे 'हन्ति पाप्मानं जहाति 'च [बृ० ५।५।३।४] (वह पापों का नाश करता है तथा उनको त्याग देता है) ऐसा कहा है। अब यहाँ पर पूर्व के वस्तु का परामर्श उपास्य एक होने से किया गया है।

समाधान—यहाँ पर एक ही सत्य विद्या का कथन है, क्योंकि 'तद्यत्तत्सत्यम्' [बृ० ५।५।२] (वह जो सत्य है) इस प्रकार पूर्व की ही वस्तु का आगे निर्देश किया है। यदि कहो कि दो विद्या होते हुए भी उपास्य एक होने से पूर्व के वस्तु का आगे निर्देश बन सकता है ऐसा [पूर्वपक्ष में] कह चुके हैं तो वह ठीक नहीं है। जहाँ पर विष्पष्ट कारणों से विभिन्न विद्याओं का ज्ञान होता है वहां ऐसा हो सकता है परन्तु यहाँ तो दोनों प्रकार सम्भव होने से 'तद्यत्तत्सत्यम्' (वह जो सत्य है) इस प्रकार पूर्व कहे हुए वस्तु का निर्देश होने से पूर्व विद्या में कहे हुए सत्य ही का आगे कथन है, इसलिये यहाँ एक ही विद्या का निश्चय होता है। अब जो (पूर्वपक्ष में) कहा था कि फल भिन्न होने से विद्या भी भिन्न है उसका उत्तर देते हैं। 'तस्योपनिषदः अहरहम्' (उसके अहः और अहं ये उपनिषत् यानी गुप्त नाम हैं) इस प्रकार जो इस बिद्या का एक विशेष अंग कहा है उसकी प्रशंसा के लिये दूसरे फल की श्रुति है इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है। विद्या का फल यदि अर्थवाद द्वारा ही मानना हो तो यद्यपि विद्या एक हो और उसके अंगों के भिन्नाभिन्न फल कहे हुए हों तो भी वे सब उस विद्या ही के कहे जाते हैं। इसलिये एक ही

सत्य विद्या विभिन्न विशेषणों से यहाँ पर कही हुई होने से सत्य आदि सब गुणों का एक ही ध्यान में (यानी विद्या) में संग्रह करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है।

कोई कोई यहाँ पर आदित्य मंडल में रहे हुए और आंख में रहे हुए पुरुष का कथन करने वाला (ऊपर दिया हुआ) बृहदारण्यक उपनिषत् का वाक्य तथा छांदोग्य उपनिषत् में से 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' [छां० १।६।६] (अब जो यह आदित्य मण्ड़ल में सुवर्णमय पुरुष दीखता है) यह वाक्य तथा 'अथ य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' [छां० ४।१५।१] (अब यह जो आंख में पुरुष दीखता है) यह वाक्य, इनको ग्रहण करके दोनों स्थान पर आँख के और आदित्य मण्डल के पुरुष के संबंध में एक ही विद्या का कथन है ऐसा निश्चय करके सत्य आदि जो गुण वाजसनेयक उपनिषत् में कहे हुए हैं उनका छांदोग्य शाखा वालों को ग्रहण करना चाहिये। ऐसा कहते हैं परन्तु वह ठीक नहीं दीखता; क्योंकि छांदोग्य उपनिषत् में ज्योतिष्टोम कर्म से संबंध रखती हुई उद्गीथ विद्या कही है ऐसा दिखाई देता है। उसके आरम्भ में, मध्य में तथा अन्त में कर्म संबंधी चिह्न भी हैं। 'इयमेवर्गग्निः साम' [छां० १।६।१] (यही ऋक् है और अग्नि साम है) ऐसा आरम्भ में है, 'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' [छां० १।६।८] (ऋक् और साम उसके गायक हैं इसलिये वह उग्दीथ है) ऐसा मध्य में और 'य एवं विद्वान्साम गायति' [छां० १।७।६] (जो विद्वान् इस प्रकार साम गायन करता है) ऐसा अन्त में कहा है। वाजसनेयक में इस प्रकार कर्म का कोई चिह्न नहीं है इसलिये वहां उपक्रम भिन्न होने से विद्या भी भिन्न है तथा

गुणों का भी परस्पर संग्रह नहीं किया जाता ऐसा मानना ही युक्त है ॥ ३८ ॥

२५ कामाद्याधिकाराधिकरण ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

आयतनादिभ्यः स्थान आदि (के साम्य) से **कामादि** [सत्य] कामत्व आदि [गुणों का] **इतरत्र** इतर स्थानों में **च** और] इतर स्थान के गुणों का] **तत्र** वहाँ [संग्रह करना चाहिये] ।

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'] छां० ८ । १ । १] (अब जो यह ब्रह्मपुर में कमल के सदृश छोटा सा महल है और उसके भीतर जो आकाश है) ऐसा आरभ करते हुए छांदोगशाखा वाले कहते हैं कि 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः'] छां० ८ । १ । ५] (यह आत्मा पाप रहित, जरा मृत्यु रहित, शोक रहित, क्षुधा तृष्णा रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है) इत्यादि, और वाजसनेयी शाखा के लोग कहते हैं कि 'स वा एष महानज आत्मा योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' [बृ० ४ । ४ । २२] (वही यह व्यापक अजन्मा है जो प्राणों में विज्ञानमय है, जो यह हृदय के भीतर आकाश है उसमें वह सबका स्वामी विश्रान्ति लेता है) इत्यादि ।

यहां पर दोनों स्थलों पर एक ही विद्या का कथन है और परस्पर विद्याओं में गुणों का संग्रह होता है वा नहीं ऐसा संदेह होने पर यदि विद्या एक ही है और गुणों का संग्रह परस्पर विद्याओं में होना चाहिये ऐसा कोई समझे तो उसके लिये यह

सूत्र कहते हैं। सूत्रस्थ कामादि शब्द सत्यकाम के स्थान में प्रयोजित किये हैं, जैसे देवदत्त को दत्त और सत्यभामा को भामा कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषत् में हृदयाकाश के सत्यकाम आदि गुण लिखे हैं उनका 'इतरत्र' यानी बृहदारण्य में 'स वा एष महानज आत्मा' [बृ० ४ । ४ । २२] (वही यह व्यापक और अजन्मा आत्मा है) इत्यादि श्रुति के साथ संवंध लगाना चाहिये क्योंकि दोनों स्थान पर समान रूप से स्थान आदि का कथन है। दोनों स्थलों पर 'हृदय' यह एक ही स्थान निर्दिष्ट है और दोनों स्थलों पर एक ईश्वर ही को वेद्य रूप से कहा है तथा लोकों में मत भेद न हो इसलिये ईश्वर को सेतु कहा है यह वात भी दोनों में समान ही है। यदि कहो कि दोनों में विषमता भी दिखाई देती है, छांदोग्य में हृदयाकाश के गुण कहे हैं और बृहदारण्यक में आकाश के आधार भूत ब्रह्म के गुण कहे हैं, तो वह ठीक नहीं। 'दहर उत्तरेभ्यः' [ब्र० सू० १।३।१४] इस सूत्र में छाँदोग्य उपनिषत् में भी आकाश शब्द का भी ब्रह्म ही अर्थ है ऐसा सिद्ध किया गया है। और यहाँ पर दोनों ही विद्या भिन्न हैं, वह भिन्नता इस प्रकार है—छांदोग्य में सगुण ब्रह्म की विद्या कही है, 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्'] छां० ८ । १ । ६] (अव आत्मा को और उसके सत्यकामों को जानकर जो यहाँ से जाता है) इस वाक्य में आत्मा के साथ उसके कामों का भी ज्ञेय रूप से प्रतिपादन किया गया है। परन्तु वाजसनेयक में तो निर्गुण ब्रह्म ही का उपदेश है, ऐसा 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' [बृ०४।३।१४] (इसके आगे मोक्ष प्राप्ति के लिये उपदेश कीजिये) 'असंगो ह्ययं पुरुषः'] बृ० ४ । ३ । १५] (यह पुरुष असंग है) इत्यादि प्रश्नोत्तरों के तात्पर्य से विदित होता है, वशि-

त्वादि गुण तो केवल उसकी प्रशंसा के निमित्त ही वाजसनेयक में दिये गये हैं। तथा आगे 'स एष नेति नेत्यात्मा' [बृ० ३।६।२६] (वह ही यह ऐसा नहीं ऐसा नहीं इस प्रकार आत्मा निषेध रूप से वर्णन किया हुआ आत्मा है) इत्यादि से निर्गुण ही प्रकरण का उपसंहार किया गया है। अब सगुण और निर्गुण ब्रह्म एक होने से सूत्र में जो गुणों का संग्रह करने के लिये कहा है वह उसकी विभूति दिखाने के लिये है, उपासना के लिये नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

२६ आदराधिकरण। सू० ४०-४१

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

अलोपः [प्राणाग्निहोत्र का] लोप नहीं होता **आदरात्** क्योंकि [श्रुति का इनके लिये] आदर है।

छांदोग्य उपनिषत् में वैश्वानर विद्या के प्रकरण में कहा है कि 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा' [छां० ५। १६। १] (जो अन्न प्रथम प्राप्त होगा वह होम के लिये है; जो आहुति प्रथम दी जाय वह 'प्राणाय स्वाहा' कह कर देनी चाहिये) इत्यादि। वहाँ पांच प्राणाहुतियों का विधान है और इसके पश्चात् 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' [छां० २। २४। २] (जो इसको ऐसा जानकर अग्निहोत्र करता है), तथा 'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवं सर्वाणिभूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥' [छां० ५। २४। ५] (जैसे भूख लगने पर बालक माता के पास जाते हैं वैसे ही सब भूत प्राणी अग्नि होत्र का आश्रय करते हैं) इन श्रुतियों में अग्निहोत्र शब्द का प्रयोग किया है। यहां पर विचार करना है कि क्या भोजन के अभाव में प्राणाग्नि होत्र का अभाव होता है या नहीं।

पूर्वपक्ष—'तद्भक्तम्०' (जो अन्न इत्यादि) वाक्य में अन्न की प्राप्ति का होम के साथ संबंध बताया गया है और अन्न की प्राप्ति भोजन के लिये ही होने से भोजन का अभाव प्राप्त होने पर प्राणाग्नि होत्र का भी लोप ही प्राप्त होता है; (ऐसा कोई कहे तो कहते हैं कि) प्राणाग्नि होत्र का लोप नहीं होता; क्योंकि श्रुति ने उसके लिये आदर दिखाया है। वैश्वानर विद्या के प्रकरण में जावाल शाखा की स्मृति इस प्रकार है—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्। यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' (वह अतिथियों के पहिले भोजन करे अन्यथा स्वयं अग्नि होत्र न करते हुए वह दूसरे का अग्नि होत्र करता है ऐसा होगा)। इस प्रकार प्रथम अतिथि को भोजन कराने की निन्दा करके स्वामी के प्रथम भोजन करने की विधि बताते हुए श्रुति प्राणाग्नि होत्र के लिये आदर दिखाती है। जो श्रुति अग्निहोत्र का पीछे से होना भी सहन नहीं करती वह प्रथम होने वाले अग्निहोत्र ही का लोप स्वल्प भी न सहन करे यह योग्य ही है ऐसा हमारा मत है। यदि कहो कि भोजन के लिये अन्न की प्राप्ति के साथ होम का सम्बन्ध होने से भोजन का लोप होने पर अग्निहोत्र का भी लोप हो जायगा ऐसा भी तो कहा गया था परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि यह वाक्य होम के द्रव्य विशेष का विधान करने के लिये है। व्यवहार में साधारणतया अग्निहोत्र के लिये दूध आदि द्रव्यों की आवश्यकता होती है और यहाँ पर भी 'अग्निहोत्र' शब्द ही का प्रयोग होने से सामान्य अग्निहोत्र के सब अंग, कौंडपायी लोगों के अयन यज्ञ के समान, यहाँ पर भी प्राप्त हो जांयगे इसलिये यहाँ पर अन्न ही एक द्रव्य है ऐसे विशेष अंग का विधान करने के लिये 'तद्यद्भक्तम्०' (वह जो अन्न इत्यादि) वाक्य दिया गया है।

इसलिये क्रिया के अंग का लोप होने से मुख्य क्रिया का लोप नहीं होता ऐसा प्राप्त हुआ अर्थात् भोजन न करना हो तो जल से अथवा इसी प्रकार अन्य किसी अनुकूल द्रव्य से उसको भोजन के स्थान पर ग्रहण करते हुए प्राणाग्नि होत्र का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४० ॥

इस पूर्वपक्ष का आगे के सूत्र से उत्तर देते हैं—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

उपस्थिते [भोजन] उपस्थित हो तब **अतः** उसी से [प्राणाग्नि होत्र करना चाहिये] **तद्वचनात्** क्योंकि वैसी श्रुति है।

भोजन प्राप्त होने पर उसी से यानी जो भोजन द्रव्य प्राप्त हो उस द्रव्य से प्राणाग्नि होत्र करना चाहिये, क्योंकि श्रुति का वैसा ही कथन है। श्रुति कहती है 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' [छां० ५।१९।१] (जो अन्न प्रथम प्राप्त होता होगा उसी से होम करना चाहिये) इस वाक्य में अन्न का सिद्ध वस्तु रूप से प्रतिपादन किया हुआ होने से (भोजन रूप) अन्य कार्य में उपयोगी ऐसे द्रव्य ही से प्राणाहुति देना चाहिये ऐसा श्रुति विधान करती है। अब यदि आहुतियाँ प्रयोजन रहित हों तो भोजन के लोप के प्रसंग में उसके स्थान पर अन्य द्रव्यों से काम लेने के लिये किस प्रकार विधान हो सकता है ? और न यहाँ साधारण अग्निहोत्र के धर्म से अभिप्राय ही है। कुंडपायी शाखा वालों के अयन यज्ञ में 'मासमग्निहोत्रंजुहोति' (एक मास वह अग्निहोत्र करे) ऐसा जो विधान है उसमें यह अग्निहोत्र शब्द आया हुआ होने से

वहाँ साधारण अग्निहोत्र के सदृश ही अग्निहोत्र करने का विधि कहा हुआ है ऐसा कह सकते हैं और इसलिये वहाँ साधारण अग्निहोत्र के अंग प्राप्त हों यह युक्त ही है। परन्तु यहाँ अग्निहोत्र शब्द अर्थवाद वाक्य में आया हुआ है, इसलिये यहाँ पर साधारण अग्निहोत्र के समान अग्निहोत्र करने का विधि कहा है ऐसा नहीं कह सकते और यदि यहां साधारण अग्निहोत्र के धर्म भी प्राप्त होते हैं ऐसा मानें तो अग्नि का उद्धरण (प्रदीप्त करना) आदि धर्म की भी यहाँ प्राप्ति होगी परन्तु इस धर्म का तो यहाँ संभव ही नहीं है। अग्नि का उद्धरण होम का आधार है और यहाँ पर अग्नि में होम करने का नहीं है क्योंकि इससे तो ये आहुतियां भोजन के अंगभूत हैं यह भाव ही निवृत्त हो जाता है। भोजन के लिये प्राप्त द्रव्य के साथ उन आहुतियों का संबंध है इसलिये यह होम मुख ही में होता है। जाबाल श्रुति इसीलिये अतिथि के पहिले भोजन करें ऐसा कहकर यह होम मुख ही में करने का है ऐसा प्रदर्शित करती है। इसलिये यहा भी अग्निहोत्र के अंग काल्पनिक ही हैं, ऐसा 'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं मनोऽन्वाहार्यवचन आस्यमाहवनीय,' [छां० ५।१८।२] (छाती ही वेदी हैं, केश दर्भ है, हृदय गार्हपत्य हैं, मन अन्वाहार्य और मुख आहवनीय अग्नि है) इस वाक्य में श्रुति दर्शाती है। वाक्य में वेदी शब्द स्थंडिल यानी कुंड के अर्थ में है क्योंकि मुख्य अग्निहोत्र में वेदी नहीं होती और मुख्य अग्निहोत्र की भावना ही यहाँ पर अभिप्रेत है। नियत कालिक भोजन के साथ प्राणाग्निहोत्र का संबंध होने से मुख्य अग्निहोत्र के काल के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। इसी प्रकार उपस्थान आदि कुछ अन्य अंग भी प्राणाग्निहोत्र में पूर्ण रूप

से नहीं मिलते। इसलिये मंत्र द्रव्य और देवता इनके साथ ये पाँच होम भोजन उपस्थित होने पर ही करने के हैं ऐसा सिद्ध हुआ। अब आदर सूचक श्रुति जो ऊपर दी गई है वह भोजन उपस्थित होने पर स्वामी प्रथम भोजन करे ऐसा विधान करने के लिये है, इस श्रुति का इससे अधिक भाव नहीं है अर्थात् इससे प्राणाग्नि होत्र नित्य करना चाहिये ऐसा नहीं प्रतिपादन कर सकते। इसलिये भोजन के अभाव में अग्निहोत्र का लोप ही प्राप्त होता है॥ ४१॥

२७ तन्निर्धारणाधिकरण।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

तन्निर्धारणानियमः उन [कर्मांगों] के निर्धारण का [कर्मों से] नियम पूर्वक संबंध नहीं है **तद्दृष्टेः** क्योंकि वैसा देखने में आता है **हि** तथा [ऐसी विद्याओं का] **अप्रतिबन्धः** प्रतिबन्ध न होना यह **पृथक्** अलग **फलम्** फल है।

कर्मों के अगंभूत ऐसी कुछ विद्याएं [उपनिषदों में] मिलती हैं, जैसे, 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [छां० १।१।१] (ॐ यह अक्षर उद्गीथ है उसकी उपासना करे) इत्यादि। यहाँ पर विचार करते हैं कि उन विद्याओं का जो कर्म से संबंध है वह पर्णमयत्व आदि के समान नित्य है अथवा गो दोहन आदि के समान अनित्य है।

पूर्वपक्ष—वह संबंध नित्य ही है क्योंकि यज्ञ प्रयोग के जो वचन है उनका इनमें समावेश है। यद्यपि ये उपासनाएं किसी विशिष्ट यज्ञ प्रकरण को आरंभ करते हुए नहीं कही गई हैं,

तो भी उद्‌गीथ आदि से इनका यज्ञ के साथ संबंध होने से यज्ञ प्रयोग के वचनों ही से उनका अन्य अंगों के समान समावेश होता है। अब इन उपासनाओं के आपयिताह वै कामानां भवति' [छां० १।१।७] (उसको सब इच्छाएं अवश्य पूर्ण होती है) इत्यादि फल उनही विद्याओं के प्रकरण में कहे हुए हैं तो भी जिन वाक्यों में इन फलों का निर्देश है वे सब वर्तमान काल वाचक होने से ये वाक्य केवल अर्थवाद रूप हैं, उनका 'निर्दोष शब्द सुनना' आदि कहने वाले श्रुति वचन के सदृश फल कहने में तात्पर्य नहीं। इसलिये जैसे 'यस्यपर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिसकी जुहू यानी चिम्मच पर्णमय होती है वह दोष युक्त शब्द नहीं सुनता) इत्यादि बातें किसी विशिष्ट प्रकरण में नहीं कही हैं तो भी उनका जुहू आदि से यज्ञ में समावेश होने से किसी विशिष्ट प्रकरण में कही हुई हों ऐसा ही उनका यज्ञ के साथ नित्य संबंध होता है। इसी प्रकार उपासनाओं का भी यज्ञ से नित्य संबंध है।

समाधान—उद्‌गीथ आदि कर्मांगों के स्वरूप जो श्रुति ने निर्धारण किये हैं, जैसे उद्‌गीथ सब का सार है इच्छा पूर्ण करने वाला है समृद्धि देने वाला है मुख्य प्राण और आदित्य है इत्यादि, इनका कर्मों से नित्य संबंध नहीं बन सकता क्योंकि वैसा ही देखने में आता है। इन कर्मांगों का कर्मों से अनित्य संबंध है ऐसा श्रुति कथन करती है जैसे, 'तेनोभौ कुरुतो यश्चै-तदेवं वेद यश्च न वेद' [छां० १ । १ । १०] (इसलिये जो यह ऐसा जानता है और जो ऐसा नहीं जानता दोनों कर्म करते हैं)। इस वाक्य में इस कर्मांग का ज्ञान न होने वालों को भी श्रुति कर्म की आज्ञा देती है। इसी प्रकार जिनको प्रस्ताव

आदि के देवताओं का ज्ञान नहीं है ऐसे प्रस्तोता आदि ऋत्विजों से भी लोग यज्ञ कराते हैं ऐसा श्रुति ने निश्चय किया है जैसे, 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि' [छां० १ । १० । ९] (हे प्रस्तोता जिस देवता का प्रस्ताव से संबंध है उसको न जानते हुए यदि तू अपना कर्म करेगा), 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि'] छां १ । १० । १० [(उसको न जानते हुए यदि तू गान करेगा) और 'तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि' [छां० १ । १० । ११ (उसको न जानते हुए यदि तू प्रतिहरण करेगा) ।

कर्मों के आश्रय से रही हुई विद्याओं का उन कर्मों के फलों से भिन्न फल ही होता है । वह फल है कर्मफल की प्राप्ति में प्रतिवन्ध का अभाव अर्थात् कर्मफल की समृद्धि यानी कर्मफल का एक विशेष प्रकार का उत्कर्ष, जैसे, 'तेनोभौकुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नानातु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ॥'] छां० १ । १ । १०] (इसलिये जो यह ऐसा जानता है और जो नहीं जानता, ये दोनों कर्म करते हैं, परन्तु विद्या और अविद्या भिन्न हैं । विद्या, श्रद्धा और उपासना इनसे युक्त जो कर्म किया जाता है वह अधिक बलवान् होता है) । इस वाक्य में ज्ञानी मनुष्य और अज्ञानी मनुष्य दोनों के कर्म भिन्न हैं, ऐसा कहा हुआ होने से और 'वीर्यवत्तरं (अधिक बलवान्) इसमें 'तर' (अधिक) इस शब्द का प्रयोग होने से विद्या रहित कर्म भी कुछ अंश में प्रवल होता है ऐसा निश्चय होता है । अब यह वात विद्या का कर्म से अनित्य संबंध हो तब ही युक्त होती है । यदि विद्या का कर्म से नित्य सम्बन्ध हो तो विद्या रहित कर्म प्रवल होता है ऐसा कैसे मान सकते हैं ? क्योंकि यह सिद्धांत है कि

कर्म सर्वांग पूर्ण होता है, तब ही वह प्रबल होता है। ऐसा ही, जिन उपासनाओं में साम में लोक आदि की भावना की जाती है उनमें से प्रत्येक का पृथक् फल 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' [छां० २ । २ । ३] (इसको ऊपर के और नीचे के लोक फल देने में समर्थ होते हैं) इत्यादि वाक्य से कहे हैं। अब श्रुति के किये हुए ये फल के विधान केवल अर्थवाद रूप हैं ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने से यह गुण-वाद है ऐसा प्राप्त होगा (जिन वाक्यों से फल का कथन होता है और वह फल वास्तव में प्राप्त होना सम्भव नहीं होता तब उन वाक्यों को गुणवाद कहते हैं)। परन्तु इनका फल कहने ही से तात्पर्य है ऐसा माने तब वे मुख्यवाद रूप है यही प्राप्त होता है। प्रयाज आदि के सम्बन्ध में जिसमें कुछ नियमित कार्य करना आवश्यक है ऐसे यज्ञ का प्रकरण चला हुआ होने से वे प्रयाज उन यज्ञों के लिये हैं इसलिये जिन वाक्यों में इन प्रयाजों के फल का कथन है वे केवल अर्थवाद रूप हैं। यही बात किसी विशिष्ट प्रकरण का आरम्भ न करते हुए कहे हुए पर्णमयत्व आदि अङ्गों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। पर्णमयत्व आदि क्रियास्वरूप न होने से आश्रय के विना उनका फलों से सम्बन्ध नहीं बन सकता। अब जो दोहन (दूध दोहने का पात्र) आदि वस्तुओं में जल ले जाना आदि प्रकृत क्रियाओं का आश्रय मिलता है (यज्ञ में जो पानी लाने का होता है वह जिसको पशु की इच्छा हो वह गोदोहन यानी गाय दोहने के पात्र में लावे ऐसी विधि है इसका यज्ञ से अनित्य सम्बन्ध है क्योंकि जिसको पशु की इच्छा न हो वह गोदोहन में पानी नहीं लाता), इसलिये उनके लिए फल के जो विधान हैं वे युक्त ही हैं। इसी प्रकार विल्वमयत्व आदि को

भी यूप आदि प्रकृत पदार्थों का आश्रय मिलता है (अन्न आदि की इच्छा करने वाला बिल्व का यूप करे ऐसा यज्ञ प्रकरण में एक वाक्य है), इसलिये उनके फल का विधान मिलता है वह भी ठीक है परन्तु प्रकरण में पर्णमयत्व आदि पदार्थों को ऐसा कोई भी आश्रय नहीं मिलता। यदि इसी वाक्य में पर्णमयत्व का जुहु आश्रय है यह भी कहने का प्रयोजन है तथा फल कहने से भी अभिप्राय है ऐसा कहे तो वाक्य भेद नामक दोप (एक ही वाक्य के दो अभिप्राय मानना) प्राप्त होगा। अब उद्गीथ आदि के सम्बन्धी जो उपासनाएँ नहीं हैं वे क्रिया स्वरूप होने से उनकी विशेष विधि बन सकती है इसलिये इन उपासनाओं के फल का विधान करने में कोई विरोध नहीं प्राप्त होता। इसलिये जैसे गोदोहन आदि पदार्थ यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं तो भी उनके साथ स्वतंत्र फल का सम्बन्ध कहा है इसलिये उनका यज्ञ से अनित्य सम्बन्ध है, वैसे ही उग्दीथ आदि से संबंध रखने वाली उपासनाओं का भी कर्म से अनित्य संबंध है ऐसे समझना चाहिये। इसी हेतु से कल्पसूत्रकार ऐसी उपासनाओं का समावेश कर्म में नहीं करते ॥ ४२ ॥

२८ प्रदानाधिकरण।

प्रदानवदेव तदुक्तम ॥ ४३ ॥

प्रदानवत् [पुरोडाश के] प्रदान के समान **एव** ही यह है, **तद्** यह बात **उक्तम्** [जैमिनी ने] कही है।

वाजसनेयक में 'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे [बृ० १।५।२१] (मैं बोलती रहूंगी ऐसा वाणी ने निश्चय किया) इत्यादि श्रुति में वाक् आदि आध्यात्मिक पदार्थों में प्राण

श्रेष्ठ है तथा अग्नि आदि आधिदैविक पदार्थों में वायु श्रेष्ठ है ऐसा निश्चय किया है। तथा, छांदोग्य उपनिषत् में 'वायुर्वाव संवर्ग:' [छां० ४।३।१] (वायु ही संहार कर्ता है) इस वाक्य में अग्नि आदि आधिदैविक पदार्थों का वायु संहार करता है और 'प्राणो वाव संवर्ग:' [छां० ४।३।२] (प्राण ही संहार कर्ता है) इस वाक्य में वाक् आदि आध्यात्मिक पदार्थों का प्राण संहार कर्ता है ऐसा निश्चय किया है। अब यहाँ संशय होता है कि इन वायु और प्राण की पृथक् उपासना करनी चाहिये अथवा अभिन्न रूप से उपसना करनी चाहिये।

पूर्वपक्ष—अभिन्न रूप से उपासना करनी चाहिये क्योंकि दोनों तत्त्व से एक ही हैं, स्वरूप अभिन्न होने पर उनका भिन्न रूप से चिन्तवन करना ठीक नहीं है। श्रुति इन दोनों की आध्यात्मिक और आधिदैविक भाव से तात्त्विक अभिन्नता दिखती है; जैसे, :अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' [ऐ० २।४] (अग्निवाणी वनकर मुख में प्रक्ष्टि हुआ) इत्यादि। तथा, 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनंताः' [बृ० १।५।१३] (ऐसे ये सब एक से हैं सब अनंत है) इस प्रकार यह श्रुति आध्यात्मिक प्राणों के आत्म भूत ही आधिदैविक विभूतियाँ हैं ऐसा दिखाती है। अन्य स्थलों पर भी प्रसंग वश आध्यात्मिक और आधिदैविक पदार्थो की तत्त्व से अभिन्नता है ऐसा दिखाया गया है और कहीं पर तो 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु है इस प्रकार स्पष्टरूपेण प्राण और वायु की एकता प्रतिपादित की है। वैसे ही ऊपर उद्धृत किये हुए वाजसनेयी ब्राह्मण के अन्त में 'यतश्चोदेति सूर्यः [बृ० १।५।२३] (जहाँ से सूर्य उदय होता है) इत्यादि जो मन्त्र दिया है उसमें 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति'] बृ० १।५।२३]

(प्राण में से यह उदय होता है और प्राण ही में अस्त होता है) इस प्रकार अन्त में प्राण ही का निर्देश करके प्राण और वायु एक ही हैं ऐसा श्रुति दिखाती है। तथा, 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च' [बृ० १ । ५ । २३] (इसलिये वह एक ही व्रत करे अर्थात् प्राण और अपान का व्यापार करे) इस प्रकार एक ही प्राण व्रत का अन्त में निर्देश करके श्रुति उपर्युक्त बात ही को दृढ़ करती है। छान्दोग्य उपनिषत् में भी आगे 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' [छां० ४ । ३ । ६] (जगत् के पालक प्रजापति देव ने चार इन्द्रिय रूप महात्माओं का संहार किया) इस वाक्य में संहारकर्ता एक ही है ऐसा श्रुति सूचित करती है। एक चार का संहारकर्ता एक है और दूसरे चार का संहारकर्ता दूसरा है ऐसा नहीं कहती। इसलिये उपासना एक रूप से होती है, ऐसा प्राप्त होता है।

समाधान—वायु और प्राण इनकी पृथक् ही उपासना करनी चाहिये क्योंकि दोनों का पृथक् कथन है। यह आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप से पृथक् उपदेश ध्यान के लिये किया गया है और यदि वह पृथक् ध्यान ही न होगा तो निरर्थक हो जायगा। यदि कहो कि (पूर्वपक्ष में) कहा तो है कि ये दोनों तत्व से अभिन्न होने से इनका भिन्न रूप से चिन्तवन नहीं बन सकता तो इसमें कोई दोष नहीं है। तत्व से अभिन्न होते हुए भी अवस्था भेद के कारण भिन्न रूप से उपदेश भी होता है और उसके अनुसार भिन्न रूप से अनुचिन्तवन भी होता है। अब ऊपर जिस मन्त्र की चर्चा की गई है, उसका अभिप्राय दोनों पदार्थों के अभेद में भी निकल सकता है तो भी प्रथम कहे हुए उपास्य पदार्थों के भेद का निराकरण करने का उसमें सामर्थ्य नहीं है।

'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः' [बृ० १ । ५ । २२] (जैसा यह प्राणों में प्राण है वैसा ही यह इन देवताओं में वायु है) इस श्रुति में वायु और प्राण इनमें उपमेय उपमान भाव कहा है। इससे प्राण व्रत का (ऊपर निर्देश किया गया है उसका) भीं व्याख्यान हुआ ऐसे समझना चाहिये। 'एकमेव व्रतम्' [बृ० १ । ५ । २३] (एक ही व्रत) इस वाक्य में 'एव' (ही) का प्रयोग वाक् आदि व्रतों का त्याग करके प्राण का व्रत करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करने के लिये किया गया है, क्योंकि अब वाणी आदि के व्रत भंग हो गये हैं ऐसा 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' [बृ० १ । ५ । २१] (उनको श्रम रूप होकर मृत्यु ने घेर लिया) इस श्रुति में कहा है, परन्तु वह 'एव' शब्द वायु व्रत की निवृत्ति नहीं करता; क्योंकि 'अथातो व्रतमीमांसा' [बृ० १ । ५ । २१] (अब यहाँ से व्रतों का विचार करते हैं) इस प्रकार प्रारंभ करके वायु और प्राण इन दोनों के व्रत एक ही से अखंड रहने चाहिये, ऐसा आगे श्रुति ने निश्चित किया है। 'एकमेव व्रतं चरेत्' [बृ० १ । ५ । २३] (एक ही व्रत करे) ऐसा कह कर 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति']बृ० १।२।२३] (उससे उस देवता के साथ सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है) इस प्रकार वायु को प्राप्त होना यह फल कह कर वायु का व्रत निवृत्त नहीं होता ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है। यहां देवता वायु ही हो सकता है क्योंकि उपासक को अपरिच्छिन्न स्वरूप की प्राप्ति अभीष्ट है। पहले भी 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' [बृ० १ । ५ । २२] (जो वायु है वही यह कभी नष्ट न होने वाली देवता है) इस वाक्य में वायु को देवता कहा है तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः

प्राणेषु' [छां० ४ । ३ । ४] (ऐसे ये दोनों संहारकर्ता हैं, देवों में वायु और प्राणों में प्राण) इस प्रकार दोनों को भिन्न रूप से कहकर 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' [छां० ४ । ३ । ८] (ऐसे ये पांच और ये पांच ऐसे दस हैं; ये ही कृत यानी सब से अधिक हैं) इस प्रकार भिन्न रूप से ही उपसंहार किया है। इसलिये भिन्न रूप से ही उनको उपासना करनी चाहिये।

पुरोडाश के प्रदान के समान इसको समझना चाहिये जैसे, 'इंद्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराजे' [तै० सं० २ । ३ । ६] (इन्द्र राजा को ग्यारह कपालों पर पुरोडाश देना चाहिये और वैसे ही इन्द्र रूप अधि-राजा को और इन्द्ररूप स्वराजा को देना चाहिये) इस वाक्य में जो त्रिपुरोडाश इष्टि कही है उसमें सब देवों को हविर्भाग पहुँचाने वाला होता पुरोडाश व्यर्थ न जाँय इसलिये उनको एक साथ ग्रहण करता है ऐसा कहा हुआ होने से और इन्द्र एक ही होने से ये तीनों पुरोडाश एक साथ देने के होते हैं ऐसी शंका प्राप्त होने पर, राजत्व आदि गुण भिन्न होने से तथा याज्या (यज्ञ कर, ऐसा अध्वर्यु की आज्ञा होने पर होता जो मन्त्र पढ़कर हवि देता है) तथा अनुवाक्या (मन्त्र कह ऐसी अध्वर्यु की आज्ञा होने पर होता जो मन्त्र पढ़ता है) इनका हेर फेर से कथन होने से तथा श्रुति के कथनानुसार ही देवता पृथक् हैं, इसलिये पुरोडाश पृथक् ही दिये जाते हैं ऐसा कथन है; वैसे ही वायु और प्राण का एक ही स्वरूप होते हुए भी उनका उपास्य अंश पृथक् होने से उपासना भी पृथक् ही है यह अभिप्राय है। यही बात संकर्ष काण्ड में 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' (देवता भिन्न हैं क्योंकि उनका पृथक् ज्ञान होता है) इस वाक्य से कही

है। अत्र जैसे यहाँ द्रव्य और देवता भिन्न होने से योग भी भिन्न हैं, वैसे यहां विद्या भिन्न नहीं है क्योंकि उपक्रम और उपसंहार से आध्यात्मिक और आधिदैविक पदार्थों को कहते हुए विद्या एक ही है ऐसा प्रतीत होता है। अब जैसे अग्निहोत्र में सायं-काल और प्रातःकाल के भेद से भिन्न प्रवृत्ति होती है वैसे ही यहाँ विद्या एक होते हुए भी आध्यात्मिक और आधिदैविक पदार्थ भिन्न होने से भिन्न प्रवृत्ति बन सकती है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार 'प्रदानवत्' [पुरोडाश के [प्रदान के समान यह है ऐसा कहते हैं ॥ ४३ ॥

२९ लिंगभूयस्त्वाधिकरण। सू० ४४-५२

लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

लिंगभूयस्त्वात् अनेक लिंग (चिह्न) होने के कारण [ये अग्नि विद्यात्मक है] **हि** क्योंकि **तत्** वह (लिंग) **बलीयः** [प्रकरण से] बलवान् है **तद्** यह **अपि** भी [जैमिनी ने कहा है]।

वाजसनेयी शाखा के अग्नि रहस्य में 'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' (यह पहले कभी सत् नहीं था) ऐसा कहा है इसी ब्राह्मण में मन के सम्बन्ध में कहा है—'तत्षट् त्रिंशत्सहस्राण्य-पश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' (उसने अपने पूजनीय, मनोमय और मन के बने हुये, छत्तीस हजार अग्नि देखे) इत्यादि। वैसे ही आगे, 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चतः श्रोत्रचितः' (कर्मचितोऽग्निचितः' (वाणी से बने हुए, प्राण से बने हुए, चक्षु से बने हुए, श्रोत्र से बने हुए, कर्म से बने हुए और अग्नि से बने हुए) इस

वाक्य में वे अनेक काल्पनिक अग्नि का निर्देश करते हैं। यहाँ पर संशय होता है कि ये 'मन के बने हुये' आदि क्रिया से सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् उस क्रिया के अंगभूत हैं अथवा केवल विद्यात्मक यानी स्वतन्त्र हैं।

पूर्वपक्ष—प्रकरण को देखते हुए ये अग्नि क्रिया से सम्बन्ध रखते हैं ऐसा प्रतीत होता है।

समाधान—ये अग्नि स्वतन्त्र हैं; क्योंकि इसके अनेक चिह्न है। ये अग्नि केवल विद्यात्मक हैं इस बात को पुष्ट करने वाले अनेक चिह्न इस ब्राह्मण में आये हैं। जैसे, 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' (जिन जिन बातों का ये सब भूत प्राणी मन में संकल्प करते हैं वे इन अग्नि ही की कृति हैं), 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्त्वन्त्यपि स्वपते' (जो ऐसे जानता है वह सोता है तो भी उसके लिये सब भूत सर्वदा इन अग्नियों की रचना करते हैं) इत्यादि। अब प्रकरणासे लिंग (चिह्न) बलवान् होते हैं, यह बात पूर्व मीमांसा में ही 'श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य-मर्थविप्रकर्षात्' [जै० सू० ३। ३। १३] (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये सब एकत्र प्राप्त होने पर पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर दुर्बल होते हैं क्योंकि स्वार्थ का बोध कराने में पूर्व के व्यवधान के साथ उत्तर प्रवृत्त होते हैं) इस सूत्र से कही गई है ॥ ४४ ॥

पूर्व विकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ४५

प्रकरणात् प्रकरण से [प्रतीत होता है कि] **पूर्व विकल्पः** पूर्व [अग्नि] का ही यह एक प्रकार **स्यात्** हो

सकता है, **क्रिया** [और ये अग्नि] क्रिया [के अंगभूत हैं] **मानसवत्** मानस [सोमपात्र] के समान यह है।

पूर्वपक्ष—ये अग्नि स्वतन्त्र हैं, किसी के अंगभूत नहीं हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। प्रकरण को देखते हुए ऐसा निश्चय होता है कि पहिले जो क्रिया स्वरूप अग्नि कहा है उसीका यह एक प्रकार है, यह कोई स्वतन्त्र अग्नि नहीं है। यदि कहो कि प्रकरण से लिंग वलवान् है तो वह ठीक है, परन्तु लिंगों में भी ऊपर का सा लिंग प्रकरण से वलवान् नहीं होता; क्योंकि जिस वाक्य में इस लिंग का कथन है वह वाक्य काल्पनिक अग्नि की प्रशंसा के लिये है। इसलिये वह अन्य किसी अर्थ के प्रतिपादन के लिये है (यानी अर्थवाद रूप है) और अन्य अर्थ की प्राप्ति न हो तो गुणवाद से उसकी सिद्धि भले ही हो परन्तु वह प्रकरण का वाध करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलियें यद्यपि ये अग्नि काल्पनिक हैं तो भी प्रकरण के अनुसार उनका क्रिया ही से सम्वन्ध है ऐसा समझना चाहिये। मानस (पात्र विशेष) के समान इसको समझना चाहिये। जैसे, द्वादशाह यज्ञ के अविवाक्य नामक (इस दिन सब कर्म मानसिक होता है इसलिये बहुत से वाक्य यानी मंत्र उस दिन उच्चारण नहीं किये जाते इसलिए इस दिन को अविवाक्य कहते हैं) दसवें दिन पृथ्वी रूप पात्र में प्रजापति रूप देवता के लिये समुद्र रूप सोम लिया जाता है। उस समुद्र रूप सोमके संबंधमें, सोमपात्र का ग्रहण करना (सोम ले लेने के पश्चात्) उसको उसके स्थान पर रख देना, सोम का होम करना शेष भाग ग्रहण करना, सबको बुलाना और सोमपान करना आदि सब क्रियाएं मानसिक ही बताई गई है। अब यद्यपि यह विशिष्ट पात्र मानसिक

ही है तो भी क्रिया का प्रकरण चला हुआ होने से वह पात्र उस क्रिया के अंग भूत ही है। इसी प्रकार ये विशेष प्रकार के अग्नि भी क्रिया के अंगभूत ही हैं यह सूत्र का तात्पर्य है ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अतिदेशात् अतिदेश होने से **च** भी [इन अग्नियों का क्रिया के साथ संबंध है]।

इन अग्नियों का क्रियाओं के साथ संबंध है वह आगे दिये हुए अतिदेश से भी दृढ़ीभूत होता है, 'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' (ये छत्तीस हजार अग्नि पूजनीय हैं, इनमें से प्रत्येक अग्नि पूर्वकथित इसके यानी कर्मांग भूत अग्नि के समान है)। जहां सादृश्य होता है वहीं अतिदेश होता है। इसलिये पहिले ईंटों से चिना हुआ और इसलिये क्रिया से संबंध रखने वाला जो अग्नि है उसका काल्पनिक अग्नि के साथ अतिदेश किया हुआ होने से ये अग्नि क्रिया से संबंध रखते हैं, ऐसा ऊपर की श्रुति दिखाती है ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तु परन्तु [ये अग्नि **विद्या** विद्यात्मक **एव** ही हैं **निर्धाणात्** क्योंकि [श्रुति ऐसा ही] निर्धारण करती है।

सूत्रस्थ 'तु' (परन्तु) शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण सूचित करता है। ये मन के रचे हुए आदि अग्नि स्वतंत्र ही हैं यानी विद्यात्मक ही हैं वे क्रिया के अंग भूत नहीं हैं। क्योंकि श्रुति इसका ऐसा ही निश्चय करती है जैसे, 'ते हैते विद्याचित एव'

[ऐसे ये अग्नि विद्या ही के वने हुए हैं] तथा, 'विद्यया हैवैते एवंविदश्चिता भवन्ति' (जो ऐसा जानता है उसके लिये ये अग्नि विद्या ही से वनते हैं) ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दर्शनात् [लिंगों के] दिखाई देने से **च** भी [इन अग्नियों के स्वतंत्र होने की सिद्धि होती है] ।

इन अग्नियों के स्वतंत्र होने में लिंग (चिन्ह) भी श्रुति में मिलते हैं यह पहिले ही 'लिंगभूयस्त्वात्' [ब्र० सू० ३।३।४४] इस सूत्र में दिखा चुके हैं ॥ ४८ ॥

यदि कोई कहे कि अन्यार्थ की सिद्धि न हो तो लिंग भी किसी अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकता, इसलिये उसका त्याग करके प्रकरण के सामर्थ्य से ये अग्नि क्रिया के अंग भूत है, ऐसा निश्चय किया गया है। तो उसका उत्तर देते हैं—

श्रुत्यादि बलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

च परन्तु **श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्** श्रुति आदि वलवान होने से [ये अग्नि स्वतंत्र हैं इस पक्ष का] **बाधः** बाध **न** नहीं होता ।

इस प्रकार प्रकरण के सामर्थ्य से इन अग्नियों को क्रियाओं के अंग भूत मान कर वे स्वतंत्र हैं इस पक्ष का वाध नहीं करना चाहिये, क्योंकि श्रुति आदि प्रमाण अधिक वलवान होते हैं। श्रुति, लिंग और वाक्य ये प्रमाण प्रकरण से अधिक वलवान हैं ऐसा 'श्रुति लिंग०' [पू० मी० सू० ३।३।१४] इस सूत्र में सिद्ध किया है। ये प्रमाण इनकी स्वतंत्रता के पक्ष को सिद्ध करते हैं ऐसा दिखाई देता है। प्रथम श्रुति

प्रमाण देते हैं—'ते हैते विद्याचित एव' (ऐसे ये अग्नि विद्या से रचे हुए ही हैं), लिंग यह है—'सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' (वह सोया हुआ है तो भी उसके लिये सब भूत इस अग्नि की रचना करते हैं) तथा वाक्य यह है—'विद्यया हैवैत एवं विदश्चिता भवन्ति' (ऐसा जो जानता है उसके लिये ये अग्नि विद्या ही से रचे जाते हैं)। अब 'विद्याचित एव' (विद्या ही से रचे हुए) ऐसी जो निश्चय रूप श्रुति है वह इन अग्नियों का क्रिया से संबंध है ऐसा मानने से बाधित हो जायगी। यदि कहो कि श्रुति का यह निश्चयात्मक प्रतिपादन उन अग्नियों के लिये किसी साधन की आवश्यकता नहीं है इस अभिप्राय से है ऐसा बन सकता है, तो कहते हैं ऐसा नहीं हो सकता। यह अभिप्राय तो 'विद्याचितः' (विद्या के रचे हुए हैं) इस प्रकार जो अग्नि का स्वरूप कहा है इसीसे स्पष्ट होता है इसलिये वह निश्चयात्मक निर्देश व्यर्थ ही हो जायगा; क्योंकि बाह्य साधनों की अपेक्षा न होना यही इन अग्नियों का स्वरूप है यद्यपि इन अग्नियों को बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं है तो भी मानसिक पात्रों के समान उनका क्रिया के साथ संबंध होगा ऐसी शंका को दूर करने के लिये ही वह अवधारण किया गया है ऐसा मानने से वह अवधारण सार्थक होगा। वैसे ही, 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' (जो ऐसा जानता है वह सोया हो वा जागता हो, उसके लिये सब भूत इन अग्नियों की रचना करते हैं) ऐसा जो सातत्य का निर्देश है वह इन अग्नियों को स्वतंत्र मानने ही से युक्त होता है। जैसे वाचामय और प्राणमय काल्पनिक अग्निहोत्र के सम्बन्ध में 'प्राणं तदा वाचि जुहोति—वाचं तदा प्राणे जुहोति' [कौषी० २।५] (तब वह वाणी में प्राण का हवन करता

है, तव वह प्राण में वाणी का हवन करता है) ऐसा कहकर आगे कहा है 'एते अनंते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' [कौषी० २।५] (ये अनंत और अमृत ऐसी आहुतियां वह सोते और जागते सर्व काल दिया करता है) वैसे ही यह समझना चाहिये । यदि इनको क्रिया के अंगभूत माना जाय तो क्रिया का प्रयोग अल्पकाल ही रहने से इसका सर्वदा हवन करते रहता नहीं वन सकेगा । यह केवल अर्थवाद है ऐसा कहना भी ठीक नहीं जहां अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिंगादि विधायक प्रमाण मिलते हों वहां केवल निर्देश के कथन को अर्थवाद कहना वन सकता है, परन्तु यहाँ पर अत्यन्त स्पष्ट ऐसा अन्य विधायक वाक्य उपलब्ध न होने से केवल संकीर्तन के वाक्य ही से इन अग्नियों के ज्ञान का यहां विधान किया है ऐसा मानना पड़ता है और वह भी जैसा वहां पर है वैसा ही मानने योग्य है इसलिये ये अग्नि स्वतन्त्र हैं यही वात सिद्ध होती है । इसीसे 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' (ये सव भूत प्राणी जिन जिन वातों का संकल्प करते है वह सब इन्हीं का काम है) इस श्रुति का भी व्याख्यान हो जाता है । वैसे ही 'एवंविदे' (जो ऐसा जानता है) यह वाक्य भी इन अग्नियों का विशिष्ट पुरुष से सम्वन्ध वताता है, इसलिये इससे इनका किसी यज्ञ से सम्वन्ध है ऐसा नहीं मान सकते । इसलिये ये अग्नि स्वतन्त्र हैं यह पक्ष ही अधिक वलवान है ऐसा सिद्ध हुआ ।। ४९ ।।

अनुबंधादिभ्यः प्रज्ञान्तर-

पृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम ।। ५० ।।

अनुबंधादिभ्यः सम्बन्ध आदि से [अग्नि स्वतन्त्र हैं

ऐसा ज्ञात होता है] **प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्** अन्य पृथक् विद्याओं के समान [ही यह हैं] **च** और **दृष्टः** [ऐसी अन्य बातें भी प्रकरण से निकलती हैं ऐसा] दिखाई देता है। तद् यह बात **उक्तम** जैमिनी ने कही है।

और इसलिये भी प्रकरण का निरादर करते हुए मन से रचे हुए आदि अग्नि स्वतन्त्र ही हैं ऐसा समझना चाहिये कि, 'उन अग्नियों की मन ही से स्थापना करे, मन ही से ईंटें रचे, मन ही से पात्र ग्रहण करे, मन ही से स्तवन करे, मन ही से मन्त्र पढ़े तथा इसी प्रकार और जो कुछ कर्म इस यज्ञ में किया जाय वह सब कर्म मनोमय हो, मन ही से रचे हुए मनोमय अग्नि में मन ही से करे'; इस प्रकार मन आदि के व्यापारों के साथ क्रिया के अवयवों का संबंध श्रुति लगाती है। अब यह जो मन आदि का क्रिया से संबंध लगाया गया है वह भावना ही के लिये किया गया है। यदि क्रिया के अंग प्रत्यक्ष होते तो उनको कल्पना से प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अब उग्दीथ आदि की उपासना के सदृश इस उपासना का भी क्रिया से संबंध होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि दोनों श्रुतियाँ भिन्न प्रकार की हैं। इस श्रुति में क्रिया का कोई अंश लेकर उस पर यह अमुक है ऐसी भावना करने के लिये नहीं कहा गया है परन्तु छत्तीस हजार विभिन्न मनो व्यापारों को ग्रहण करते हुए, जैसे (अन्य स्थलों पर) पुरुष में यज्ञ आदि की भावना की है वैसे उन मनो व्यापारों में अग्नियों के स्वरूप की और पात्र आदि की श्रुति भावना करती है। अब श्रुति में जो छत्तीस हजार की संख्या बताई गई है वह पुरुष की आयु के दिनों

की है ऐसा दिखाई देता है इसलिये उनका उसकी मनोवृत्तियों में आरोप किया गया है ऐसे जानना चाहिये। इसलिये इस सम्बन्ध से भी 'मन के' रचे हुए आदि अग्नि स्वतन्त्र ही हैं ऐसा सिद्ध होता है।

सूत्र में जो 'आदि शब्द है उससे अतिदेश आदि प्रमाणों का यथासम्भव ग्रहण करना चाहिये; जैसे, 'तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' (उनमें प्रत्येक अग्नि उतना ही है जितना यह पहले का अग्नि है) यह श्रुति क्रियामय अग्नि के माहात्म्य का प्रत्येक ज्ञानमय अग्नि में अतिदेश करके क्रिया के लिये अनादर दिखाती है। यदि इस अग्नि का क्रिया के साथ संबंध होता तो भी इस अग्नि का पूर्व के अग्नि से विकल्प होगा ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आहवनीय अग्नि को धारण करना आदि जिन व्यापारों से पहिले का अग्नि क्रिया में उपयोगी होता है उस व्यापार से यह दूसरा अग्नि उपयोगी नहीं सिद्ध होता। अब जो पूर्वपक्ष में कहा है कि सादृश्य होने ही से अतिदेश बन सकता है इसलिये यह अतिदेश उस पक्ष की ही पुष्टि करता है, उसका उत्तर यह है कि हमारे मत में अग्नित्व का दोनों स्थान पर सादृश्य होने से हमारे मत में भी अतिदेश बन सकता है, क्योंकि काल्पनिक अग्नि में भी अग्नित्व तो है ही। तथा श्रुति आदि के प्रमाण भी हमने ऊपर दिये हैं। इस प्रकार संबंध आदि कारणों से मन में रचे हुए आदि अग्नि स्वतन्त्र हैं ऐसा सिद्ध हुआ।

अन्य पृथक् विद्याओं के समान यह है। जैसे शांडिल्य आदि अन्य विद्या अपने संबंध से युक्त होने से कर्मों से तथा अन्य विद्याओं से पृथक् हैं यानी स्वतन्त्र हैं, वैसा ही यह जानो।

इसीलिये राजसूय प्रकरण में कही हुई अवेष्टि नामक इष्टि उस प्रकरण से पृथक् की गई है ऐसा दिखाई देता है; क्योंकि उस इष्टि का संबंध तीनों वर्णों से है और राजसूय यज्ञ केवल क्षत्रियों का ही हैं। यह बात पूर्व मीमांसा में 'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रय संयोगात्' [जै० सू० ११।४।७] (राजसूय में आई हुई होने से अवेष्टि इष्टि स्वतंत्र किस प्रकार होगी ऐसी शंका कोई करे तो वह ठीक नहीं; क्योंकि इसका तीनों वर्णों के साथ संबंध हैं) ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

सामान्यात् समानता होने से **अपि** भी [इन अग्नियों का क्रिया से संबंध] **न** नहीं मान सकते, **उपलब्धेः** क्योंकि [वे पुरुष के उपयोगी हैं ऐसा] उपलब्ध होता है। **मृत्युवत्** यह मृत्यु के समान है **हि** और **लोकापत्तिः** लोक [ये अग्नि हैं ऐसी प्राप्ति] **न** नहीं है।

पूर्वपक्ष में जो कहा था कि 'मानस (पात्र विशेष) के समान यह है, उसका अब उत्तर देते हैं—मानस पात्र के सादृश्य से भी मन से रचे हुए आदि अग्नि क्रिया के अंग हैं ऐसा मान नहीं सकते; क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति आदि प्रमाणों से ये अग्नि केवल पुरुष के लिये हैं ऐसा प्रतीत होता है। किसी का किसी से किंचित् भी सादृश्य न हो यह संभव नहीं है, तो भी इससे उसकी अन्य के साथ जो विषमता है वह निवृत नहीं होती। मृत्यु के समान इसको समझना चाहिये। जैसे 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः'

[श० ब्रा० १०।५।२।३] (जो यह इस मंडल में पुरुष है वह यह मृत्यु है) तथा 'अग्निर्वै मृत्युः' [बृ० ३।२।१०] (अग्नि ही मृत्यु है) इन वाक्यों में अग्नि और आदित्य मंडल का पुरुष दोनों के लिये यद्यपि समान रूप से मृत्यु शब्द का प्रयोग किया है तो भी उन दोनों में अत्यंत साम्य है ऐसा नहीं प्राप्त होता। और जैसे, 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' [छां० ५।४।१] (हे गौतम, यह लोक ही अग्नि है और उसकी आदित्य ही समिधा है) इस वाक्य में समिधा आदि का जो साम्य बताया है उससे लोक को अग्नि का स्वरूप नहीं प्राप्त होता; वैसे ही यह समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्ये
भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

च और **परेण** आगे के [ब्राह्मण] से **शब्दस्य** श्रुति का **ताद्विध्ये** उस [विद्या] का विधि कहने से अभिप्राय है [ऐसा विदित होता है । अग्नि के अवयव] **भुयस्त्वात्** बहुत होने से **तु** ही [विद्या का अग्नि से] **अनुबंधः** संबंध दिखाया है।

आगे 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' (यह लोक ही एक रचा हुआ अग्नि है) इस दूसरे ब्राह्मण में भी श्रुति का अभिप्राय उसका यानी विद्या का विधि बताने से है, केवल कर्मों के अंगों का विधि कहने का नहीं, ऐसा प्रतीत होता है। उस ब्राह्मण में 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥' (जहाँ सब

इच्छाएं परावृत होती हैं, वहाँ वे विद्या से प्राप्त होते हैं, कर्म करने वाले लोग वहाँ नहीं जाते, न अज्ञानी तपस्वी भी वहाँ जाते हैं) ऐसा जो वाक्य हैं उसमें कर्म की निन्दा और ज्ञान की प्रशंसा करते हुए यही बात श्रुति निर्दिष्ट करती है। वैसे ही, 'यदेतन्मण्डल तपति' [श० ब्रा० १०।५।२।२३] (जो यह मण्डल तपता है) इस पूर्व के ब्राह्मण में भी विद्या ही प्रधान है ऐसा दिखाई देता है, क्योंकि 'सोऽमृतो भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति' (वह अमृत होता है क्योंकि मृत्यु उसका आत्मा होता है) इस वाक्य में विद्या का फल कहते हुए ही उपसंहार किया हुआ है। इसलिये इस श्रुति में कर्म प्रधान नही है ऐसा सूचित होता है, वैसा यहाँ पर भी समझना चाहिये। अब इस विद्या में अग्नि क्रिया के बहुत अवयवों की मनो व्यापार में भावना की हुई होने से श्रुति ने विद्या का अग्नि क्रिया के साथ संबंध बताया है वह विद्या कर्म का अंग है इसलिये वैसा नहीं किया। इसलिये मन के रचे हुए आदि अग्नि केवल विद्यात्मक हैं, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ५२ ॥

३० ऐकात्म्याधिकरण। सू० ५३-५४

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

एके कोई लोग [देह के अतिरिक्त ऐसे] **आत्मा** आत्मा का अस्तित्व [नहीं है ऐसा मानते हैं] क्योंकि, **शरीरे** शरीर के होते हुए ही **भावात्** [आत्मा के धर्म] होते हैं।

अब बध मोक्ष के अधिकार को सिद्ध करने के लिये देह से अतिरिक्त ऐसे आत्मा के अस्तित्व का हम समर्थन करते हैं। यदि देह से भिन्न कोई आत्मा न हो तो परलोक

में फल देने वाले कर्मों की ही सिद्धी नहीं होगी, फिर आत्मा ब्रह्म है ऐसा उपदेश किसको दिया जायगा ? यदि कहो कि शास्त्र के आरम्भ ही में अर्थात् पूर्व मीमांसा के प्रथम पाद में शास्त्र के फल का उपभोग करने योग्य देह से भिन्न ऐसे आत्मा का अस्तित्व कहा है, तो कहते हैं कि भाष्यकार ने तो ऐसा अवश्य कहा है परन्तु आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में उस शास्त्र में कोई सूत्र नहीं है। इसलिये यहां पर स्वयं सूत्रकार ही आत्मा के अस्तित्व पर आक्षेप करते हुए पश्चात् उसकी स्थापना करते हैं। और उसको यहीं से ग्रहण करके आचार्य शवर स्वामी ने अपने 'प्रमाण लक्षण' प्रकरण में उसका वर्णन किया है। इसीलिये भगवान् उपवर्ष ने पूर्व मीमांसा में आत्मा के अस्तित्व के कथन के प्रसंग में हम वह शारीरिक सूत्र में कहेंगे ऐसा कहकर छोड़ दिया है। इसलिये यहां पर शास्त्र विधि से प्राप्त उपासनाओं का विचार करते हुए आत्मा के अस्तित्व का विचार किया जाता है। ऐसा करने से सूत्रकार यही प्रदर्शित करना चाहते हैं कि आत्मा के अस्तित्व का विचार समस्त शास्त्र का ही एक अंग है। पूर्व अधिकरण में वताया गया है कि कुछ वातें किसी प्रकरण में कही हुई हों वहांसे वे अन्यत्र ग्रहण की जा सकती हैं और पश्चात् मन से रचे हुए आदि अग्नि पुरुष के उपयोगी हैं ऐसा सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है। अव ये मन से रचे हुए आदि अग्नि जिस पुरुष के उपयोगी हैं वह पुरुष कौन है ऐसी शंका प्राप्त होनेपर देहव्यतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन यहाँ पर किया गया है। उसके अस्तित्व पर आक्षेप करने के लिये यह सूत्र है। प्रथम किसी विषय पर आक्षेप करके फिर उसका खंडन करते हुए यदि

उस विषय का प्रतिपादन किया जाय तो, जैसे गडा हुआ खूटा हिलाकर देखने से उसके दृढ़ होने का निश्चय हो जाता है, वैसे ही वह उस विषय में दृढ़ निश्चय को उत्पन्न करता है।

अब देह ही को आत्मा मानने वाले कुछ लोग अर्थात् लोकायतिकों का मत है कि देह से भिन्न ऐसे आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। यद्यपि पृथिवी आदि बाह्य पदार्थों में से प्रत्येक में चैतन्य की प्रतीत नहीं होती तो भी शरीर के आकार को प्राप्त हुए भूतों में वह उत्पन्न हो सकती है ऐसा वे मानते हैं। इसलिये उसके मत में (किसी वस्तु के सड़ने से उसमें मद उत्पन्न होता है उस) मद के समान इन भूतों में ज्ञान उत्पन्न होता है, यही चैतन्य है और इस चैतन्य से युक्त शरीर ही पुरुष है। देह व्यतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है कि जिससे वह स्वर्ग को अथवा मोक्ष को प्राप्त हो अथवा जिससे देह को चैतन्य प्राप्ति हो। इसलिये देह ही चेतन है और वही आत्मा है ऐसी वे प्रतिज्ञा करते हैं और उसका कारण बताते है—'शरीरे भावात्' (शरीर होने ही से आत्मा होता है), जिसका अर्थ यह है कि जिसके होते हुए आत्मा होता है और जिसके अभाव में नहीं होता वह धर्म उसीका है ऐसा निश्चय होता है; जैसे उष्णता और प्रकाश ये अग्नि के धर्म हैं। प्राण, चेष्टा, चैतन्य, स्मृति आदि धर्म आत्मा के हैं ऐसा सब आत्मवादी मानते हैं। वे सब देह के भीतर मिलते हैं, बाहर नहीं मिलते और जब देह को छोड़कर और कोई इनका धर्मी यानी आश्रय है ही नहीं तो वे देह ही के धर्म माने जाने चाहिये। इसलिये देह से आत्मा भिन्न नहीं है।। ५३।।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

व्यतिरेकस्तद्भावा भावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥५४॥

न [देह आत्मा है] यह मत ठीक नहीं है तु परन्तु **व्यतिरेकः** [आत्मा देह से] भिन्न है **तद्भावाभावित्वात्** उसके [देह के] होने पर [भी ज्ञान, स्मृति आदि] न होने से **उपलब्धिवत्** ज्ञान के समान [आत्मा का सद्भाव है]।

आत्मा देह से भिन्न है ऐसा जो पूर्वपक्ष में कहा था वह ठीक नहीं है। यह देह से भिन्न है ऐसा हीं मानना युक्त है; क्योंकि उस आत्मा के धर्मों का अस्तित्व देह के अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। यदि देह के होने पर ही उनका अस्तित्व होता है इसीलिये आत्मा के धर्मों को देह के धर्म मानो, तो देह के होते हुए भी जब इनका अभाव होता है तब वे देह के धर्म नहीं हैं ऐसा ही क्यों न माना जाय ? वैसे ही आत्मा के धर्म देह के धर्मों से विलक्षण भी हैं। रूपादि जो देह के धर्म हैं वे जब तक देह का अस्तित्व है तब तक होते हैं। परन्तु प्राण, चेष्टा आदि देह का अस्तिप्त्व होते हुए भी मृत होने पर नहीं होते। तथा, रूप आदि देह के धर्मों का ज्ञान औरों को भी होता है परन्तु आत्मा के चैतन्य, स्मृति आदि धर्मों का वैसा नहीं होता। देह के होते हुए जीवित अवस्था में इनका अस्तित्व होता है ऐसा निश्चय कर सकते हैं, परन्तु देह के अभाव में इनका अस्तित्व नहीं होता ऐसा निश्चय नहीं हो सकता। देहपात के अनन्तर भी आत्मा के धर्म कभी कभी अन्य देह में संचार करके रह सकते हैं, और संशय से भी पर पक्ष का खंडन हो जाता है।

अब प्रतिपक्षी को पूछना चाहिये कि जिसकी वह भूतों से उत्पत्ति मानता है, उस चैतन्य का स्वरूप वह क्या

मानता है, चार भूतों के अतिरिक्त और कोई तत्व तो लोकायतिक मानते ही नहीं। यदि वे कहें कि भूत तथा भौतिक पदार्थों का अनुभव ही चैतन्य है तो ये भूत भौतिक पदार्थ चैतन्य के विषय होने से चैतन्य उनका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि अपने ही में अपनी क्रिया बन नहीं सकती। अग्नि उष्ण है तो भी वह अपने को नहीं जला सकता; वैसे ही, नट कितना ही शिक्षित हो अपने कंधों पर नहीं चढ़ सकता। इसलिये चैतन्य यदि भूत भौतिक पदार्थों का धर्म हो तो वह भूत भौतिकों को अपना विषय नहीं बना सकता। रूपादि धर्म न अपने रूप को देखते हैं न और किसी के रूप को देखते हैं, परन्तु चैतन्य बाह्य तथा आध्यात्मिक भूत भौतिकों को विषय करता है। इसलिये, भूत भौतिक विषय के ज्ञान का अस्तित्व जैसे जाना जाता है वैसे ही उनसे वह भिन्न है यह भी जानना चाहिये। हमारे मत में तो उपलब्धि स्वरूप ही आत्मा होने से वह देह से भिन्न है और उपलब्धि (ज्ञान) नित्य है क्योंकि वह सदा एक रूप होती है; अन्य अवस्था में भी 'मैंने यह देखा' इस प्रकार अनुभव करने वाला सदा एक ही सा प्रतीत होता है और ऐसा माने तब ही स्मृति आदि सम्भव होते हैं।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि शरीर के होने पर ही आत्मा के धर्म दिखाई देते हैं, इसलिये 'ज्ञान शरीर ही का धर्म है, उसका ऊपर के व्याख्यान से खण्डन हो जाता है। (फिर भी कहते हैं कि) प्रदीप आदि साधन प्राप्त होने पर ही पदार्थ की प्रतीति होती है, न होने से नहीं होती, इतने ही से यह प्रतीति दीपक आदि ही का धर्म नहीं बन सकती है। इसी प्रकार देह के होने पर उपलब्धि होती है, न होने से नहीं होती, इतने ही से उपलब्धि देह का धर्म नहीं हो सकती; क्योंकि प्रदीप

आदि के समान साधन रूप से भी देह का उपयोग वन सकता है। दूसरे उपलब्धि के लिये देह की अत्यन्त आवश्यकता है ऐसा भी नहीं दिखाई देता। जब देह निश्चेष्ट होता है तब भी स्वप्न में नाना प्रकार की उपलब्धि होती है यह सबका अनुभव है। इसलिये देह से भिन्न ही आत्मा का अस्तित्व है यह मत निर्दोष है ॥ ५४ ॥

३१ अंगाववद्धाधिकरण। सू० ५५-५६

अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

तु परन्तु [कर्म के] **अंगावबद्धाः** अवयवों से संवद्ध [जो उपासनाएं हैं वे] **प्रतिवेदम्** प्रत्येक वेद में [भिन्न] **न** नहीं हैं **हि** परन्तु **शाखासु** सव शाखाओं में [अभिन्न] हैं।

प्रासंगिक कथन समाप्त हुआ, अव प्रकृत विषय को ग्रहण करते हैं। 'ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासींत' [छाँ० १।१।१] (ॐ यह अक्षर उद्‌गीथ है, उसकी उपासना करनी चाहिये) 'लोकेषु पंचविधं सामोपासीत' [छां० २।२।१] (पांच प्रकार के साम की लोक रूप से उपासना करनी चाहिये), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्' 'इयमेव पृथिवी' [ऐ० आ० २।१।२।१] (जिसको उक्थ, ऐसा लोग कहते हैं, वही यह उक्थ है और वही यह पृथिवी ही है), 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' [श० ब्रा० १०।५।४।१] (यह रचा हुआ अग्नि ही यह लोक है) इत्यादि प्रत्येक वेद कीं भिन्न भिन्न शाखाओं में कर्मों के अवयवों से संवद्ध ऐसी उद्‌गीथ आदि उपासनाएं कही हैं। यहाँ विचार यह करना है है कि ये विधि उन शाखाओं के उद्‌गीथ आदि के सम्बन्ध में

कहे हैं अथवा सब शाखाओं के उद्गीथ आदि के संबंध में कहा है।

पूर्वपक्ष—अपनी अपनी शाखा के उद्गीथ आदि के संबंध में ही ये विधि कहे गये हैं। इसके लिये सांनिध्य प्रमाण है। 'उद्गीथमुपासीत' [छां० १ । १ । १] (उद्गीथ की उपासना करें) इत्यादि वाक्य में उद्गीथ का जो सामान्य निर्देश है; उसमें वह कौनसा उद्गीथ है ऐसी आकांक्षा रहती हो तो वह आकांक्षा उसी शाखा में दिये हुए अन्य विशेषों के ग्रहण से दूर हो सकती है। इसलिये उस शाखा को छोड़कर अन्य शाखा के ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये प्रत्येक शाखा के उद्गीथ आदि विद्या के विधि उस शाखा के उद्गीथ आदि उपासनाओं के संबंध ही में कहे हैं ऐसा प्राप्त होता है।

इसी पूर्वपक्ष के उत्तर में प्रकृत 'अंगावबद्धास्तु०' यह सूत्र कहा है। सूत्रस्थ 'तु' (परन्तु) शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण सूचित करता है। ये विधि प्रत्येक वेद की अपनी शाखा के लिये ही नहीं है, किन्तु सब शाखाओं में इनका ग्रहण होता है, क्योंकि उद्गीथ आदि की श्रुति सर्वत्र समान है। प्रत्येक शाखा में कहे हुए विधि उसी शाखा के लिये कहे हैं ऐसा माने तो 'उद्गीथमुपासीत' [छां० १ । १ । १] (उद्गीथ की उपासना करें) ऐसी जो सामान्य श्रुति है और जो किसी विशेष की अपेक्षा न रखते हुए प्रवृत्त होती है, उसके लिये सांनिध्य से विशेष की अपेक्षा माने तो वह बाधित हो जायगी परन्तु यह मानना ठीक नहीं क्योंकि सांनिध्य से श्रुति बलवान होती है और सामान्य श्रुति के आश्रय से विद्या की सिद्धि न होती हो ऐसा भी नहीं है। इसलिये स्वर आदि यद्यपि भिन्न भिन्न हो तो भी उद्गीथ

आदि भिन्न न होने से यह सब विधि सब शाखाओं के उद्गीथ आदि के संबंध में कहा है ऐसा मानना पड़ेगा ।। ५५ ।।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ।। ५६ ।।

वा अथवा **मंत्रादिवत्** मंत्र आदि के समान [यहां पर] **अविरोधः** विरोध नहीं है [ऐसा समझना चाहिये] ।

अथवा यहां पर एक शाखा के कहे हुए उपासना के विधि अन्य शाखा में किस प्रकार ग्रहण किये जाँय, ऐसे विरोध की शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि मंत्र आदि के समान यहां विरोध नहीं है ऐसा सिद्ध होता है । मंत्र, कर्म और गुण ये एक शाखा में प्राप्त हुए हों तो भी उनका अन्य शाखाओं में संग्रह होता हैं, ऐसा दिखाई देता है । जिन शाखाओं में 'कुटरुरसि' (तू कुटरु अर्थात् धान कूटने का पत्थर है) इत्यादि अश्मा-दानका मंत्र नहीं कहा है, उनमें भी उस मंत्र का विनियोग दिखाई देता है जैसे 'कुक्कुटोंऽसि' (तू कुक्कुट है) अथवा 'कुटरुरसि' (तू कुटरु है) ऐसा मंत्र कहकर वह अश्मादान (पत्थर ग्रहण) करता है । जिन शाखाओं में समिधा आदि प्रयाज नहीं कहे हैं उनमें भी उस प्रयाज के कर्मांग के विधि कहे हैं; जैसे 'ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः' (ऋतु ही प्रयाज है यानी प्रयाज पांच ही है और उनको एक ही स्थान में आहुति देना चाहिये) वैसे ही जिनमें 'अजोऽग्निषोमीयः' (बकरा अग्नि और सोम को दिया जाता है) ऐसा स्पष्ट जाति दर्शक उपदेश नहीं है उनमें भी उसी विषय का द्योतक मंत्र मिलता है; जैसे 'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रहि' (बकरे के हृदयस्थ चरबी का मंत्र कह) । इसी प्रकार वेद में कहे हुए 'अग्नेर्वैहोंत्र वेरध्वरम्' (हे अग्ने, होता की रक्षा कर

अध्वर की रक्षा कर) इत्यादि मंत्रों का भी अन्य वेदों में स्वीकार किया गया है ऐसा दिखाई देता है। ऋग्वेद के सूत्र में 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' [ऋ० सं० २।६।७] (जो जन्म ही से सबसे श्रेष्ठ और विवेकी हुआ) ऐसा जो कहा है उसका 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' (अध्वर्यु के प्रयोग में सजनीय सूत्र अर्थात् 'सजनास इन्द्र'—हे लोगो यह इन्द्र है इत्यादि सूत्र कहना चाहिये) इस प्रकार संग्रह किया गया है। इसलिये जैसे कर्मों के आश्रय भूत अंगों का सर्वत्र संग्रह होता है वैसे उपासनाओं के आश्रय भूत विधि का उपासनाओं में संग्रह होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ ५६ ॥

३२ भूमज्यायस्त्वाधिकरण।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥

भूम्नः भूमा की [उपासना की] **ज्यायस्त्वम्** प्रधानता है; **क्रतुवत्** यह यज्ञ के सदृश समझना चाहिये। हि क्योंकि [श्रुति] **तथा** वैसा ही **दर्शयति** दिखाती है।

प्राचीनशाल औपमन्यव [छां० ५।११।१] की आख्यायिका में अंश रूप से और समष्टि रूप से वैश्वानरकी उपासना कही है। अंश की उपासना इस प्रकार है—'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' [छां० ५।१२।१] (हे उपमन्यव, आत्मा रूप से तू किसकी उपासना करता है ? वह बोला, हे पूजनीय राजा, स्वर्गकी ही। वह बोला, जिसकी तू उपासना करता है वह वास्तव में सुतेज नामक वैश्वानर आत्मा है)। इसी प्रकार समष्टि की उपासना कही है—तस्य

ह वा एतस्या त्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो वहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' [छां० ५।१८।२] (ऐसे उस वैश्वानर आत्मा का सुतेज यानी स्वर्ग शिर है, विश्वरूप यानी सब रूप जिससे दीखते हैं वह सूर्य उसका नेत्र है, पृथग्वर्त्मा यानी अनेक मार्ग-वाला वायु प्राण है वहुल—व्यापक आकाश उसका शरीर है, जल वस्ति है और पृथिवी पाद हैं)। यहां पर संशय होता है कि इस स्थान में अंश की और समष्टि की ऐसी दो भिन्न उपासनाएँ कही हैं अथवा केवल समष्टि की ही उपासना कही है।

पूर्वपक्ष—सुतेज आदि अवयवों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में 'उपासना करता है' ऐसा पद होने से तथा 'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' [छां० ५।१२।१] (इसलिये तेरे कुल में वार वार सोम रस निकलता हुआ दिखाई देता है अर्थात् सोम सम्बन्धी यज्ञ होते रहते हैं) इत्यादि वाक्यों में उनके विभिन्न फल दिये हुए होने से यहां पर अंश की उपासना ही कही हुई है।

समाधान—सब पदार्थ समूहात्मक समष्टि रूप वैश्वानर की उपासना का ही यहां प्रधानता से कथन करने से अभिप्राय है ऐसा मानना पड़ेगा, वैश्वानर के प्रत्येक अवयव की उपासना से श्रुति का अभिप्राय है ऐसा नहीं कह सकते; यज्ञ के समान यह समझो। जैसे दर्श, पूर्णमास आदि यज्ञ में एक समस्त रूप प्रयोग विवक्षित होता है यानी सब अंगों के साथ प्रधान यज्ञ का एक ही प्रयोग विवक्षित होता है, प्रयाज आदि विभिन्न अंगों के प्रयोग विवक्षित नहीं होते; वैसे ही कुछ अंगों से युक्त ऐसे प्रधान यज्ञका प्रयोग भी वहां विवक्षित नहीं है। ऐसा ही

यहां पर समझना चाहिये। यहां पर भूमा ही प्रधान है यह कैसे जाना जाता है ? भूमा प्रधान है यह वात श्रुति दिखाती है, श्रुति की इस विषय में एक वाक्यता प्रतीत होती है। उस श्रुति का पूर्वापर सम्बन्ध देखने से वह वैश्वानर विद्या का एक ही प्रकरण है ऐसा प्रतीत होता है। प्राचीनशाल से लेकर उद्दालक तक के छः ऋषि वैश्वानर विद्या में निष्ठा न जमने से कैकेय अश्वपति नामक राजा के पास गये, ऐसा उपक्रम करके स्वर्ग आदि में से एक एक पदार्थ एक एक ऋषि की उपासना का विषय था ऐसा कहकर 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' [छां० ५।१२।२] (वह वोला, यह तो 'केवल आत्मा का शिर है') इस वाक्य से स्वर्ग आदि वैश्वानर के शिर आदि अवयव हैं ऐसा श्रुति कथन करती है। इतना ही नहीं, 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः' [छां० ५।१२।२] (यदि तू मेरे पास न आया होता तो तेरा शिर गिर पड़ता) इत्यादि वाक्य से अंशरूप उपासना की श्रुति निंदा करती है और आगे अंश उपासना का अनादर करके समष्टि उपासना ही को अंगीकार करते हुए 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' [छां० ५।१८।१] (वह सब लोकों में सब भूतों में सब जीवों में रहकर अन्न खाता है) इस वाक्य से यह फल भूमा की उपासना द्वारा ही मिलता है ऐसा श्रुति दिखाती है। 'सुतेज' (स्वर्ग) रूप आदि की प्रत्येक उपासना का जो फल मिलता है वह सव समष्टि की उपासना से मिलता है ऐसा श्रुति का अभिप्राय है ऐसा मानने से उस प्रधान उपासना ही में सवका समावेश होजाता है ऐसा समझना चाहिये। तथा, 'उपास्से' (तू उपासना करता है) ऐसा शब्द जो प्रत्येक अंश के साथ दिया है वह औरों के अभिप्राय का निर्देश करने के

लिये है, व्यष्टि की उपासना की विधि प्रतिपादन करने के लिये नहीं है। इसलिये समस्त रूप उपासना कही गई है यही पक्ष युक्त है ऐसा सिद्ध हुआ।

कुछ लोग इस सूत्र से समस्त उपासना पक्ष अधिक अच्छा है ऐसा सिद्ध करके 'अधिक अच्छा' कहा है इसी से सूत्रकार को अंश उपासना पक्ष भी संमत है ऐसा कहते हैं वह युक्त नहीं है। इस विषय में श्रुति की एकवाक्यता है ऐसा निश्चय हो जाने पर फिर किसी वाक्य के दो अभिप्राय मानना न्याय संगत नहीं है। और ऐसा माने तो 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' [छां० ५।१२।२] (तेरा शिर गिर पड़ेगा) इस प्रकार जो अंश उपासना की निंदा की गई है इससे भी विरोध होगा। उपसंहार में समस्त रूप से उपासना करने के पक्ष में स्पष्ट निर्देश होते हुए पूर्वपक्ष उसका निषेध नहीं कर सकता; तथा सूत्र में जो 'ज्यायस्त्व' (प्राधान्य) शब्द आया है, वह भी इसमें एक प्रमाण है ऐसा भी कह सकते हैं॥ ५७॥

३३ शब्दादिभेदाधिकरण।

नाना शब्दादिभेदात्॥ ५८॥

शब्दादिभेदात् श्रुति आदि भिन्न हैं इसलिये [विद्या भी] **नाना** भिन्न हैं।

पूर्वपक्ष—पूर्व के अधिकरण में 'स्वर्ग' आदि की उपासनाओं के विभिन्न फलों की श्रुति होते हुए भी समष्टि रूप से वैश्वानर की उपासना ही श्रुति में प्रधानता से कही है ऐसा कहा था। इससे यह प्राप्त होता है कि अन्य अन्य श्रुतियों में भी जो भिन्न भिन्न उपासनाएं कही हैं वे भी समस्त रूप ही से कही हैं। जब वेद्य एक ही है तब उपासनाओं

में भेद की कल्पना करना असंभव है। विद्या का रूप ही वेद्य है, जैसे द्रव्य और देवता यज्ञ का रूप है। और यद्यपि श्रुतियां विभिन्न प्रकार की हैं तो भी उनमें प्रतिपादित वेद्य रूप ईश्वर एक ही है ऐसा विदित होता है; जैसे 'मनोमयः प्राणशरीरः' [छां० ३।१४।२] (जिसका मन स्वरूप है और प्राण शरीर है), 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' [छां० ४।१०।५] (कं यानी आनंद और आकाश ब्रह्म है) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' [छां० ८।१।५] (वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है) इत्यादि। इसी प्रकार 'एक एव प्राणः' प्राणो वाव संवर्गः' [छां० ४।३।३] (प्राण एक ही है, प्राण ही संहारकर्ता है) 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' [छां० ५।५।१] (प्राण ही सब से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है) 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' [छां० ७।१५।१] (प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है), इन श्रुतियों में भी प्राण रूप से एक ही वेद्य ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है, इसलिये वेद्य एक होने से विद्या भी एक ही है ऐसा निश्चित होता है। इस पक्ष में नाना प्रकार की श्रुतियां व्यर्थ हैं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एक उपास्य के नाना गुणों का वर्णन उनसे होता है। इसलिये, एक संपूर्ण विद्या सिद्ध होने के लिये अपनी शाखा में तथा अन्य शाखाओं में कहे हुए जो एक ही वेद्य वस्तुके अनेक गुण हैं उन सबका संग्रह करना आवश्यक है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में 'नाना शब्ददिभेदात्' यह सूत्र दिया गया है। सूत्र का अर्थ यह है—वेद्य स्वरूप एक होते हुए भी इस प्रकार की उपासनाएं भिन्न भिन्न हो सकती हैं; क्योंकि शब्द आदि भिन्न हैं। भिन्न भिन्न शब्द इस प्रकार हैं, जैसे 'वेद' (ज्ञान) 'उपासीत' (उपासना करें) 'स क्रतुं कुर्वीत' [छां० ३।१४।१] (वह यज्ञ करें) इत्यादि।

और भिन्न शब्दों से भिन्न कर्म का विधान होता है ऐसा 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबंधत्वात्' [जै० सू० २।२।१] (भिन्न शब्द हो तो क्रिया का भी भेद होता है; क्योंकि उसका संबंध है) इस पूर्व मीमांसा के सूत्र से ही विदित हो चुका है। सूत्र स्थित 'आदि' शब्द से यथा संभव गुणादि को भेद के हेतु रूप से ग्रहण करना चाहिये। यदि कहो कि 'वेद' (जानता है) इत्यादि में केवल शब्द ही भिन्न है ऐसा विदित होता है परन्तु, 'यजति' (यज्ञ करता है, दान करता है) इत्यादि में जैसे अर्थ भिन्न है, वैसे वहां अर्थ भिन्न नहीं है; क्योंकि इन सबका मनोव्यापार रूप एक ही अर्थ है, इसके अतिरिक्त उनका और कोई अर्थ संभव नहीं है, फिर यह कैसे कह सकते हैं कि शब्दादि के भेद से विद्या भी भिन्न है? इसका उत्तर देते हैं कि यह दोष नहीं है। मनो—व्यापार रूप एक ही अर्थ होते हुए भी उनका संबंध भिन्न होने से वेद्य पदार्थ भी भिन्न होता है और उससे विद्या भी भिन्न हो सकती है। उपास्य रूप एक ही ईश्वर के एक एक गुण का एक एक प्रकरण में उपदेश दिया गया है। वैसे ही एक ही प्राण रूप उपास्य होते हुए भी उस प्राण के एक गुण की एक स्थान पर उपासना कही और दूसरे स्थान पर दूसरी; इस प्रकार संबंध भिन्न होने से वेद्य वस्तु भिन्न होती है और उससे विद्या भी भिन्न है ऐसा ज्ञात होता है। यहां पर यह भी कह नहीं सकते हैं कि एक तो विद्या का विधि है और अन्य सब गुण के यानी उसी के अंश के विधि हैं; क्योंकि ऐसा विभेद करने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता। तथा प्रत्येक प्रकरण में अनेक गुणों का कथन होने से सब स्थान में विद्या का अनुवाद करते हुए उसके

संबंध में अनेक गुणों का विधान करना ठीक नहीं है। वैसे ही, सत्यकाम आदि गुण एक ही से होने से इस पक्ष में उसका बार बार कथन होना अयुक्त है। अमुक इच्छा वाला अमुक उपासना करे, अमुक इच्छा वाला अमुक, इस प्रकार प्रत्येक प्रकरण निरपेक्ष यानी स्वतः पूर्ण है ऐसा ज्ञान होता है, इसलिये इनकी एक वाक्यता भी नहीं हो सकती। जैसे वैश्वानर विद्या में समस्त रूप से उपासना करने की विधि के प्रेरक वाक्य हैं वैसा वाक्य भी यहां पर नहीं मिलता जिससे इन विभिन्न प्रकरणों में कहे हुए अंशों की उपासनाओं की एक-वाक्यता की जा सके। परन्तु वेद्य पदार्थ एक ही होने से विद्या भी एक ही है ऐसा यदि सर्वत्र निरंकुश रूप से मान लिया जाय तो सर्वत्र कहे हुए गुणों का संग्रह करने की एक असंभव बात माननी पड़ेगी। इसलिये शब्दादि भिन्न होने से विद्या भी भिन्न है ऐसा जो सूत्रकार ने कहा है वह ही ठीक है। और इस अधिकरण में कहे हुए सिद्धांत को ग्रहण करते हुए ही इस पाद का 'सर्ववेदान्त प्रत्ययम्' [ब्र० सू० ३।१।१] आरंभ किया है ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् दहर विद्या शांडिल्य विद्या आदि विद्याएं भिन्न हैं ऐसा मानने ही से अनेक श्रुति में कही हुई दहर विद्या एक है या अनेक ऐसा विचार उत्पन्न होता है) ॥ ५८ ॥

३४ विकल्पाधिकरण ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

अविशिष्टफलत्वात् एकसा फल [कहा हुआ] होने से [विद्याओं का] विकल्पः विकल्प [ही ग्रहण करना चाहिये]।

विद्या भिन्न हैं ऐसा निश्चित होने पर अब इच्छानुसार इनका समुच्चय अथवा विकल्य ग्रहण किया जाता है वा नियमपूर्वक विकल्प ही का ग्रहण होता है इस बात का विचार करते हैं।

पूर्वपक्ष—विद्या भिन्न हैं ऐसा पहिले ही निश्चित हो चुका है, इसलिये नियमपूर्वक समुच्चय ही माना जाय (यानी सभी उपासनाएं सभी को इष्ट हैं ऐसा माना जाय) इसके लिये कोई कारण नहीं है; यदि कहो कि अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास आदि याग यद्यपि भिन्न २ हैं, तो भी उनका नियमपूर्वक समुच्चय ग्रहण किया गया है, ऐसा देखने में आता है; तो कहते हैं कि उसमें कोई दोष नहीं, वे याग नित्य हैं ऐसा श्रुति का कथन ही उनके समुच्चय के ग्रहण के लिये प्रमाण है। वैसा इन विद्याओं को कोई भी श्रुति नित्य नहीं प्रतिपादन करती। इसलिये समुच्चय का नियम नहीं मान सकते। न विकल्प का भी नियम मान सकते हैं क्योंकि जिसको एक विद्या का अधिकार है उसके लिये दूसरी विद्या का निषेध नहीं किया गया है। अर्थात् शेष रहा हुआ इच्छानुसार समुच्चय अथवा विकल्प ग्रहण करने का पक्ष ही प्राप्त होता है। यदि कहो कि इन विद्याओं का एक ही फल कहा हुआ होने से इनका विकल्प मानना ही युक्त है, जैसे, 'मनोमयः प्राणशरीरः' [छां० ३।१४।२] (वह मनोमय और प्राण शरीर है), 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' [छां० ४।१०।५] (आनन्द ब्रह्म है और आकाश ब्रह्म है), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः [छां० ८।१।५] (वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है) इत्यादि विद्याओं का ईश्वर प्राप्ति यह एक ही फल बताया जाता है, तो यह भी दोष नहीं है। जिनका फल

एक ही सा है ऐसे स्वर्गादि साधन रूप कर्मों को भी इच्छानुसार किया जाता है ऐसा देखने में आता है, इसलिये इच्छानुसार ही इनकी प्राप्ति होती है।

समाधान—इन विद्याओं का विकल्प ही से विधान हो सकता है, समुच्चय से नहीं; क्योंकि इनका फल एक ही है। इन उपासनाओं का फल एक ही है और वह यह है कि उपास्य विषय का साक्षात्कार करना। एक उपासना से उपास्य रूप ईश्वर का जिसको साक्षात्कार हो गया, (उसके लिये) दूसरी उपासना का कोई प्रयोजन नहीं रहता। इतना ही, नहीं इस पक्ष में साक्षात्कार सम्भव ही नहीं; क्योंकि (अनेक उपास्य रखना) चित्त के विक्षेप का हेतु होता है। और साक्षात्कार ही से विद्या का फल प्राप्त होता है, ऐसा श्रुति का कथन है जैसे 'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति' [छां० ३।१४।४] (जिसको साक्षात्कार है, संशय नहीं है), 'देवो भूत्वा देवानप्येति' [बृ० ४।१।२] (देव होकर देवों को प्राप्त होता है) इत्यादि। इसलिये जिनका फल एक ही है ऐसा विद्याओं में से किसी विद्या को ग्रहण करके उपास्य वस्तु का साक्षात्कार होकर विद्या का फल प्राप्त हो तब तक उस विद्या का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ५९ ॥

३५ काम्याधिकरण।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा

पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

तु परन्तु **काम्याः** काम्य कर्मों का **यथाकामम्** इच्छानुसार **समुच्चीयेरन्** समुच्चय किया जा सकता है **वा** अथवा **न** न भी

किया जाय; **पूर्वहेत्वभावात्** क्योंकि [पूर्व सूत्र का] हेतु [यहाँ पर] विद्यमान नहीं है।

जिनका फल समान है ऐसी विद्याओं से भिन्न जो विद्याएं हैं, उनका उदाहरण इस सूत्र में दिया गया है। 'स य एतमेवं वायुं दिशाँ वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति' [छां० ३।१५।२] (जो कोई वायु दिशा का वत्स है, ऐसा जानता है, वह पुत्र के लिये नहीं रोता अर्थात् उसको पुत्र शोक नहीं होता), 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामाचारो भवति' [छाँ० ७।१।५] ('जो कोई नाम की ब्रह्म रूप से उपासना करता हैं वह जहाँ तक नाम की गति है वहाँ तक इच्छानुसार गमन करता है) इत्यादि प्रकार के जो काम्य कर्म है, तथा जो विद्या अपना फल अपने पुण्य प्रभाव से प्राप्त कराती है उन विद्याओं में साक्षात्कार की आवश्यकता नहीं है। उनका इच्छानुसार समुच्चय किया जाय अथवा न किया जाय; क्योंकि पूर्व सूत्र का हेतु यहाँ पर वर्तमान नहीं है अर्थात् विकल्प ग्रहण के लिये पूर्व सूत्र में एक फल का होना यह हेतु दिया है जो यहाँ विद्यमान नहीं है ॥ ६० ॥

३६ यथाश्रयभावाधिकरण ।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

अंगेषु [कर्म के] अंगभूत जो विद्याएं है, **यथाश्रयभावः** उनकी उनके आश्रय के अनुसार स्थिति होती है ।

कर्म के अंगभूत जो उद्गीथ आदि पदार्थ हैं उनके साथ संबंध रखने वाली जो विद्याएँ तीनों वेद में कही हुई हैं उनका समुच्चय लिया जाय वा उनका इच्छानुसार ग्रहण किया जाय,

ऐसा संदेह प्राप्त होने पर सूत्रकार [पूर्वपक्ष में] कहते हैं कि आश्रय के अनुसार उनकी स्थिति है। जैसे इन विद्याओं के स्तोत्र आदि आश्रय समुच्चय से ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही उन विद्याओं का भी समुच्चय ग्रहण किया जाता है, क्योंकि विद्या अपने आश्रय पर निर्भर होती है ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

च और **शिष्टेः** [आश्रय के अनुसार उनका] कथन होने से [उनका समुच्चय ग्रहण किया जाता है]।

और जैसे स्तोत्रादि आश्रय तीनों वेदों में कहे गये हैं वैसे उन पर निर्भर रहने वाली विद्याएं भी तीनों वेदों में कही हुई हैं अर्थात् कर्म के अवयव तथा उनसे संबंध रखने वाली विद्याएं, इनके उपदेश में किस प्रकार का भेद श्रुति में नहीं मिलता ॥ ६२ ॥

समाहाराव ॥ ६३ ॥

समाहारात् [भूल के] सुधार से [भी विद्याओं का समुच्चय लिया जाता है]।

'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति' [छाँ० १।५।५] (होता के कर्म से भी उद्गाता अपने गायन की भूल सुधार लेता है), यह श्रुति प्रणव और उद्गीथ एक ही है इस ज्ञान के सामर्थ्य से उद्गाता अपने कर्म की भूल होता के कर्म से सुधार लेता है ऐसा कहती है। जैसे एक वेद में कहे हुए पदार्थ का दूसरे वेद में कहे हुए पदार्थ से संबंध होता है उसी प्रकार एक वेद में कही हुई विद्या का दूसरे वेद में कही हुई विद्या से संबंध होने से श्रुति सर्व वेदों में कही हुई विद्याओं

का सर्वत्र संग्रह होता है ऐसा सूचित करती है। इस प्रकार यह (भूल का सुधार) इसका ज्ञापक चिह्न है ऐसा दिखाई देता है ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेः गुण साधारण हैं ऐसा श्रुति कथन होने से **च** भी (विद्याओं का समुच्चय लिया जाता है]।

ॐकार विद्या का गुण यानी आश्रय है और वह तीनों वेदों को साधारण है ऐसा श्रुति कहती है जैसे, 'तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति' [छां० १।१।६] (उसी से तीनों वेदों के कर्म प्रवृत्त होते हैं, ॐ कह कर अध्वर्यु आज्ञा करता है, ॐ कह कर होता पठन करता है और ॐ कहकर ही उग्दाता गाता है)। इसलिये आश्रय साधारण होने से उसके आश्रित जो विद्या है वह भी [तीनों वेदों में] साधारण ही है, इस प्रकार यह भी एक विद्या की एकता का लिंग (ज्ञापक हेतु) ही है ऐसा प्रतीत होता है।

अथवा, 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार हो सकता है—उग्दीथ आदि कर्म के अंगभूत जितनी बातें हैं वे यदि सब यज्ञ प्रयोगों में साधारण न होतीं तो उनका आश्रय करने वाली विद्याओं का भी सहभाव (साहचर्य) नहीं होता परन्तु श्रुति में सब अंग भूत बातें सब यज्ञ प्रयोगों में साधारण होने से उग्दीथ आदि सब अंग भूत बातें भी साधारण ही होनी चाहिये। इस प्रकार आश्रय के सहभाव से विद्याओं का भी सहभाव सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

वा अथवा, [उपासनाओं की आश्रयों के समान स्थिति] **न** नहीं होती **तत्सहभावाश्रुतेः** क्योंकि उन के साहचर्य का श्रुति में कथन नहीं है।

सूत्रस्थ 'न वा' शब्द ऊपर के पक्ष का निराकरण सूचित करता है, [उग्दीथ आदि का] आश्रय करने वाली विद्याओं की आश्रयों के समान स्थिति नही हो सकती, क्योंकि श्रुति में उनके साहचर्य का निर्देश नहीं मिलता। तीनों में कहे हुए स्तोत्र आदि का साहचर्य जैसे 'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तोत्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम गाय होतरेहृयज' (पात्र लेकर अथवा चमस उठाकर वह स्तोत्र कहता है और स्तोत्र कहकर बोलता है हे प्रस्तोता, साम गान कर, हें होता, इसकी याज्या कह) इत्यादि से श्रुति में कहा हुआ है, वैसे उपासनाओं के साहचर्य का कहीं भी निर्देश नहीं हैं। यदि कहो कि यज्ञों के प्रयोगों का [उनके अंगों के साथ] कथन होने से उपासनाओं का साहचर्य भी प्राप्त होता है तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपासना पुरुष के लिये है। प्रयोग के कथन से यज्ञ के लिये कहे हुए उग्दीथ आदि का साहचार्य प्राप्त होगा, [परन्तु उपासना यज्ञ के लिये नहीं होती]। उग्दीथ आदि उपासनाएँ यद्यपि यज्ञ के अंगभूत बातों पर आश्रित हैं तो भी वे गौदोहन आदि के समान पुरुष ही के लिये हैं ऐसा हमने 'पृथग्घय प्रतिबंधः फलम्' [ब्र० सू० ३।३।४२] (प्रतिबंध न प्राप्त होना यह एक इनका पृथक् फल है) इस सूत्रांश से प्रतिपादन किया है। तथा कर्म के अवयव और उनसे सम्बन्ध रखने वाली

उपासनाएँ इनमें पहिले पदार्थ यज्ञ के निमित्त हैं और उपासना पुरुष के लिये है यह श्रुति के उपदेश अनुसार प्राप्त हुआ- या दोनों में भेद है। पहले जो दो लिंग [सू० ६३-६४ में] कहे हैं वे उपासना के साहचर्य के सिद्धि में कारण नहीं हो सकते, क्योंकि न उनके लियें श्रुति प्रमाण है न वे युक्तियुक्त ही हैं। अब प्रत्येक प्रयोग में आश्रयों का संग्रह किया हुआ होने से उन आश्रयों पर आश्रित उपासनाओं का भी संग्रह होता हैं ऐसा नही कहसकते, क्योंकि उपासनाएं इन आश्रयों पर ही आश्रित नहीं होतीं। उपासनाएं इन आश्रयों पर ही निर्भर हैं ऐसा माने तो भी आश्रय के अभाव में ये न होंगी इतना ही भाव इससे निकल सकता है। परन्तु इतने से आश्रय के साहचर्य से उपासनाओं का साहचर्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि श्रुति में उनके साहचर्य का कथन भी नहीं है इसलिये इच्छानुसार उपासनाओं का अनुष्ठान किया जाय यही सिद्ध हुआ ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

च और [यही बात] **दर्शनात्** श्रुति में भी कही हुई है, इसलिये [इच्छानुसार ही उपासना करनी चाहिये]।

विद्याओं का साहचर्य नहीं है, यह बात श्रुति कहती हैं; जैसे, 'एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' [छाँ० ४। १७। १०] (ऐसा जानने वाला ब्रह्मा ही यज्ञ की, यजमान की और सर्व ऋत्विजों की रक्षा करता है)। यदि श्रुति का अभिप्राय सब विद्याओं के संग्रह से होता तो सब ऋत्विज

सब विद्याएँ जानते हैं फिर विशिष्ट ज्ञान से युक्त ऐसा ब्रह्मा इतर ऋत्विजों की रक्षा करता है, ऐसा श्रुति न कहती। इसलिये इच्छानुसार विद्याओं के समुच्चय वा विकल्प का ग्रहण होता है यही सिद्ध हुआ ॥ ६६ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद के
तृतीय अध्याय का तृतीय पाद
समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद ।

१ पुरुषार्थाधिकरण । सू० १-१७

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

अतः इससे **पुरुषार्थः** पुरुषार्थ [सिद्ध होता है] **शब्दात्** ऐसा श्रुति से विदित होता है **इति** ऐसा **बादरायणः** बादरायण आचार्य का मत है ।

अब यहाँ से उपनिषदों में कहा हुआ आत्म ज्ञान अधिकारी पुरुष द्वारा कर्म से संवद्ध है (यह आगे स्पष्ट होगा) अथवा पुरुषार्थ का स्वतन्त्र साधन है इस बात पर विचार करते हैं। 'पुरुषार्थोऽतः०' इस पहले सूत्र ही में सिद्धान्त का कथन करते हुए ही विचार प्रारम्भ करते हैं । इस वेदान्त विहित आत्मज्ञान द्वारा स्वतन्त्र रूप से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, ऐसा बादरायण आचार्य का मत है । यह कैसे विदित होता है ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं कि श्रुति से ऐसा विदित है। श्रुति इस प्रकार है—'तरतिशोकमात्मवित्' [छां० ७ । १ । ३[(आत्मज्ञानी शोक को तैर जाता है), 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मु० ३ । २ । ६] (वह जो उस परब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही हो जाता है), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' [तै० २ । १ । १] (ब्रह्म को जानने वाला परम गति को प्राप्त होता है), 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसंपत्स्ये' [छां० ६ । १४ । २] (आचार्यवान् पुरुष ही ब्रह्म को जानता है । उसको देहपात होने ही की देर है, देहपात होते ही तुरन्त वह सत्स्वरूप को प्राप्त होता है), इत्यादि तथा 'य आत्माऽपहतपाप्मा' [छां० ८ । ७ । १] (जो पाप रहित आत्मा) ऐसा उपक्रम करके 'सर्वाश्च लोका-

नाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' [छां० ८ । ७ । १] (जो उस आत्मा का अनुसंधान करके उसको जानता है उसको सब लोकों की प्राप्ति होती है और उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं) यह श्रुति तथा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [बृ० ४ । ५ । ६] (अरे, आत्मा का दर्शन करना चाहिये) इस प्रकार आरम्भ करके 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' [बृ० ४ । ५ । १५] (यहां तक ही अमृतत्व है) यह श्रुति तथा अन्य ऐसी श्रुतियां विद्या ही केवल पुरुषार्थ का हेतु है ऐसा कथन करती हैं ।। १ ।।

अब यहां पर पूर्वपक्ष होता है—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ।। २ ।।

शेषत्वात् [आत्मा कर्म का] अंश भूत होने **पुरुषार्थवादः** पुरुषार्थ प्रतिपादक श्रुति [अर्थवाद रूप है] **यथा** जैसे **अन्येषु** अन्य श्रुतियों में] फल प्रतिपादक श्रुतियाँ अर्थवाद रूप होती हैं] **इति** ऐसा **जैमिनिः** जैमिनि आचार्य मानते हैं ।

कर्ता रूप से आत्मा कर्म का अंग होने से उसका ज्ञान भी व्रीहि के प्रोक्षण आदि के समान विषय रूप से कर्म से संबंद्ध है, ऐसा उस आत्मज्ञान का प्रयोजन ज्ञात होने से [आत्मज्ञान के] फल आदि का कथन करने वाली जो श्रुतियां हैं वे केवल अर्थवाद रूप हैं ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है । जैसे, द्रव्य, संस्कार और कर्म इनके फल बताने वाली 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिसकी जुहू यानी चिम्मच पत्ते की बनी हुई होती है वह दोष युक्त शब्द नहीं सुनता), 'यदंक्ते चक्षुरेष भ्रातृव्यस्य वृंक्ते' (जब वह

अपनी आंख में अंजन आंजता है तब वह शत्रु की दृष्टि में नहीं आता) 'यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' (प्रयाज और अनुयाज का अनुष्ठान किया जाता है वह शत्रु के पराजय के निमित्त यज्ञ का और यजमान का कवच ही बनाया जाता है) इस प्रकार की फलद्योतक श्रुतियां अर्थवाद रूप हैं, वैसे ही यह समझो।

शंका—किसी विशेष विषय का आरंभ न करते हुए जब आत्म-ज्ञान का वर्णन श्रुति करती है तब प्रकरण आदि का तथा अन्य वैसा कोई हेतु उपलब्ध न होते हुए उसका यज्ञ से संबंध है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? यदि कहो कि कर्ता द्वारा उस ज्ञान का यज्ञ से संबंध है ऐसा [फल के] वाक्य से विदित होता है तो वह ठीक नहीं है क्योंकि उस वाक्य से ज्ञान का यज्ञ में विनियोग है ऐसा सिद्ध नहीं होता। अब विशिष्ट प्रकरण का आरंभ न करते हुए कहे हुए पदार्थों का यज्ञ से उस वाक्य में आये हुए किसी अव्यभिचारी पदार्थ के द्वारा संबंध प्रतिपादित किया जा सकता है परन्तु कर्ता तो लौकिक और वैदिक दोनों कर्मों का कर्ता होने से व्यभिचारी है इसलिये उससे यज्ञ के साथ आत्मज्ञान का संबंध सिद्ध नहीं होता।

समाधान [पूर्वपक्ष द्वारा] यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि देह से भिन्न ऐसे आत्मा का वैदिक कर्मों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपयोग नहीं होता। देह से भिन्न ऐसे आत्मा का ज्ञान लौकिक कर्मों में उपयोगी नहीं है, क्योंकि लौकिक कर्मों की प्रवृत्ति सर्वथा दृष्ट फल ही के निमित्त होती है। परन्तु वैदिक कर्मों का फल देह पात के अनंतर प्राप्त होता है इसलिये बिना

आत्मज्ञान के उस कर्म में प्रवृत्ति नहीं सिद्ध होती, इसलिये यहाँ पर देह से पृथक् ऐसे आत्मा का ज्ञान उपयोगी है। यदि कहो कि पापराहित्य आदि जो आत्मा के विशेषण दिये गये हैं उनसे उपनिषद में कहा हुआ ज्ञान असंसारी आत्मा से संवंध रखता है, इसलिये वह कर्म के अंग भूत नहीं होता, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति ने प्रिय आदि विशेषणों से सूचित संसारी आत्मा ही को (वह 'द्रष्टव्य' दर्शन करने योग्य है) ऐसा कहा है। अब पाप रहितत्व आदि जो विशेषण दिये हैं वे आत्मा की स्तुति के निमित्त हैं ऐसा मान सकते हैं। यदि कहो कि अधिक और असंसारी ब्रह्म ही जगत् का कारण है और वही संसारी आत्मा का स्वरूप है ऐसा उपनिषदों में कहा है और उसका वहाँ प्रतिपादन भी किया है तो कहते हैं कि वह प्रतिपादित किया है अवश्य और स्थूणानिखनन न्यायसे (गढ़े हुए खूँटे को हिला कर उसको जैसे और दृढ़ करते हैं वैसे) उसी को दृढ़ करने के लिये फल (के विचार) से उस पर आक्षेप लाते हुए सूत्रकार उसका समाधान करते हैं ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

आचारदर्शनात् [ज्ञानियों के] आचार श्रुति ने दिखाये हैं इससे [केवल ज्ञान से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता]।

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' [बृ० ३। १। १] (विदेह देश के राजा जनक ने बहुत दक्षिणा देते हुए यज्ञ किया), 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' [छां० ५। ११। ५] (हे भगवन्, मैं यज्ञ करने वाला हूं), इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य यद्यपि भिन्न है तो भी इनसे ब्रह्म ज्ञानियों का कर्मों से सम्बन्ध स्पष्ट दृग्गोचर होता है। वैसे ही, उद्दालक आदि

ऋषियों ने पुत्र को उपदेश देना आदि कर्म किये हैं जिससे उनका गृहस्थ धर्म के साथ सम्बन्ध था ऐसा विदित होता है। यदि केवल ज्ञान ही से पुरुषार्थ की सिद्धि होती तो जिनमें बहुत कष्ट पड़ते हैं ऐसे कर्म वे करते ही क्यों ? यदि पास ही मधु यानी शहत मिल जाय तो पर्वत पर क्यों जाय ? ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

तच्छ्रुतेः वैसी श्रुति होने से [केवल ज्ञान से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती]।

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [छां० १।१।१०] (जो कुछ श्रद्धा, विद्या और उपासना के साथ किया जाता है वह प्रवलतर होता है) इस श्रुति में विद्या कर्म का अंग है ऐसा कहा हुआ होने से केवल विद्या पुरुषार्थ की सिद्धि का हेतु नहीं बन सकती ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

समन्वारम्भणात् [विद्या और कर्म] साथ जाते हैं [ऐसा श्रुति में कहा हुआ होने से विद्या पुरुषार्थ का स्वतन्त्र हेतु नहीं है]।

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' [बृ० ४।४।२] (विद्या और कर्म उसके साथ जाते हैं) इस श्रुति में विद्या और कर्म दोनों साथ अपना फल देने को प्रारम्भ करते हैं ऐसा कथन होने से विद्या स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ का हेतु नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

तद्वतः उस [तत्त्व] को जानने वालों को **विधानात्**

[कर्म का अधिकार है ऐसा] विधान होने से [विद्या पुरुषार्थ का स्वतन्त्र हेतु नहीं है।

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभि समावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' [छां०८।१५।१] (जो आचार्य के घर रहकर गुरु के काम करते हुए बचे हुए समय में अध्ययन करके गृहस्थाश्रम में पवित्र स्थान में वेद पठन करता है) इत्यादि श्रुति सब वेदार्थ जानने वाले लोगों को कर्म का अधिकार है ऐसा दिखाती है। इससे ज्ञान स्वतंश रूप से फल का हेतु नहीं है ऐसा विदित होता है। यदि कहो कि 'अधीत्य' (अध्ययन करके) यह पद केवल वेद के अध्ययन यानी पठन से अभिप्राय रखता है उसके अर्थ विज्ञान से नहीं, तो भी दोष नहीं क्योंकि' वेद के अध्ययन का दृष्ट उपयोग होने से वह अध्ययन जब तक अर्थ का ज्ञान हो तब तक करना चाहिये ऐसा [पूर्व मीमांसा में ही] सिद्ध किया है ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

नियमात् नियम [का कथन] होने से **च** भी [विद्या कर्म के अंगभूत ही है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' [ईशा० २] (इस जगत् में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार भाव रखने से, अन्य किसी प्रकार से नहीं, तुझ में यानी मनुष्य मात्र में, कर्म का लेप नहीं लगेगा), तथा 'एतद्वै जरा मर्थ्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' (अग्निहोत्र जरा तथा मृत्यु प्राप्त होने

तक चलने का सत्र है, क्योंकि जरा प्राप्त होने से अथवा मृत्यु को प्राप्त होने ही से इससे मनुष्य मुक्त होता है) इस प्रकार के नियम होने से भी विद्या कर्म का अंश है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

इस पूर्वपक्ष पर अब सूत्रकार उत्तर देते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तु परन्तु **अधिकोपदेशात्** अधिक [आत्मा] का उपदेश किया हुआ होने से **बादरायणस्य** बादरायण आचार्य का मत एवं वैसा ही है; **तद्दर्शनात्** क्योंकि श्रुति भी ऐसा ही कहती है।

'तु (परन्तु) शब्द से पूर्वपक्ष का निराकरण सूचित होता है। [पूर्वपक्ष में] जो कहा है कि 'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' [ब्र० सू० ३।४।२] (आत्मा सब कर्म के अंगभूत होने से पुरुषार्थ प्रतिपादक श्रुति अर्थवादात्मक हैं) वह ठीक नहीं है। क्यों ? अधिक (आत्मा) का उपदेश श्रुति ने किया है इसलिये। यदि शरीर में रहने वाले कर्ता भोक्ता रूप संसारी आत्मा ही का उपनिषदों में वह शरीर से अतिरिक्त है ऐसा उपदेश दिया होता, तो ऊपर दी हुई श्रुतियां अर्थवाद रूप हो जातीं, परन्तु शरीरधारी आत्मा से अधिक, असंसारी, ईश्वर, कर्तृत्वादि धर्मों से रहित तथा पाप रहित आदि विशेषणों युक्त ऐसा परमात्मा वेदान्त ग्रंथों में ज्ञेय रूप से प्रतिपादित किया गया है, उसका ज्ञान कर्मों में प्रवृत्त करने वाला नहीं बन सकता, इतना ही नहीं, वह कर्मों का नाश करता है ऐसा 'उपमर्दंच' [ब्र० सू० ३।४।१६] इस सूत्र में आगे सूत्रकार कहेंगे। इसलिये 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्'

[ब्र० सू० ३।४।१] (इस से पुरुषार्थ सिद्धि होता है एसा श्रुति से विदित होता है यह जो वादरायणाचार्य का सिद्धान्त हैं वह स्थिर रहता है; 'ज्ञान कर्म के अंगभूत है' ऐसे ऐसे मिथ्या हेतुओं से वह बदल नहीं सकता। शरीरधारी आत्मा से अधिक ऐसे उस ईश्वर आत्मा का श्रुति इस प्रकार कथन करती है—'यः सर्वज्ञः सवीवित्' [मुण्ड० १।१।९] (जो सर्वज्ञ और सर्व वेत्ता है), भीषाऽस्माद्वातः पवतेः' [तै० २।८।१] (जिसके भय से वायु बहता है), 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' [कठ० २।६।२] (यह मारने के लिये उठाया हुआ एक महान वज्र है), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' [बृ० ३।८।९] (हे गार्गि, इस अक्षर के अधिकार में), 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छां० ६।२।३] (तब उसने ईक्षण किया कि मैं बहुत होऊं, प्रजा उत्पन्न करूं। ऐसा विचार कर उसने तेज उत्पन्न किया इत्यादि।

अब 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [बृ० २।४।५] (आत्मा ही के लिये सब कुछ प्रिय होता है आत्मा ही का दर्शन करना चाहिये), 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' [बृ० ३।४।१] (जो प्राण से जीवन धारण करता है वही सबके भीतर रहा हुआ तेरा आत्मा है), 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' [छां० ८।७।४] (यह जो आंख में पुरुष दीखता है), इत्यादि से प्रारंभ करके 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' [छां० ८।९।३] (अब उसी को मैं तुझसे फिर समझाता हूं) इत्यादि श्रुतियों में प्रिय आदि शब्दों से सूचित किया हुआ संसारी आत्मा ही ज्ञेय रूप से निर्दिष्ट किया है तो भी 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' [बृ० २।४।१०] (जो ऋग्वेद हैं वह इस महाभूत

का निःश्वास है), 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरांमृत्यु-मत्येति' [बृ० ३।५।१] (जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु के पार जाता है) 'परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणा-भिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' [छां० ८।१२।३] (पर ज्योति के प्रति प्राप्त होकर वह उत्तम पुरुष अपने स्वरूप से संपन्न होता है) इत्यादि वाक्य शेष द्वारा भी श्रुति का अधिक यानी परमात्मा कहने ही से अभिप्राय है और जीवात्मा का निर्देश केवल दोनों का अत्यंत अभेद है इतने ही अभिप्राय से है। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है। शरीर आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप ही परमात्मा का स्वरूप है और उसका शरीरत्व उपाधि कृत है ऐसा 'तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' [बृ० ३।८।११] (इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुति से विदित होता है। यह सब हम प्रसंग वंश कई स्थान पर पहले वर्णन कर चुके हैं ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

तु परन्तु **दर्शनम्** [ज्ञानी लोगों के आचार करने वाला] श्रुति प्रमाण **तुल्यम्** [उभय पक्ष को] समान है।

पूर्वपक्ष में जो कहा था कि ज्ञानी लोगों का आचार श्रुति में वर्णन किया है इसलिये ज्ञान कर्म का अंश है उसके विषय में कहते हैं कि यह आचार का निर्देश ज्ञान कर्म के अंगभूत नहीं है इस पक्ष के लिये भी समान है। श्रुति कहती है— 'एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्ये-ष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे' 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसो-ऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे' [कौ० २।५] (कावषेय ऋषि इस परब्रह्म को जानकर बोले हम किस लिये अध्ययन करे ? हम

किस लिये यज्ञ करें ? ऐसे उस ब्रह्म को जानकर ही पहिले ऋषियों ने अग्निहोत्र छोड़ दिया था) 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' [बृ० ३।५।१] (ऐसे उस आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, द्रव्यैषणा और लोकैषणा तीनों से निवृत्त होकर भिक्षा वृत्ति करते हैं) इत्यादि। याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्म वेत्ता लोग भी कर्म नहीं करते थे ऐसा 'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' [बृ० ४।५।१५] (अरे, इतना ही अमृतत्व है ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य ने संन्यास धारण किया) इस श्रुति से विदित होता है। तथा, 'यक्ष्यमाणो वै भगवंतोऽहमस्मि' [छां० ५।११।५] (हे भगवन् मैं यज्ञ करने वाला हूं) इस वाक्य में जो लिंग बताया है वह वैश्वानर विद्या के विषय में है। सोपाधिक ब्रह्म की उपासना में कर्म का योग होता है ऐसा श्रुति कहे, तो यह संभव है परन्तु उतने से वह विद्या कर्म के अंग भूत नहीं हो सकती, क्योंकि वहां प्रकरण आदि [के प्रमाण] का अभाव है ॥ ९ ॥

अब 'तच्छ्रुतेः' [ब्र० सू० ३।४।४] इस सूत्र के उत्तर में कहते हैं—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

असार्वत्रिकी [वह श्रुति] सार्वत्रिक नहीं है।

'यदेव विद्यया करोति' [छां० १।१।१०] (जो कुछ विद्या से करता है) यह श्रुति सब विद्याओं के विषय में नहीं है, क्योंकि वह प्रकृत विद्या के साथ संबंध रखती है। अत्र 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीथ' [छां० १।१।१] (ओम यह

अक्षर उद्गीथ है, उसकी उपासना करनी चाहिये) इत्यादि से यह उद्गीथ विद्या का प्रकरण है ।। १० ।।

विभागः शतवत् ।। ११ ।।

शतवत् सौ [वस्तुओं] के समान [विद्या और कर्म का] विभागः विभाग है।

पूर्वपक्ष में जो कहा था कि 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' [बृ० ४।४।२] (विद्या और कर्म उसके साथ २ जाते हैं) इस श्रुति में जो साथ जाने का निर्देश है वह विद्या स्वतंत्र रूप से पुरुपार्थ का हेतु न होने में हेतु रूप है, उसका अब प्रत्युत्तर देते हैं। यहां पर विद्या एक पुरुष के साथ जाती है और कर्म दूसरे पुरुप के साथ जाता है ऐसा कर्म और विद्या का विभाग है ऐसे समझना चाहिये, जैसे, सौ वस्तुओं के विषय में होता है। जैसे, 'इन दोनों को सौ पदार्थ दो' ऐसा कहने से एक को पचास और दूसरे को पचास दिये जाते हैं वैसे ही यह समझना चाहिये। और फिर इनके साथ साथ जाने का जो कथन है वह मुमुक्षु के संबंध में नहीं है, क्योंकि 'इति नु कामयमानः' [बृ० ४।४।६] (इस प्रकार इच्छा करने वाला) इस प्रकार श्रुति ने संसारी आत्मा का लक्ष्य रखते हुए उपसंहार किया है। और 'अथाकामयमानः'] बृ० ४।४६] (अब जिसको कुछ भी इच्छा नहीं है) इस प्रकार श्रुति मुमुक्षुओं के लिये स्वतन्त्र कथन प्रारम्भ करती है। वहां संसारी पुरुष के लिये जिस विद्या का ग्रहण होता है उसका विधि और निषेध के साथ ग्रहण किया जाता है, क्योंकि [यही एक विद्या ग्रहण की जाय ऐसा मानने के लिये] कोई विशेष हेतु नहीं बताया गया। कर्म भी विहित और निषिद्ध ऐसा दो प्रकार का होता

है और जो विद्या और जो कर्म अन्यत्र कहे हुए हैं उन्हीं का यहां पर अनुवाद (पुनर्निर्देश) है। इसलिये, 'साथ साथ जाते हैं' इस कथन में विभाग न भी माना जाय तो भी यह वाक्य सुसंगत होता है ॥ ११ ॥

अब पूर्वपक्ष में जो कहा है कि 'तद्वतो विधानात्' [ब्र० सू० ३।४।६] (ब्रह्म को जानने वाले को भी कार्य का अधिकार कहा है, इसलिये विद्या स्वतंत्र रूप से पुरुषार्थ का हेतु नहीं हो सकती) इसका उत्तर देते हैं—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

अध्ययनमात्रवतः केवल अध्ययन करने वाले के लिये [यह नियम बताया गया है]।

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' [छां० ८।१५।१] (आचार्य के गृह में वेदाध्ययन करके) इस श्रुति में केवल अध्ययन करने वाले का ही निर्देश होने से अध्ययन करने वाले के सम्बन्ध में ही यह कर्म का नियम कहा गया है ऐसा हम निर्णय करते हैं। यदि कहो कि ऐसा माने तो उसको ज्ञान के अभाव से कर्म में अधिकार नहीं रहेगा तो यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि कर्म का अधिकार प्राप्त होने के लिये आवश्यक ऐसे ज्ञान का हम निषेध नहीं करते, परन्तु उपनिषदों में कहे हुए आत्म ज्ञान का स्वतन्त्र ही प्रयोजन है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होने से वह कर्म के अधिकार में हेतु नहीं हो सकता इतना ही हम प्रतिपादन करते हैं। जैसे एक यज्ञ का ज्ञान अन्य यज्ञ करने के अधिकार प्राप्ति में हेतु भूत नहीं हो सकता, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ॥ १२ ॥

अब पूर्वपक्ष में जो कहा है कि 'नियमाच्च' [ब्र० सू० ३ । ४ । ७] (नियम के कथन से विद्या कर्म के अंगभूत है) उसका उत्तर देते हैं—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

अविशेषात् विशेष निर्देश न होने से **न** [वे नियम ज्ञानी के लिये] नहीं [कहे गये] हैं।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' [ईशा० २] (यहां कर्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिये) इत्यादि श्रुति में कर्म करने का जो नियम कहा है वहां 'विद्वान् को' ऐसा विशिष्ट रूप से कथन नहीं है; केवल सामान्य रूप से यह नियम बताया गया है ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

वा अथवा [यह कर्म की] **अनुमतिः** अनुमति] विद्या की] **स्तुतये** स्तुति के लिये है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' [ईशा० २] (यहां कर्म करते हुए ही) इस श्रुति में एक और भी विशेष बात कही है ऐसा कह सकते हैं। यद्यपि यहां प्रकरण के सामर्थ्य से 'विद्वान ही कर्म करते हुए' ऐसा अर्थ ग्रहण करना योग्य है तथापि विद्या की स्तुति के लिये यह कर्म की अनुज्ञा है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि 'न कर्म लिप्यते नरे' [ईशा० २] (उस पुरुष में कर्म नहीं लेपायमान होते) ऐसा आगे श्रुति कहती है। जीवन पर्यन्त विद्वान् पुरुष कर्म करता रहे तो भी वह कर्म उसको लेपायमान नहीं होता यह विद्या का सामर्थ्य है, यह उसका भाव है। इसलिये इस श्रुति से विद्या की स्तुति होती है ॥१४॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

च और **एके** कुछ लोक **कामकारेण** स्वेच्छापूर्वक आचरण करके [कर्म के लिये अनादर व्यक्त करते हैं]।

इतना ही नहीं कुछ ऐसे लोग, जिन्होंने विद्या के फल का साक्षात् अनुभव किया है, उस फल के बल पर प्रजा आदि जो अन्य फल के साधन हैं वे निरर्थक हैं ऐसा कहते हैं। स्वेच्छाचरण को प्रतिपादन करने वाली बृहदारण्यक की श्रुति इस प्रकार है—'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽमात्माऽयंलोकः' [बृ० ४।४।२२] (इसको जानकर पूर्वकाल में लोग प्रजा की इच्छा नहीं करते थे। वे कहते थे 'हमको आत्मा ही प्रत्यक्ष फल प्राप्त है हम प्रजा आदि से क्या करें ?)। अब विद्या का फल अनुभव गोचर है, अन्य विद्याओं के फल के समान अन्य काल में उसकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा हम कई बार कह चुके हैं। इससे भी विद्या कर्म के अंग भूत नहीं हो सकती और न विद्या का फल बताने वाली श्रुतियां अयथार्थ है ऐसा भी कह सकते हैं ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

च और **उपमर्दम्** [ज्ञान से कर्म का अधिकार] नष्ट होता है [ऐसा श्रुति कहती है]।

और कर्म के अधिकार को आधारभूत जो क्रिया करने वाला और उसका फल ये जिसमें होते है ऐसे समस्त अविद्याजनित प्रपंच का विद्या के सामर्थ्य से स्वरूप से नाश होता है ऐसा 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन क जिघ्रेत्' [बृ० २।४।१४] (जहां इसके लिये सब कुछ

आत्मा ही हो गया, फिर वहां कौन किससे देखे और कौन किससे सूंघे ?) इस वाक्य से श्रुति कथन करती है। अब जो कहता है कि वेदान्त ग्रंथों में कहे हुए ज्ञान को प्राप्त करने पर ही कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है तो उसके लिये तो उलटा वह अधिकार नष्ट ही हो जायगा। इसलिये भी विद्या पुरुषार्थ का स्वतन्त्र हेतु है ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

च और **ऊर्ध्वरेतःसु** ऊर्ध्व रेताओं के आश्रम के लिये भी [विद्या का उपदेश है] **हि** तथा **शब्दे** श्रुति स्मृति में [इसका वर्णन मिलता है]।

ऊर्ध्वरेताओं के आश्रम में (वानप्रस्थ वा संन्यास आश्रम में) भी ज्ञान होता है ऐसा श्रुति कहती है। अब वहां ज्ञान को कर्म का अंग होना संभव नहीं है, क्योंकि इस आश्रम में तो कर्म का अभाव है। अग्नि होत्रादि वैदिक कर्म उनके लिए विहित नहीं है। यदि कोई कहे कि ऊर्ध्वरेताओं के आश्रमों को वेद में कहीं उल्लेख ही नहीं है तो वह भी ठीक नहीं। उनका भी वैदिक साहित्य में निर्देश मिलता है, जैसे 'त्रयो धर्मस्कंधा' [छां० २।२३।१] (धर्म की तीन शाखाएँ हैं—अर्थात् धर्म के अनुसार चलने वाले तीन आश्रम हैं ब्रह्मचर्य गृहस्थ, और वानप्रस्थ), 'येचेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' [छां० ५।१०।१] (जो अरण्य में श्रद्धा और तप का आचरण करते हैं), तपः श्रद्धे ये ह्य पव सन्त्यरण्ये' [मु० १।२।११] (जो अरण्य में श्रद्धा और तप का आचरण करते हैं), 'एतमेव प्रव्राजिनोलोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' [बृ० ४।४।२२] इस (लोक की इच्छा करके ही संन्यासी लोक संन्यास ग्रहण करते

हैं), 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' [जा० ४] (ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं) इत्यादि । इसी प्रकार जिन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया है तथा जिन्होंने वैसा नहीं किया, जिन्होंने तीनों ऋण चुकाये हैं और जिन्होंने नहीं चुकाये हैं, ऐसे (सभी प्रकार के) ऊर्ध्वरेता होते हैं यह बात श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध है । इसलिये भी विद्या पुरुषार्थ का स्वतंत्र हेतु है ।। १७ ।।

२ परामर्शाधिकरण । सू० १८--२०

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ।। १८ ।।

परामर्शं [इन वाक्यों में अन्य आश्रमों का] परामर्श किया गया है **हि** ऐसा **जैमिनिः** जैमिनि आचार्य कहते हैं, **अचोदना** वे विधि वाक्य नहीं हैं **च** और [उनका अन्य श्रुति] **अपवदति** निषेध करती है ।

'त्रयोधर्मस्कंधाः' [छां० २।२३।१] (धर्म की तीन शाखाएँ हैं) इत्यादि वाक्य ऊर्ध्वरेताओं के आश्रम का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये दिये गये थे परन्तु वे उनका प्रतिपादन नही कर सकते क्योंकि उन वाक्यों में अन्य आश्रमों का केवल परामर्श यानी निर्देश किया गया है, विधि नहीं कहा गया ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है। (वे कहते हैं कि) इन श्रुतियों में लिंगादि का निदर्शक कोई भी विधिबोधक शब्द नहीं है तथा इन श्रुतियों का पृथक् २ तात्पर्य भी विदित होता है। 'त्रयो धर्मस्कंधाः' (धर्म की तीन शाखाएं हैं) इत्यादि श्रुति 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते

पुण्यरलोका भवन्ति [छां० २ । २३ । १] (यज्ञ, अध्ययन और दान यह प्रथम शाखा है, तप ही दूसरी शाखा है और आचार्य के घर रहकर वहीं अपनी शरीर यात्रा समाप्त करना यह तीसरी शाखा है । ये सब पुण्यलोक को प्राप्त होते हैं), इस वाक्य से अन्य आश्रमों को सर्व श्रेष्ठ फल (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं होतीं ऐसा कहते हुए आगे 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' [छां० २ । २३ । १] (ब्रह्मनिष्ठ अमृतत्व को प्राप्त होता है) इस वाक्य से ब्रह्मनिष्ठा का फल सब से श्रेष्ठ है ऐसा कह कर ब्रह्मनिष्ठा की स्तुति की गई है । यदि कहो कि आश्रमों का निर्देश करने से भी तो आश्रमों का अस्तित्व सिद्ध होता है तो वह ठीक है, स्मृति और आचार ग्रन्थों से उनके अस्तित्व की सिद्धि होती हैं परन्तु वैसी कोई प्रत्यक्ष श्रुति नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष श्रुति के विरोधी होने के कारण वे आदर के पात्र नहीं हो सकते अथवा जो कर्म के अधिकारी नहीं हैं (जैसे अन्धे, अपंग) उनके लिये यह कथन हो सकता है। यदि कहो कि 'यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमः' (यज्ञ, अध्ययन और दान यह प्रथम शाखा है) इस वाक्य में ऊर्ध्व रेताओं के साथ गृहस्थ आश्रम का भी परामर्श किया है तो वह ठीक है । तथापि अग्नि होत्र आदि कर्मों का गृहस्थों के लिये ही विधि कहा हुआ होने से गृहस्थ आश्रम का अस्तित्व श्रुति से सिद्ध होता है । इसलिये प्रकृत वाक्यों में जो अन्य (वानप्रस्थ संन्यास) आश्रमों का निर्देश किया है वह स्तुति के लिये ही किया गया है, विधि कहने के लिये नहीं, यही सिद्ध होता है ।

अतिरिक्त इसके श्रुति ने प्रत्यक्ष अन्य (वानप्रस्थ वा संन्यास) आश्रम का निषेध किया है जैसे, 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते' (जो अग्नि का त्याग करता है वह

देवों की हत्या करता है), 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजा-तन्तु मा व्यवच्छेत्सीः' [तै० १। ११। १] (आचार्य को प्रिय ऐसा धन देकर अपनी प्रजा का तन्तु मत टूटने दे यानी प्रजा का तन्तु बनाये रखने के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर), 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' जिसको पुत्र न हो उसको किसी लोक की प्राप्ति नहीं होती यह बात सब जीव जानते हैं) इत्यादि। वैसे ही, 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' [छां० ५। १०। १] (वे जो अरण्य में श्रद्धा और तप का आचरण करते हैं। और 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' [मु० १।२।११] (जो अरण्य में श्रद्धा और तप का आचरण करते हैं) इन वाक्यों में भी देवयान मार्ग का उपदेश किया गया है अन्य किसी आश्रम का नहीं। तथा, 'तप एव द्वितीयः' [छाँ० २। २३। १] (तप ही दूसरी शाखा है) इत्यादि वाक्यों में भी गार्हस्थ्य से अन्य किसी आश्रम का निर्देश संदिग्ध है। 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' [बृ० ४। ४। २२] (इसी लोक की इच्छा करते हुए संन्यासी लोग संन्यास ग्रहण करते हैं) यह वाक्य भी उस लोक की स्तुति पर है संन्यास की विधि का द्योतक नहीं। यदि कहो कि, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' [जा० ४] (ब्रह्मचर्य ही से संन्यास ग्रहण करे) इस जाबाल शाखा वालों की श्रुति में संन्यास का अत्यन्त स्पष्ट विधान प्रत्यक्ष मिलता है तो वह सत्य है परन्तु इस श्रुति को छोड़कर ही यह विचार किया गया है ऐसे समझना चाहिये ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनुष्ठेयम् [अन्य आश्रम का भी] अनुष्ठान करना

चाहिये [ऐसा] **बादरायणः** बादरायण आचार्य [कहते हैं] **साम्यश्रुतेः** क्योंकि श्रुति में [सबका] समान रूप से निर्देश है।

अन्य (अर्थात् वानप्रस्थादि) आश्रम का भी अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा बादरायणाचार्य का मत है, क्योंकि उसका वेद में निर्देश है। गृहस्थाश्रम के सदृश अन्य आश्रम भी इच्छा न होते हुए भी ग्रहण करने चाहिये ऐसा उनका मत है। इसलिये अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये ऐसा श्रुति का कथन होने से तथा उस श्रुति से इसका विरोध होने से उस अन्य आश्रम का अनुष्ठान (जिनको कर्म का अधिकार नहीं है ऐसे अन्ध आदि) अनधिकारी लोगों को करना चाहिये ऐसे उस (जैमिनी के) मत का वे त्याग करते हैं, क्योंकि श्रुति में दोनों का एकसा ही निर्देश किया है। 'त्रयो धर्मस्कंधाः' [छां० २।२३।१] (धर्म की तीन शाखाएँ हैं) इत्यादि श्रुतियों में गृहस्थाश्रम के साथ ही अन्य आश्रम का भी समान रूप से निर्देश किया है ऐसा दिखाई देता है। जैसे अन्य श्रुतियों में कहे हुए गृहस्थ धर्म का यहां पर परामर्श किया गया है वैसे ही अन्य श्रुति में कहे हुए अन्य आश्रम का भी यहां परामर्श किया गया है ऐसा समझना चाहिये। जैसे अन्य शास्त्रों में कहे हुए निवति (माला पहिनते हैं वैसे यज्ञोपवीत कंठ में धारण करना) और प्राचीनावीत (दाहिने कंधे से बाईं ओर यज्ञोपवीत धारण करना) इनका उपवीत (यज्ञोपवीत बाएँ कंधे से दाहिनी ओर धारण करना) का विधि कहने वाले वाक्य में ही तात्पर्य है, वैसे ही यहां पर समझना चाहिये। इसलिये, इससे

गृहस्थाश्रम के समान अन्य आश्रम का अनुष्ठान करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' [बृ० ४।४।२२] (इसी लोक की इच्छा करते हुए संन्यासी लोग संन्यास का ग्रहण करते हैं), इस वाक्य से संन्यास आश्रम का वेदाध्ययन आदि के साथ ही निर्देश किया गया है । 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' [छां० ५।१०।१] (जो अरण्य में श्रद्धा तप आदि का आचरण करते हैं) इस वाक्य में पंचाग्नि विद्या के साथ चतुर्थ आश्रम का निर्देश किया गया है ।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि 'तप एव द्वितीयः' [छां० २।२३।२] (तप ही दूसरी शाखा है) इत्यादि श्रुतियों में संन्यास आश्रम का निर्देश संदिग्ध रीति से किया है, उसका उत्तर यह है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि इस बात का निश्चय करने के लिये अन्य कारण विद्यमान है। 'त्रयोस्कंधाः' [छाँ० २।२३।१] (धर्म की तीन शाखाएँ हैं) इस श्रुति में धर्म के तीन स्कंध यानी तीन शाखाएँ हैं, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। अब भिन्न भिन्न विधि द्वारा होने वाले यज्ञादि जो बहुत से धर्म हैं उनका तीन आश्रमों के साथ सम्बन्ध न लगाते हुए वे तीन प्रकार के हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। वहां पर यज्ञ आदि कर्मों से प्रसिद्ध ऐसा गृहस्थाश्रम धर्म का एक स्कंध है। ब्रह्मचर्य इस दूसरे आश्रम का निर्देश भी स्पष्ट है। अब तप शब्द से भी जिसमें तप यह प्रधान अंग है ऐसे आश्रम से अतिरिक्त धर्म की कौनसी तीसरी शाखा का ग्रहण किया जायगा ? तथा'ये चेमेऽरण्ये' [छां० ५।१०।१] (ये जो अरण्य में) इस प्रकार अरण्य में रहना यह चिह्न भी मिलता है, इसलिये श्रद्धा और तप

से इस आश्रम ही का ग्रहण करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है। और प्रकृत वाक्यों में यद्यपि अन्य आश्रमों का ही निर्देश है तो भी संन्यास आश्रम का भी अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

वा अथवा, [संन्यास आश्रम का **विधिः** विधि कहा हुआ है ऐसा समझना चाहिये]; **धारणवत्** धारण करने के समान यह है।

अथवा, इन वाक्यों में संन्यास आश्रम का केवल निर्देश नहीं किन्तु यह विधि है। यदि कहो कि यहाँ विधि मान लिया जाय तो इनकी एक वाक्यता में भंग होगा। यहां पर पुण्यलोक की प्राप्ति यह धर्म की तीन शाखाओं का फल है, परन्तु ब्रह्मनिष्ठा का फल अमृतत्व है इस प्रकार एक वाक्यता स्पष्ट प्रतीत होती है, तो उसका उत्तर यह है कि यह सत्य है। एक वाक्यता की प्रतीति होते हुए भी उसका त्याग करके यहाँ पर विधि का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि यह विधि पहले कहीं भीं नहीं दिया गया है अर्थात् इसका अन्य कहीं विधि दिया हुआ दिखाई नही देता। तथा संन्यास आश्रम की इस वाक्य से स्पष्ट प्रतीति होती है, इसलिये यह वाक्य गुण वाद रूप है ऐसा मानकर उनकी एक वाक्यता करना ठीक नहीं। धारण करने के समान यह समझना चाहिये। जैसे, 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' (हवि के नीचे समिध धारण करते हुए वह हवि ले जाना चाहिये, क्योंकि वह देवों के लिये धारण करता है) इस वाक्य में नीचे समिध धारण करने के लिये कहा है, इस प्रकार की एक

वाक्यता यद्यपि प्रतीत होती है तो भी इसमें ऊपर धारण करने का ही विधि कहा हुआ है ऐसा निश्चित होता है, क्योंकि यही बात यहाँ पर अपूर्व है। यही बात (जैमिनि ने) शेष लक्षण के प्रकरण में 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' (परन्तु धारण करना यह बात अपूर्व होने से उसका यहां विधि ही कहा हुआ है) इस सूत्र से कही है इसी प्रकार यहाँ भी अन्य आश्रम का निर्देश किया हुआ है तो भी उसका विधि ही किया हुआ है, ऐसा मानना चाहिये।

यद्यपि अन्य (संन्यास) आश्रमों का इन श्रुतियों में निर्देश मात्र किया हुआ है तो भी ब्रह्मनिष्ठा की स्तुति उनमें की हुई है, इसलिये उसके बल पर ब्रह्मनिष्ठा का तो विधि अवश्य मानना पड़ेगा। अब यह ब्रह्मनिष्ठा चारों आश्रमों में चाहे किसी के लिये कही हुई है अथवा परिव्राजक के लिये कही हुई है इसका विचार करना चाहिये। यद्यपि ब्रह्मचर्य आश्रम तक आश्रमों का ही इन वाक्यों में परामर्श किया हुआ है तो भी इसके साथ ही परिव्राजक आश्रम का परामर्श होता है और ब्रह्मनिष्ठ आश्रमों के बाहर है ऐसा भी नहीं कह सकते इसलिये वह ब्रह्मनिष्ठ ऊपर कहे हुए चारों आश्रमों में से ही किसी आश्रम में होना चाहिये। अब यदि अन्य आश्रमों के साथ इस आश्रम का परामर्श नहीं किया ऐसा माने तो भी शेष रहा हुआ संन्यास ही ब्रह्मनिष्ठ है ऐसा सिद्ध होता है।

अब कोई यहां पर कहते हैं कि तप शब्द से वैखानस का बोध होता है और उससे संन्यासी का भी परामर्श होता है। परन्तु यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि बने वहां तक वानप्रस्थ ही का विशेष रूप से बोध करने वाले शब्द से संन्यासी का ग्रहण करना ठीक नहीं। जैसे श्रुति में ब्रह्मचारी और गृहस्थ

इनका अपने अपने धर्मों से परामर्श किया जाता है वैसे ही भिक्षु (संन्यासी) और वैखानस (वानप्रस्थ) इनका भी अपने अपने विशेष धर्मों ही से परामर्श किया है ऐसा कहना ही युक्त है। काया को कष्ट देना ही वानप्रस्थों में एक प्रधान बात होने से तप ही उसका विशेष धर्म है। तप शब्द इसी अर्थ में रूढ़ है। परन्तु इन्द्रियों का संयम करना आदि भिक्षु का धर्म है उसका कभी भी तप शब्द से निर्देश नहीं किया जाता। तथा आश्रम चार हैं ऐसा प्रसिद्ध होते हुए भी तीन ही हैं ऐसा मानना न्यायपूर्ण नहीं है। श्रुति ने भी 'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' (ये तीन पुण्यलोकों को प्राप्त होते हैं और एक अमृतत्व को प्राप्त होता है) इस प्रकार इनमें भेद बताया है और ये पृथक् हों तभी भेद का निर्देश युक्त होता है। देवदत्त और यज्ञदत्त मन्द बुद्धि वाले हैं और उनमें से एक अत्यन्त बुद्धिमान है ऐसा नहीं बन सकता परन्तु यह बन सकता हैं कि देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों मन्द बुद्धि वाले हैं और विष्णुदत्त महा बुद्धिमान है। इसी प्रकार पहिले तीन आश्रम वाले पुण्यलोकों को प्राप्त होते हैं और शेष रहा हुआ परिव्राजक अमृतत्व को प्राप्त होता है।

शंका—ब्रह्मनिष्ठ शब्द मूल अर्थ ही में प्रयोजित होता है इसलिये वह सब आश्रमों के लिये लग सकता है फिर यहां पर केवल संन्यासी के लिये ही किस प्रकार लगा सकते हैं ? और यदि वह रूढ अर्थ में ही प्रयोजित किया है ऐसा माने तो केवल आश्रम ग्रहण करने ही से अमृतत्व की प्राप्ति होने से ज्ञान निरर्थक हो जायगा।

समाधान—ब्रह्मसंस्थ का अर्थ है ब्रह्म में तत्पर हो जाना, अन्य व्यापार से रहित होकर उसी मय हो जाना, इसी का नाम ब्रह्मनिष्ठा है। यह तीनों आश्रमों में संभव नहीं है, क्योंकि उनको अपने अपने आश्रम विहित कर्मों के न करने से दोष होता है ऐसा श्रुति कहती है, परन्तु परिव्राजक ने सर्व कर्मों का संन्यास किया हुआ होने से उसको उनके न करने का दोष नहीं प्राप्त हो सकता। और शम दम आदि जो उस आश्रम के धर्म हैं, वे ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त करने में साधन रूप हैं, विरोधी नहीं। परिव्राजक की ब्रह्मनिष्ठा को बढ़ाने वाला शम दमादि धर्म ही उसका आश्रम विहित कर्म है और अन्य आश्रम वालों के लिये यज्ञ आदि कर्म हैं जिनके न करने से वे अवश्य दोष के भागी होंगे। श्रति भी ऐसा ही कहती है, जैसे, 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्'] नारा० ७८] (संन्यास ब्रह्मा है, क्योंकि ब्रह्मा पर है और पर ब्रह्मा है। वे सब तप गौण हैं उनसे संन्यास ही श्रेष्ठ है), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' [मुं० ३ । २ । ६, नारा० १२ । ३, कैवल्य ३] (वेदान्त के ज्ञान से जिन्होंने तत्व का भली प्रकार निश्चय किया है और संन्यास रूप योग से जिन यतियों का अन्तःकरण शुद्ध हुआ है) इत्यादि। 'तद्बुद्धयस्त-दात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' [गी० ५ । १७] (उसी में बुद्धि लगाने वाले, उसी को अपना स्वरूप मानने वाले, उसी में सदा निष्ठा रखने वाले और उसी में तत्पर रहने वाले) इत्यादि स्मृति भी ब्रह्मनिष्ठा के लिये कर्म का अभाव होता है ऐसा दिखाती है। इसलिये केवल परिव्राजक का आश्रम ग्रहण करने ही से अमृतत्व की प्राप्ति होगी तो ज्ञान व्यर्थ हो जायगा

यह दोष भी नहीं प्राप्त होता। तथा, अन्य आश्रमों के परामर्श में भी ब्रह्मनिष्ठात्म परिब्राजकों के आश्रम की उपलब्धि होती है। अन्य आश्रम (संन्यास) के विधि का प्रतिपादन करने वाली जाबाल श्रुति की अपेक्षा न रखते हुए ही आचार्य ने यह विचार किया है; परन्तु अन्य आश्रम के लिये श्रुति भी प्रत्यक्ष वर्तमान है। 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' [जाबा० ४] (ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ हो जाय, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास ग्रहण करे अथवा गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से)। यह श्रुति अनधिकारी यानी जिनको कर्म का अधिकार नहीं है ऐसे लोगों के लिये है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह सामान्य रूप से (सबके लिये) उसका उपदेश करती है। तथा अनधिकारियों के लिये उसमें पृथक् विधान भी किया गया है जैसे, 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सान्नाग्निरनग्निको वा' [जाबा० ४] (अब आगे वह व्रती यानी ब्रह्मचारी हो या अव्रती, स्तानक यानी गृहस्थ हो या अस्नातक यानी ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ धर्म में प्रवेश न हुआ हो, उसके अग्नि नष्ट हुए हों अथवा वह अग्नि रहित हो) इत्यादि। दूसरे, ब्रह्मज्ञान परिपक होने में परिव्राजक आश्रम उपयोगी होने से वह अनधिकारियों के लिये नहीं कहा जा सकता। यही श्रुति दिखाती है—'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिर-द्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' [जाबा० ५] (विशिष्ट रंग के वस्त्र धारण करने वाला, मुंडन किया हुआ, कुछ भी पास न रखने वाला, पवित्र, अद्रोही और भिक्षा वृत्ति वाला

संन्यासी ब्रह्मत्व के योग्य होता है)। इस प्रकार ऊर्ध्वरताओं के आश्रम की सिद्धि हुई और ऊर्ध्वरेताओं के लिये विद्या का विधान होने से विद्या की (कर्म से) स्वतन्त्रता भी सिद्ध हुई ॥ २० ॥

३ स्तुतिमात्राधिकरण। सू० २१-२२

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

उपादानात् [कर्म के अंगों के] ग्रहण से [उद्गीथ आदि सम्बन्धी श्रुतियां] **स्तुतिमात्रम्** केवल स्तुति रूप हैं इति ऐसा **चेत्** [कहो] तो **न** वैसा नहीं है, **अपूर्वत्वात्** क्योंकि उसमें अपूर्व बातों का कथन है।

'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः' [छां० १।१।३] (वही यह उद्गीथ रसों में उत्तम रस, श्रेष्ठ, उत्तम स्थान के योग्य और रसों में आठवां रस है), 'इयमेवर्गग्निः साम' [छां० १।६।१] (यह यानी पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है), 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी' (यह चयन किया हुआ अग्नि ही यह लोक है और जो यह पृथिवी है वही यह उक्थ है) इत्यादि प्रकार की श्रुतियां उद्गीथ आदि की स्तुति के निमित्त हैं अथवा इनसे उपासनाओं के विधि प्रतिपादन किये गये हैं ऐसा संशय उत्पन्न होने पर कहते हैं—

पूर्वपक्ष—ये श्रुतियां स्तुति के निमित्त ही हैं ऐसा मानना युक्त है; क्योंकि उद्गीथ आदि को कर्मांगरूप से ग्रहण करके ही उनका श्रुति निर्देश करती है, जैसे 'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः' (यही अर्थात् पृथिवी ही जुहू है,

आदित्य कूर्म है यानी कूर्माकार ही अग्निकुण्ड है और स्वर्गलोक आहवनीय है) इत्यादि श्रुति जुहू आदि की स्तुति के लिये है, वैसे ही यहां पर जानो ।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है। इन श्रुतियों का प्रयोजन केवल स्तुति करने का ही है ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि इनमें अपूर्व का यानी अन्यत्र न कही हुई बात का कथन है। इनको विधि दर्शक मानने से ही इनमें अपूर्व का कथन बन सकता है और इनको स्तुत्यर्थ कहें तो वे निरर्थक ही सिद्ध होंगी। विधि वाक्यों के अंगभूत होकर ही स्तुति वाक्य उपयोगी होते हैं ऐसा 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेनां विधीनां स्युः' [पू० मी० १।१।७] (विधि वाक्यों के साथ एकता होने से वे विधि की स्तुति के ही प्रयोजन से है) इस सूत्र से कहा गया है। परन्तु एक प्रदेश में विधान किये हुए उद्गीथ आदि की अन्य स्थान में की हुई यह स्तुति विधि के अंगभूत न होने से वह निरर्थक ही हो जायगी। अब 'इयमेव जुहू' (यही यानी पृथिवी ही जुहू है) इत्यादि वाक्य विधि वाक्यों के पास ही दिये हुए हैं यह इनमें और उनमें वैषम्य है। इसलिये इस प्रकार की श्रुतियां विधि दर्शक ही है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

भावशब्दात् भावना बोधक शब्द होने से **च** भी [ये श्रुतियां विधिबोधक ही हैं]।

'उद्गीथमुपासीत' [छां० १।१।१] (उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये), 'सामोपासीत' [छाँ० २।२।१] (साम की उपासना करनी चाहिये), 'अहमुक्थमस्मीति

विद्यात्' (मैं उक्थ हूं ऐसा जानों) इत्यादि विधि वाक्य अत्यन्त स्पष्ट है। केवल स्तुति के लिये ही इनका प्रयोजन माने तो वे निरर्थक हो जांयगे। न्याय वेत्ताओं का भी यही कथन है कि 'कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पंचमम्। एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥' (करें, किया जाय, करना चाहिये, बने, हो, ये पाँच सब वेदों में सर्वदा विधि के ही द्योतक होते हैं) तथा, प्रत्येक प्रकरण फलों की भी श्रुति है जैसे, 'आपयिता ह वै कामनां भवति' [छां० १।१।७] (वह अवश्य इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होता है), 'एष ह्येव कामगानस्येष्टे' [छां० १।७।९] (यही सामगायन करके इच्छा पूर्ण करने में समर्थ होता है), 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' [छाँ० २।२।३] (ऊपर के और नीचे के लोक उसके लिये भोग देने में समर्थ होते हैं) इत्यादि। इसलिये भी उपासनाविधि की बोधक ही उद्गीथ आदि की श्रुतियाँ है ॥ २२ ॥

४ पारिप्लवाधिकरण। सू० २३-२४

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

पारिप्लवार्थाः [वैदिक आख्यान] पारिप्लव नामक प्रयोग के लिये है **इति** ऐसा **चेत्** यदि कहो तो **न** वह ठीक नहीं **विशेषितत्वात्** क्योंकि [श्रुति में] विशेष का कथन है।

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये वभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' [बृ० ४।५।१] (याज्ञवल्क्य ऋषि की दो स्त्रियां थीं मैत्रेयी और कात्यायनी), 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' [कौषी० ३ । १] (दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन इन्द्र के प्रिय गृह को गया), 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्र द्धादेयो

बहुदायी बहुपाक्य आस' [छां० ४ । १ । १ [(जानश्रुति जनश्रुति के पौत्र का पुत्र था। वह श्रद्धापूर्वक दान देता, बहुत दान देता और उसके यहां भोजनार्थियों के लिये बहुत अन्न रंधता था) इत्यादि वेदान्त ग्रन्थों में दिये हुए आख्यानों के विषय में संशय होता है कि क्या ये आख्यान पारिप्लव नामक याज्ञिक प्रयोग के निमित्त हैं (अश्वमेध यज्ञ में तीन दिन वैदिक आख्यान सुनाये जाते हैं, इसको पारिप्लव प्रयोग कहते हैं) अथवा समीप ही वर्णित विद्याओं के समझाने के लिये हैं।

पूर्वपक्ष—ये आख्यान की श्रुतियाँ पारिप्लव नामक प्रयोग के निमित्त ही हैं, क्योंकि ये आख्यान इतर आख्यानों के समान ही है और आख्यानों का पारिप्लव में प्रयोग किया जाय ऐसा विधि है। इसलिये इन वेदान्त के आख्यानों में विद्या की प्रधानता नहीं हो सकती, क्योंकि मन्त्रों के समान ये भी उस प्रयोग ही के अंग हैं।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति में इनके सम्बन्ध में विशेष कथन है। 'पारिप्लवमाचक्षीत' (पारिप्लव को कहे) ऐसा प्रकरण प्रारम्भ करके आगे 'मनुर्वैवस्वतो राजा' (वैवस्वत राजा मनु) इत्यादि प्रकार के कुछ विशेष आख्यानों का ही वहां पर निर्देश किया गया है। आख्यान रूप से सब आख्यान समान हैं ऐसा कहकर यदि सभी आख्यानों का यहाँ पर ग्रहण होगा तो यहां दिया हुआ विशेष कथन निरर्थक ही हो जायगा। इसलिये इन आख्यानों की श्रुतियां पारिप्लव के प्रयोग के लिये नहीं है॥ २३॥

तथा चैकवाक्यतोपबंधात् ॥ २४ ॥

तथा वैसे ही, **एकवाक्यतोपबंधात्** एक वाक्य होने से **च** भी [वैदिक आख्यान विद्या के बोध के निमित्त हैं]।

ये वैदिक आख्यान यदि पारिप्लव के प्रयोग के लिये नहीं हैं, तो समीप ही प्रतिपादन की हुई उपासनाओं के समझने के लिये ये हैं ऐसा मानना ही युक्त है, क्योंकि जहाँ जहां ये आख्यान आये हैं वहाँ वहां उनके समीप ही कही हुई उपासनाओं से उनकी एक वाक्यता दिखाई देती है तथा इनसे विषय रोचक हो जाता है और समझने में भी सुगमता होती है। मैत्रेयी ब्राह्मण में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [बृ० ४।५।६[(आत्मा का दर्शन करना चाहिये) इत्यादि विद्या की आख्यानों से एक वाक्यता दिखाई देती है। प्रतर्दन के आख्यान में भी 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' [कौ० ३।२] (मैं प्रत्यगात्मा प्राण हूं) इस प्रकार विद्या से एक वाक्यता है। जान श्रुति के आख्यान में 'वायुर्वाव संवर्गः' [छाँ० ४।३।१] (वायु ही संहार करने वाला है) इत्यादि वाक्यों से एक वाक्यता है। जैसे, 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (उसने अपना मेद निकाल लिया) इत्यादि प्रकार के कर्म प्रतिपादक आख्यानों का समीप ही कहे हुए विधि की स्तुति में उपयोग है वैसे ही यहाँ समझो। इसलिये ये आख्यान पारिप्लव प्रयोग के लिये नहीं है ॥ २४ ॥

५ अग्निन्धनाद्यधिकरण।

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

अतएव च इसलिये ही **अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा** अग्नि को प्रदीप्त करना आदि कर्मों की [विद्या में] आवश्यकता नहीं है।

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' [ब्र० सू० ३।४।१] (इससे पुरुषार्थ की सिद्धि होती है ऐसा श्रुति से विदित होता है),

ऐसा जो पाद के आरम्भ में ही कहा था उसी का 'अतः' (इसलिये) इस शब्द से परामर्श किया गया। यद्यपि वह बहुत दूर है तो भी वही संभव है। (अब सूत्र का अर्थ देते हैं—) इसीलिये यानी विद्या पुरुषार्थ का स्वतंत्र कारण है, इसी लिये 'अग्नि प्रज्वलित करना' आदि जो आश्रमानुसारी कर्मों की विद्या का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये कोई उपयोग नहीं है। इस प्रकार इस विषय का अधिक विचार करने के लिये पूर्व अधिकरण के फल को कह कर उपसंहार करते हैं ॥ २५ ॥

६ सर्वापेक्षाधिकरण। सू० २६-२७।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

यज्ञादिश्रुतेः यज्ञादि कर्म [साधन रूप से] श्रुति में कहे हैं इसलिये [विद्या के लिये] **च** भी **सर्वापेक्षा** सर्व कर्मों की आवश्यकता है, **अश्ववत्** अश्व के समान [उसको समझो]।

अब इस बात का विचार किया जाता है कि क्या आश्रम विहित कर्मों की विद्या में स्वल्प भी आवश्यकता नहीं है अथवा कुछ अंश में उसकी आवश्यकता है। अब (विद्या पुरुषार्थ का स्वतन्त्र कारण है) इसीलिये विद्या को अपना अर्थ सिद्ध करने के लिये अग्नि को प्रज्वलित करना आदि आश्रम विहित कर्मों की कोई भी आवश्यकता नहीं है और इस प्रकार विद्या में कर्म की स्वल्प भी आवश्यकता नहीं है ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार कहते हैं—

'सर्वापेक्षा च०' (सब कर्मों की आवश्यकता है) इत्यादि। आश्रमों के अनुसार सब कर्मों की विद्या में आवश्यता है, इनकी

विद्या के लिये स्वल्प भी आवश्यकता न हो यह बात नहीं है। यदि कहो कि विद्या के लिये आश्रम विहित कर्मों की आवश्यकता है और नहीं भी; यह कहना परस्पर विरुद्ध है तो उत्तर देते हैं कि वैसा नहीं है। विद्या की उत्पत्ति होने पर उसका फल प्राप्त होने में और किसी की अपेक्षा नहीं है, परन्तु उसके उत्पन्न होने के लिये इनकी आवश्यकता है। इसीलिये यज्ञादि का श्रुति उपदेश करती है। वह श्रुति इस प्रकार है—तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' [बृ० ४ । ४ । २२] (ऐसे उस आत्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन यज्ञ, दान और उपवास रूप तपसे जानने की इच्छा रखते हैं)। यह श्रुति यज्ञादि कर्म विद्या के साधन हैं, ऐसा दिखाती है। श्रुति में जानने की इच्छा के साथ इन कर्मों का सम्बन्ध रखा है, इसलिये ये सब विद्या की उत्पत्ति के साधन हैं ऐसा भाव प्रकट होता है। 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' [छां० ८ । ५ । १] (जिसको यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है) इस श्रुति में विद्या के साधन भूत ब्रह्मचर्य का यज्ञ आदि से सम्वन्ध कहा होने से यज्ञादि भी विद्या के साधन हैं ऐसा सूचित होता है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि' [कठ० २ । १५] (जिस पद का सब वेद वर्णन करते हैं, जिसके लिये सब तप किये जाते हैं, जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है वह पद मैं तुझसे संक्षेप से कहता हूं) इत्यादि प्रकार की श्रुतियां आश्रमों के कर्म विद्या के साधन हैं ऐसा सूचित करती हैं। स्मृति भी यही कहती है, जैसे, 'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' (कर्म मल की शुद्धि है

यानी कर्मों से अन्तःकरण के दोषों की निवृत्ति होती है, परन्तु उत्तम गति ही ज्ञान है। कर्मों द्वारा कषाय शुद्ध होने पर ज्ञान प्रवृत्त होता है) इत्यादि।

अश्व के समान यह है यह दृष्टांत योग्यता के सम्बन्ध में दिया गया है। जैसे अश्व को उसकीं योग्यता देखकर हल में नहीं जोतते रथ में जोतते हैं, इसी प्रकार आश्रम विहित कर्म विद्या के लिये अपना फल उत्पन्न करने में भले उपयोगी न हो, परन्तु उत्पत्ति में उनकी आवश्यकता होती है ॥ २६ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेयस्तदंगतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

तथापि तथापि **शमदमाद्युपेतः** [मुमुक्षु को] शम दम आदि से युक्त **स्यात्** होना चाहिये **तु** क्योंकि **तदंगतया** [विद्या के] साधन रूप से **तद्विधेः** उनका विधि कहा हुआ होने से **तेषाम्** उनका **अवश्यानुष्ठेयत्वात्** अनुष्ठान करना आवश्यक है।

यदि कोई कहेगा कि यज्ञ आदि विद्या के साधन हैं ऐसा कहना न्याय युक्त नहीं है क्योंकि वैसा कहीं भीं विधान नहीं है। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' (यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि प्रकार की श्रुति अनुवाद रूप है और यह विद्या ऐसी भाग्यदायी है कि यज्ञ आदि से इसको प्राप्त करने की लोक इच्छा करते हैं, इस प्रकार उस विद्या की प्रशंसा करना ही उसका अभिप्राय है तो उस पर उत्तर देते हैं कि ऐसा हो तो भी जो विद्या को प्राप्त करना चाहे उसको शम दम आदि से युक्त होना चाहिये ऐसा 'तस्मादेवंविच्छांतो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' [बृ० ४।४।२३[

(इसलिये जो यह जानता है वह शम, दम, उपरति और तितिक्षा से युक्त होकर समाहित होता हुआ अपने ही में आत्मा का दर्शन करता है) इस श्रुति में शम दम आदि का विद्या प्राप्ति के निमित्त विधान किया है और जिसका विधान किया हो उसका अनुष्ठान भी अवश्य करना चाहिये। यदि कोई कहे कि यहां पर भी 'शम दमादि से युक्त होकर आत्मा को देखता है' ऐसा वर्तमान काल वाचक प्रयोग है, विधि दर्शक प्रयोग नहीं है तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'इसलिये' इस शब्द से प्रकृत विषय ही की प्रशंसा का ग्रहण हो सकता है इसलिये यहां पर विधि का कथन है ऐसा प्रतीत होता है। माध्यंदिन शाखा में तो (आत्मा का) दर्शन करना चाहिये ऐसा बहुत स्पष्ट रूप से विधि कहा है। इसलिये यज्ञ आदि की आवश्यकता न हो तो भी शम दम आदि की आवश्यकता है।

अब यज्ञ आदि की भी आवश्यकता है ऐसा यज्ञ आदि की श्रुति ही से सिद्ध होता है। यदि कहो कि यज्ञ आदि से जानने की इच्छा करते हैं ऐसा जो श्रुति में कहा उससे विधि की प्राप्ति नहीं होती ऐसा (पूर्वपक्ष में) कह चुके हैं तो वह ठीक है परन्तु (यज्ञ आदि का जानने की इच्छा के साथ) सम्बन्ध कहा है वह अपूर्व होने से उसका यहां विधि ही है ऐसा मानना पड़ेगा। इस यज्ञ आदि का जानने की इच्छा के साथ सम्बन्ध पहिले कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है जिसका अनुवाद यहां पर किया गया है ऐसा माना जाय। इसलिये 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' (इसलिये पूषा को अच्छा चूर्ण किया हुआ भाग मिलता है, क्योंकि उसको दांत नहीं हैं) इत्यादि वाक्यों में भी (यह वाक्य दर्शपूर्ण मास इष्टि के प्रकरण में कहा है) विधि का कथन नहीं है, परन्तु यहां अपूर्व का कथन होने से

उसका यहां पर विधि है ऐसा मानकर पूषा के लिये (दर्श-पूर्णमास की) विकृतियों में (यानी उनके आधार पर किये हुए अन्य प्रयोगों में) पूषा के भाग का चूर्ण करना चाहिये इत्यादि विचार पूर्व मीमांसा में किया गया है [जै० ३।३।३४]। यही बात 'विधिर्वा धारणवत्' [ब्र० सू० ३।४।२०] इस सूत्र में कही हुई है। भगवद्गीता आदि स्मृतियों में भी फल की इच्छा न करके किये हुए यज्ञ आदि कर्म मुमुक्षु के लिये ज्ञान प्राप्ति में साधन रूप होते हैं ऐसा विस्तार पूर्वक कहा है। इसलिये यज्ञ आदि कर्म तथा शम दम भी जिस जिस आश्रम में जैसे कहे हुए हैं उन सभी आश्रम कर्मों की विद्या प्राप्त करने में आवश्यकता है। वहां भी 'जो ऐसा जानता है' इत्यादि वाक्य में शम दम आदि का विद्या के साथ सम्बन्ध होने से वे ज्ञान के निकट या अंतरंग साधन है और जानने की इच्छा के साथ यज्ञ आदि कर्मों का संयोग होने से वे वाह्य साधन है यह भेद याद रखना चाहिये ॥ २७ ॥

७ सर्वान्नानुमत्यधिकरण । सू० २८-३१

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

प्राणात्यये प्राण संकट प्राप्त होने पर **च** ही **सर्वान्नानुमतिः** सब अन्न खाने के लिये अनुमति है; **तद्दर्शनात्** क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है।

छन्दोग शाखा के प्राण संवाद में लिखा है। 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' [छां० ५।२।१] (जो ऐसा जानता है उसके लिये कुछ भी नहीं है जो उसका अन्न न हो) वैसे ही वाजसनेयी शाखा के प्राण संवाद में कहा है, न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' [बृ० ६।१।१४]

(उससे कुछ भी नहीं खाया जाता जो अन्न नहीं है, न उससे किसी वस्तु का ग्रहण होता है जो उसका अन्न न हो), इसका भावार्थ यह है कि सब कुछ उसके लिये भक्ष्य हो जाता है। अब यहाँ पर सब अन्न खाने की श्रुति अनुमति देती है, तो क्या शम दम आदि के समान विद्या के साधन रूप से उसका विधि कहा गया है अथवा केवल (विद्या की) स्तुति के लिए ऐसा किया गया है।

पूर्वपक्ष—इसका विधि ही कहा है, क्योंकि यह उपदेश विशेष प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है और यह प्राण विद्या के संनिधि में कहा हुआ होने से उसी के अंग रूप से यह (सामान्य) नियम की निवृत्ति कही गई है। यदि कहो कि ऐसा मानने से भक्ष्याभक्ष्य का नियम् बताने वाले शास्त्रो का निषेध होगा तो यह दोष नहीं प्राप्त होता। सामान्य और विशेष इस भाव से यह बाध सम्भव है, जैसे प्राणियों की हिंसा करने के निषेध का (यज्ञ में) पशु मारने की विधि से बाध होता है। वामदेव्य विद्या में 'न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्' [छाँ० २।१३।२] (किसी स्त्री का त्याग न करना चाहिये) ऐसा जो सब स्त्रियों के अत्याग का वचन है उससे किस स्त्री के पास जाना चाहिये और किसके पास नहीं, इस बात का विभाग बताने वाले सामान्य शास्त्र का बाध होता है। इसी प्रकार इस प्राण विद्या में आये हुए सब अन्न भक्षण करने के वचन से भक्ष्याभक्ष्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का बाध हो जायगा।

समाधान—यहाँ पर सब अन्न खाने की अनुमति दी है वह विधि रूप नहीं है क्योंकि 'न ह वा एवं विदि किंचनानन्नं भवति

[छा० ५।२।१] (जो ऐसा जानता है उसके लिए ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसका अन्न न हो) इस वाक्य में वर्तमानकाल का प्रयोग होने से विधि बताने वाला कोई भी शब्द इसमें नहीं मिलता। अब यहाँ विधि की प्रतीति नहीं होती तो भी विशेष प्रकार की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले उपदेश के लोभ से यहाँ विधि मानना सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, श्वान आदि का भी जो अन्न है वह प्राण का अन्न है ऐसा कहकर आगे कहा है कि 'नैवंविदः किंचिदनन्नं भवति [छाँ० ५।२।१] (जो ऐसा जानता है उसके लिये ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसका अन्न न हो)। अब श्वान आदि का भी जो अन्न है वह मनुष्य शरीर सें खाना असम्भव है, परन्तु यह सब प्राण का अन्न है ऐसा समझ सकते हैं। इसलिये प्राण का ही सब अन्न है इस ज्ञान के प्रशंसा के लिये यह अर्थवाद वाक्य है, सब अन्न भक्षण करने की अनुज्ञा का यह विधि नहीं है। यही बात सूत्रकार दर्शाते हैं कि 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' (केवल प्राण संकट प्राप्त होने पर ही सब अन्न खाने की अनुमति है। इस सूत्र का अर्थ यह है—प्राण संकट प्राप्त होने पर यानी ऐसी महान् आपदा आने पर ही कुछ भी खाने की आज्ञा दी गई है, ऐसा श्रुति का कथन है। इसी प्रकार चाक्रायण ऋषि अकाल पड़ने पर अभक्ष्यभक्षण करने में प्रवृत्त हुआ ऐसा 'मटचीहतेषु कुरुषु' [छां० १।१०।१] (टीडी दल से कुरु देश की खेती नष्ट होने पर) इत्यादि ब्राह्मण में श्रुति कहती हैं। उसमें कहा है कि चाक्रायण नामक ऋषि था, वह प्राण संकट प्राप्त होने पर उसने महावत के झूठे कुल्माष खाये परन्तु उसका पानी वह झूठा है ऐसा कहकर उसने नहीं पिया। इसका उसने कारण यह बताया कि 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्'

[छां १।१०।४] (मैं इसको न खाता तो जी ही नहीं सकता था), 'कामो य उदपानम्' [छां० १।१०।४] (जल मैं चाहे जहाँ पीऊँगा) । आगे दूसरे दिन भी उसने अपने और उसके भूठे कुल्माष फिर खाये । अब ये भूठे का भी भूठा खाने का जो श्रुति ने निर्देश किया है उससे श्रुति का भीतरी अभिप्राय यही दिखाई देता है कि प्राण संकट प्राप्त होने पर प्राण धारण करने के निमित्त अभक्ष्य का भी भक्षण कर सकते हैं । परन्तु स्वस्थ अवस्था में ज्ञानी पुरुष को भी वैसा न करना चाहिये ऐसा उसने जलका निषेध किया इस बात को बताकर श्रुति कहती है । इसलिये 'न ह वा एवंविदि' [छां ५।२।२] (जो ऐसा जानता है ई०) इत्यादि प्रकार के वाक्य अर्थवाद रूप हैं ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

च और **अबधात्** बाध न होने से [प्रकृत वाक्य अर्थवाद रूप है] ।

और ऐसा माने तभी शुद्ध आहार से अंतःकरण की शुद्धि होती है इत्यादि भक्ष्याभक्ष्य निर्णय करने वाला शास्त्र अबाधित रहता है ॥ २९ ॥

अपिच स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपिच अथा **स्मर्यते** स्मृति में भी [यही बात] कही है ।

तथा आपत्काल में सब अन्न भक्षण करने के लिये विद्वान् और अविद्वान् दोनों के लिये सामान्य रूप से स्मृति में कहा गया है जैसे, 'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥' (जीवन आपत्ति में फंसने

पर जो कोई जहां कहीं से भी अन्न खा लेता है तो उसको किंचित् भी पाप स्पर्श नहीं करता, जैसे कमल के पत्ते को जल स्पर्श नहीं करता)। तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः' (ब्राह्मण के लिये मद्य नित्य वर्जित है), 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिंचेयुः' (मद्य पीने वाले ब्राह्मण के मुख में अत्यंत उष्ण मद्य डालनी चाहिये), 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' (मद्य पीने वाले अभक्ष्य भक्षण करते हैं इसलिये वे कीड़े होते हैं), इत्यादि स्मृतियों में जो अन्न नहीं है उसको वर्जित करने के लिये लिखा है ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

च और **अतः** इसलिये **अकामकारे** स्वेच्छाचार का निषेध करने वाली **शब्दः** श्रुतिः [उपपन्न होती है]।

और इसलिये स्वेच्छाचार की निवृत्ति करने वाली और जो अन्न नहीं है उसके निषेध करने के लिए काठक संहिता में श्रुति दी गई है कि 'तस्मात् ब्राह्मणःसुराँ न पिवेत्' (इसलिए ब्राह्मण सुरापान न करे), वह श्रुति भी 'न हवा एवंविदि' [छाँ०५।२।१] (ऐसा जानने वाला) इत्यादि को अर्थवाद मानने ही से भली प्रकार उपपन्न होती है। इसलिये ऐसी श्रुतियां अर्थवादात्मक हैं विधि रूप नहीं ॥ ३१ ॥

८ आश्रमकर्माधिकरण। सू० ३२-३६

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

च और **आश्रमकर्म** आश्रम कर्म **अपि** भी [करने चाहिये,] **विहितत्वात्** क्योंकि उनका विधि कहा हुआ है।

'सर्वापेक्षाच०' [ब्र० सू० ३-४-२६] (इस सूत्र में आश्रम कर्म विद्या में साधन रूप है ऐसा निर्णय किया है । अब यहाँ पर जो मुमुक्षु नहीं है और विद्या की जिसको कामना नहीं है ऐसे केवल आश्रमनिष्ठ पुरुष की भी ये कर्म करने चाहिये अथवा वैसा नहीं है इसका विचार करते हैं ।

पूर्वपक्ष—'तमेचं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' [बृ० ४।४।२२] (ऐसे उस आत्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति से आश्रम कर्म विद्या के साधन रूप विधान किये गये हैं इसलिये जिनको विद्या को इच्छा नही है और जो अन्य फल की इच्छा रखते हैं ऐसे पुरुष के लिये भी नित्य कर्मों के अनुष्ठान करने की कोई आवश्यकता नहीं है और यदि इनका अनुष्ठान करना ही चाहिये ऐसा न लिया जाय तो ये उस अवस्था में विद्या के साधन रूप न होंगे क्योंकि नित्य (आजन्म करने के) और अनित्य (साधन रूप से करने के) कर्मों का संयोग परस्पर विरोधी है ।

समाधान—केवल आश्रम में निष्ठा रखने वाले पुरुष को फिर वह मुमुक्षु न हो तो भी नित्य कर्म करने हीं चाहिये क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' (जीवन पर्यन्त अग्नि होत्र करता है) इत्यादि श्रुतियों में कर्म का विधि बताया गया है और ऐसा मानने से श्रुति पर अधिक भार दिया गया हो ऐसा भी नहीं होता ।। ३२ ।।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि ऐसा माने तो ये कर्म फिर विद्या के साधन रूप न रहेंगे, उसका उत्तर देते हैं—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

च और [ये कर्म] **सहकारित्वेन** सहकारी रूप से [कहे हुए होने से विद्या के सहकारी भी हैं]।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मरणा विविदिषन्ति' [बृ० ४।४।२२] (ऐसे उस आत्मा को ब्राह्मरण वेदाध्ययन द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतियों से कर्म का विधान किया गया होने से वह विद्या के सहकारी हैं। यही बात 'सर्वापेक्षां च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्' [ब्र० सू० ३ । ४ । २६] (यज्ञादि कर्म श्रुति में साधन रूप से कहे हैं, इसलिये विद्या के लिये सब कर्मों की आवश्यकता है, अश्व के समान इसको समझो) इस सूत्र में कही गई है। अब आश्रम कर्म विद्या के सरकारी हैं ऐसा प्रतिपादन करने वाला श्रुति वचन प्रयाज आदि की श्रुति के समान विद्या के फल से सम्बन्ध रखता है यानी विद्या के फल देने में ये सहायता देते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि विधि न होना यह विद्या का लक्षरण है और विद्या का फल साध्य भी नहीं है (क्योंकि विद्या का फल जो मोक्ष वह नित्य सिद्ध ही है)। विधि रूप जो साधन होते हैं, जैसे दर्श पूर्णमास आदि, वे स्वर्गफल की इच्छा रखने वाले पुरुष से अन्य साधनों की आवश्यकता रखते हैं परन्तु विद्या की बात वैसी नहीं है। यही बात 'अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' [ब्र० सू० ३ । ४ । २५] (इसीलिये अग्नि को प्रदीप्त करना आदि कर्मों की विद्या में आवश्यकता नहीं है) इस सूत्र में कही है। इसलिये विद्या की उत्पत्ति में कर्म साधन रूप है इतना ही इनके सहकारित्व के कथन से अभिप्राय है। वैसे ही यहाँ पर नित्य और अनित्य कर्मों के संयोग से विरोध की प्राप्ति होती है ऐसी

भी शंका न करनी चाहिये, क्योंकि एक कर्म होते हुए भी संयोग विभिन्न हो सकते हैं। जैसे, 'यावज्जीवनमग्निहोत्रं जुहोति' (जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करता है) इससे कर्म का एक नित्य संयोग होता है जिसका विद्या फल नहीं है और 'तमेतं वेदानु वचनेन' (ऐसे उस आत्मा को वेदाध्ययन द्वारा) इत्यादि वाक्यों से किया हुआ दूसरा अनित्य संयोग होता है जिसका फल विद्या होता है। जैसे खदिर का यज्ञ स्तम्भ एक ही है तो भी उसके नित्य संयोग से वह यज्ञ के उपयोगी है और दूसरे अनित्य संयोग से वह पुरुष के उपयोगी भी होता है (वीर्य की इच्छा करने वाला खदिर का यज्ञ स्तम्भ बनावे ऐसी श्रुति है) ।। ३३ ।।

सर्वथापि त एवोभयलिंगात् ।। ३४ ।।

सर्वथापि सर्व (दोनों) अवस्थाओं में **त एव** उन्हीं कर्मों का [अनुष्ठान करना चाहिये] **उभर्भालगात्** क्योंकि दोनों स्थान पर उनेके चिह्न मिलते हैं।

सब अवस्थाओं में यानी आश्रम कर्म भाव से अथवा विद्या के सहकारी भाव से उन अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करना ही चाहिये। 'त एव' (उन्हीं कर्मों का) ऐसा निश्चय वाचक पद रखकर आचार्य किस बात का निवारण करते हैं ? कर्मों के भिन्न होने की शंका का निवारण करते हैं। जैसे कुण्डपायी शाखा के अयन में 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' (एक मास पर्यन्त अग्निहोत्र करते हैं) इस वाक्य में नित्य अग्निहोत्र भिन्न ऐसे अग्निहोत्र का उपदेश दिया गया है वैसा यहां पर कर्म में भेद नहीं है। दोनों प्रकार के हेतुओं से श्रुति के प्रमाण से और

स्मृति के प्रमाण से यह बात सिद्ध होती है। श्रुति का प्रमाण यह है—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति [बृ० ४।४।२२] (ऐसे उस आत्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन से जानने की इच्छा करते हैं) इस प्रकार श्रुति यज्ञ आदि आश्रम कर्मों को एक प्रसिद्ध और उत्पन्न रूप से कहकर उनका आत्मा के जानने की इच्छा मेंविनियोग करती है,'जुहोति' (हवन करता है) इत्यादि श्रुति वचनों के समान इन कर्मों के रूप की उत्पत्ति का कथन अपूर्व रूप से (यानी नूतन रूप से) नहीं करती। स्मृति प्रमाण यह है—'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' [भग० गी० ६ । १] (कर्म फल का आश्रय न करते हुए जो विहित कर्म करता है) यह स्मृति वचन जो कर्म कर्त्तव्य है ऐसा पहिले ही से विदित है वही विद्या को उत्पन्न करता है ऐसा दिखाता है। 'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः' (जिसके ये अड़तालीस संस्कार हुए हैं) इत्यादि स्मृति में भी जो संस्कार वैदिक कर्मों में प्रसिद्ध हैं उन्हीं संस्कारों से युक्त पुरुष को विद्या उत्पन्न होती है ऐसा अभिप्राय ग्रथित किया गया है। इसलिये इन कर्मों के अभिन्न होने का जो निश्चय किया गया है वह युक्त ही है॥ ३४॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

च और **अनभिभवम्** [नित्य कर्म करने वाला पुरुष क्लेशों से] अभीभूत नहीं होता [ऐसा श्रुति] **दर्शयति** दिखाती है।

नित्य कर्म ज्ञान के सहकारी हैं इस बात को पुष्ट करने वाला दूसरा हेतु इस सूत्र में दिया गया है। ब्रह्मचर्यादि साधनों से संपन्न पुरुष राग द्वेषादि क्लेशों से अभिभूत नहीं होता यानी

उनमें दबता नहीं ऐसा, 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणा-नुविंदते' [छां० ८।५।३] (जिस आत्मा की ब्रह्मचर्य से प्राप्ति होती है वह नष्ट नहीं होता यानी ब्रह्मचर्य आदि से सुदृढ़ आत्मा राग आदि से दुःखी नहीं होता)। इसलिये यज्ञ आदि आश्रमों के कर्म होते हुए भी, वे विद्या में सहकारी होते हैं यही निश्चय होता है ॥ ३५ ॥

विधुराधिकरण । सू० ३६--३९ ।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

तु परन्तु **अतंरा** बीच ही में रहने वाले पुरुषों को **अपिच** भी [विद्या का अधिकार है] **तद्दृष्टेः** क्योंकि वैसा दिखाई देता है।

विधुर (जिनकी स्त्री मर जाती है उनको विधुर कहते हैं) आदि पुरुष तथा जिनके पास द्रव्य आदि साधन नहीं हैं ऐसे पुरुष जब अन्य आश्रम का ग्रहण नहीं करते तब उनको विद्या में अधिकार प्राप्त होता हैं या नहीं ऐसा संशय होता है।

पूर्वपक्ष—इन लोगों का विद्या में अधिकार नहीं है क्योंकि आश्रम कर्म ही विद्या के हेतु हैं ऐसा पहिले निर्णय हुआ है और इन लोगों से आश्रम कर्म होना असंभव है।

समाधान—आश्रम रहित होने से वह बीच में ही है यानी वैदिक कर्मों में उसके लिये कोई स्थान नहीं है तो भी विद्या में उसका अधिकार है, क्योंकि वैसा दिखाई देता है। रैक्व, वाचक्नवी इत्यादि ऐसे ही थे तो भी वे ब्रह्मज्ञानी थे ऐसा श्रुति से विदित होता है ॥ ३६ ॥

अपिच स्मर्यते ॥ ३७ ॥

अपिच तथा **स्मर्यते** स्मृति भी ऐसा ही कहती है।

संवर्त आदि लोग नग्न रहते हुये आश्रम कर्मो की उपेक्षा करते थे, वे भी महायोगी थे ऐसा इतिहास में देखा जाता है।

शंका—ये श्रुति और स्मृति के प्रमाण तो दिये परन्तु इनका फल क्या होता है ?

फल क्या होता है, वह सूत्रकार आगे के सूत्र से कहते है।

बिशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

च [विधुर आदि लोगों को] भी **विशेषानुग्रहः** विशेष प्रकार के धर्म से (विद्या] का अनुग्रह हो सकता है।

उनकी आश्रम विहित अवस्था के अविरोधी और सब कोई कर सके ऐसे जप, तप, उपवास, देवताओं का आराधन आदि विशेष धर्मों का आचरण करने से विधुर आदि लोगों पर भी विद्या का अनुग्रह हो सकता है। स्मृति भी ऐसा ही कहती है—'जप्ये नैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' [मनु० २।८७] (जप ही से ब्राह्मण की सिद्धि होती है इसमें संशय नहीं। वह और कुछ करे या न करे, दयावान् ब्राह्मण कहा जाता है)। यह स्मृति जो आश्रम कर्म के अधिकारी नहीं है उनको भी जप का अधिकार है ऐसा कहती है। वैसे ही अन्य जन्म में किये आश्रम कर्मों से भी इस जन्म में विद्या का अनुग्रह होना संवभ है। स्मृति का वचन है कि 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' [भग० गी० ६।४५] अनेक जन्मों में कर्मों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने पर वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है)। इस वचन से विदित होता है कि अन्य जन्मों में किये हुए कर्मों के संस्कार विशेष भी विद्या का अनुग्रह करा

सकते हैं। विद्या का फल (मोक्ष) प्रत्यक्ष है, इसलिये किसी के लिये भी उसका निषेध श्रुति में नहीं किया, इतने ही से ही विद्या की इच्छा रखने वाले को श्रवणादि का अधिकार उससे प्राप्त हो सकता है। इसलिये विधुर आदि को भी विद्या का अधिकार है ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिंगाच्च ॥ ३९ ॥

तु परन्तु **अतः** इससे **इतरत्** अन्य [विद्या का] **ज्यायः** कोई अधिक अच्छा [साधन] है **लिंगात्** क्योंकि उसके प्रमाण मिलते हैं।

'इससे' यानी बीच ही में रहने से संन्यास आश्रम ग्रहण करना यह विद्या का अधिक अच्छा साधन है, ऐसा श्रुति और स्मृति दोनों में दिखाई देता है। श्रुति का प्रमाण यह है—'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' [बृ० ४।४।९] (पुण्य कर्म करने वाला और तेजस्वी ब्रह्मवेत्ता उस यानी अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होता है)। वैसे ही 'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः' संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' (कोई भी द्विज एक दिन भी आश्रम रहित न रहे। यदि एक वर्ष पर्यंत अनाश्रमी रहना पड़े तो एक कृच्छ्र प्रायश्चित रूप से करना चाहिये) ऐसा स्मृति में भी कहा हुआ है ॥ ३९ ॥

१० तद्भूताधिकरण।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि

नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।, ४० ॥

तु परन्तु **तद्भूतस्य** जो वैसा (संन्यासी) हुआ है वह

अतद्भावो उससे विपरीत (यानी असंन्यासी) **न** नहीं हो सकता। **नियमातद्रूपाभावेभ्यः** क्योंकि वैसा नियम होने से, वैसा श्रुति वचन न होने से तथा उसका (शिष्टाचार का) अभाव होने से [ऐसा विदित होता है और] **जैमिनेः** जैमिनी **अपि** भी [ऐसा ही मानते हैं]।

उर्ध्वरेताओं का (संन्यासियों का) आश्रम होता है, ऐसा सिद्ध किया परन्तु उसको प्राप्त होने पर पुरुष उस आश्रम से च्युत होता है अथवा नहीं यह संशय होता है।

पूर्वपक्ष—पूर्व आश्रमों के कर्म करने की इच्छा से अथवा राग आदि के कारण वह च्युत भीं हो सकता है; क्योंकि ऐसा न होने के लिये कोई विशेष कारण उपलब्ध नहीं है।

समाधान—'जो वैसा होता है' अर्थात् उर्ध्वरेताओं के यानी संन्यास आश्रम को प्राप्त होता है, वह किसी भी अवस्था में उससे विपरीत भाव को नहीं प्राप्त होता यानी वह उस आश्रम से च्युत नहीं हो सकता। यह कैसे जाना ? वैसा नियम होने से, वैसा श्रुति वचन न होने से तथा उसका (शिष्टाचार का) अभाव होने से। नियम इस प्रकार है—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' [छां० २।२३।१] (जो सब जीवन आचार्य कुल में व्यतीत करते हुए), 'अरण्यमियादितिपदं ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' (वन में चले जाना यह शास्त्र का मार्ग है और वहां से न लौटना वह उपनिषत् यानी उस मार्ग का रहस्य है), 'आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामिकमाश्रमम्। आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि ॥' (आचार्य की आज्ञा से चारों आश्रमों में से एक आश्रम को ग्रहण करना चाहिये और शरीर का अन्त होने तक उसका यथाशास्त्र

पालन करना चाहिये) इत्यादि प्रकार के नियम से उस आश्रम से च्युति नहीं हो सकती, ऐसा दिखाते हैं। वैसे ही, 'ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेत्' [जा० ४] (ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ हो जाय), 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (ब्रह्मचर्य ही से संन्यास ग्रहण करे), इस प्रकार के संन्यास आश्रम को प्राप्त होने के वचन मिलते हैं परन्तु उससे लौटने के वचन नहीं मिलते, न ऐसा करना शिष्ट आचार में संमिलित है। परन्तु पूर्व आश्रम के कर्म करने की इच्छा से उस आश्रम से लौटने का कहा वह असत्य है; क्योंकि, 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' [भग० गी० ३।३५] (अन्य के धर्म का अच्छा आचरण करने से भी अपने धर्म का न्यून आचरण अच्छा है) ऐसी स्मृति है और न्याय संगत भी यह है कि जो धर्म जिसके लिये शास्त्र विहित है, वही उसका धर्म है, न वह कि जिसका अनुष्ठान उससे बन सके; क्योंकि शास्त्र की आज्ञा ही धर्म का लक्षण है। राग आदि के कारण भी वह च्युत नहीं हो सकता, क्योंकि (राग आदि विकारों से) नियम करने वाला शास्त्र अधिक बलवान् है। 'जैमिनि भी' ऐसा कहते हुए सूत्रकार ने 'भी' शब्द का प्रयोग किया गया है उससे जैमिनि और बादरायण इनकी संमति इस मत के दृढ़ीकरणार्थ प्राप्त है, ऐसा सूचित किया है ॥ ४० ॥

११ अधिकाराधिकरण। सू० ४१--४२

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

च तथा **आधिकारिम्** अधिकार लक्षण में कहा हुआ [प्रायश्चित्त] **अपि** भी **न** [नैष्ठिक के लिये] सम्भव नहीं है; **पतनानुमानात्** क्योंकि [ब्रह्मचर्य से] पतन [का

प्रायश्चित नहीं है ऐसा] अनुमान होने से **तदयोगात्** [नैष्ठिक का] उस [प्रायश्चित्त से] सम्वन्ध नहीं है।

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रमाद से अपना व्रत छोड़ दे तो उसके लिये 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत्' (व्रत भंग करने वाला ब्रह्मचारी निर्ऋति को गर्दभ दे) यह प्रायश्चित्त हो सकता है या नहीं ऐसी शंका होती है।

पूर्वपक्ष—उसके लिये प्रायश्चित नहीं है। यद्यपि पूर्व मीमांसा के अधिकार लक्षण नामक अध्याय में 'अवकीर्णि-पशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् [जै० सू० ६।८।२१] (व्रत भंग हुए ब्रह्मचारी का पशु का, उपनयन होम के सदृश, लौकिक अग्नि में होम करना चाहिये; क्योंकि आधान काल जो स्त्री सम्वन्ध के पश्चात् प्राप्त होता है अभी प्राप्त नहीं है) ऐसा जो प्रायश्चित का निर्णय किया है वह भी नैष्ठिक के लिये युक्त नहीं है। इसका कारण यह है—'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा ॥' जो ब्रह्मचारी नैष्ठिक धर्म से च्युत होता है उसके लिये मैं कोई प्रायश्चित्त नहीं देखता जिसके द्वारा वह आत्मघाती अपने को शुद्ध कर ले)। इस प्रकार ऐसे पतित के लिये कोई प्रायश्चित नहीं है ऐसी स्मृति होने से, जैसे सिर टूट जाने पर उसके लिये कोई उपाय नहीं रहता, वैसे ही इसका समझना चाहिये। परन्तु उपकुर्वाण ब्रह्मचारी (अध्ययन समाप्त करके ग्रहस्थ बनने वाला) के व्रतभंग का प्रतीकार नहीं हो सकता ऐसा स्मृति में कहीं भी नहीं कहा हुआ होने से उसका प्रायश्चित संभव है ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम ।। ४२ ।।

अपितु परन्तु **एके** कुछ आचार्य [यह] **उपपूर्वम्** उपपातक हैं [ऐसा मानते हैं और नैष्ठिक के लिये प्रायश्चित्त] **भावम्** है [ऐसा कहते हैं] **अशनवत्** [अभक्ष्य] भक्षण करने के समय यह है। **तदुक्तम्** [जैमिनि ने भी] ऐसा ही कहा है।

परन्तु कुछ आचार्य इसको उपपातक मानते हैं। गुरुपत्नी आदि के अतिरिक्त ऐसे अन्य स्थान पर यदि नैष्ठिक का व्रतभंग हो जाय तो वह महापातक नहीं होता क्योंकि गुरुतल्प (गुरु की शय्या) आदि महापातकों में इसकी गणना नहीं की गई। इसलिये उपकुर्वाण के समान नैष्ठिक के लिये भी प्रायश्चित है ऐसा उनका कहना है क्योंकि दोनों ही ब्रह्मचारी है और दोनों का व्रतभंग हुआ है। अभक्ष्य भक्षण के समान इसको समझना चाहिये। जैसे मदिरा और मांस के भक्षण से ब्रह्मचारी के व्रत का लोप होता है और पुनः प्रायश्चित भी होता है, वैसे ही यह समझो। ब्रह्मचारी के लिये कोई प्रायश्चित का अभाव है ऐसे मानने के लिये कोई आधार नहीं मिलता परन्तु जो प्रायश्चित मानते है उनके लिये 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी०' (ब्रह्मचर्य का व्रतभंग करने वाला आदि) इस श्रुति का सामान्य प्रायश्चित के लिये आधार है। इसलिये प्रायश्चित मानना ही अधिक अच्छा है। यही बात प्रमाण लक्षण के अध्याय में 'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' [जै० सू० १।३।८] (समान रूप से विशेष बोध होगा) तथा 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' [जै० सू० १।३।९] (शास्त्र का ज्ञान अधिक बलवान है क्योंकि धर्म का ज्ञान शास्त्र से ही होता है) इन सूत्रों से

कही है। इसके अनुसार नैष्ठिक के लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है ऐसा जो स्मृति वचन है उसका भाव यही है कि ब्रह्मचारी उस व्रत की रक्षा के निमित्त अधिक उत्साह से प्रयत्न करे। तथा 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्' (वानप्रस्थ व्रतभंग करे तो वह बारह रात्रि तक कृच्छ्र करके महाकक्ष यानी गोचर का संवर्धन करे), 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च' (भिक्षु व्रत भंग करे तो वानप्रस्थ के समान ही सोमलता को छोड़कर गोचर का संवर्धन करे और अपने शास्त्र के संस्कार भी करे) इत्यादि भिक्षु और वैखानस के लिये भी स्मृति में प्रायश्चित्त कहे हैं, यह भी ध्यान में रखना चाहिये ॥ ४२ ॥

१२ बहिरधिकरण।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

तु परन्तु **उभयथा** दोनों पातकों में **अपि** भी **बहिः** [उसका] बहिष्कार [करना चाहिये ऐसा] **स्मृतेः** स्मृति से **च** और **आचारात्** आचार से [विदित होता है]।

ऊर्ध्वरेताओं का अपने आश्रयों से पतन हो तो वह चाहे महा पातक में गिना जाय या उपपातक में परन्तु उनका शिष्ट पुरुषों को बहिष्कार करना चाहिये। 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्धयेत्स आत्महा॥' (जो नैष्ठिक धर्म पर आरूढ़ होकर फिर उससे च्युत होता है, उस आत्मघाती की शुद्धि के लिये कोई प्रायश्चित्त मैं नहीं देखता), 'आरूढपतितं विप्रं मंडलाच्च विनिःसृतम्। उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चांद्रायणं चरेत्॥' (आरूढ़ हुए विप्र का पतन हो जाने पर उसको, मण्डल से बाहर निकाल दिया जाता

है उसको, फाँसी पर लटकाया गया है उसको तथा कीड़ों से खाये हुए को छूने पर कृच्छ्चान्द्रायण करना चाहिये) इस प्रकार स्मृति में व्रत भंग करने वाले की अत्यन्त निन्दा की हैं तथा शिष्टाचार से भी यही विदित होता है। शिष्ट लोग ऐसे पुरुष के साथ यज्ञ, अध्ययन, विवाह आदि नहीं करते ॥ ४३ ॥

स्वाम्यधिकरण । सू० ४४-४६

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

स्वामिनः [उपासनाओं का कर्तृत्व] यजमानों का है, **फलश्रुतेः** क्योंकि श्रुति में उनका वैसा फल बताया गया है, **इति** ऐसा **आत्रेयः** आत्रेय का मत है।

कर्मों के अवयव रूप उपासनाओं के सम्बन्ध में संशय होता है कि ये ऋत्विज के कर्म हैं या यजमान के।

पूर्वपक्ष—ये यजमान ही के कर्म हैं; क्योंकि इनके वैसे फल कहे हुए हैं। श्रुति इस प्रकार फल कहती है—'वर्षति हास्मै वर्षयतिह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' [छां० २।३।२] (जो ऐसा जानकर पाँच प्रकार के सामों की वृष्टि रूप से उपासना करता है, उसके लिये वृष्टि होती है और वह दूसरे के लिये वृष्टि कराता है) इत्यादि। अब यह फल यजमान के लिये होना ही ठीक है, क्योंकि सांग प्रयोग उसी के लिये होता है। ऐसे कर्मों में फल का अधिकार पहिले ही से यजमान के लिये नियत किया जाता है और उपासनाओं का फल भी कर्ता को ही प्राप्त होता है ऐसा 'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' (जो उपासना करता है उसके लिये वृष्टि होती है) इस श्रुति में कहा है। यदि कहो कि ऋत्विज के लिये भी फल होता है ऐसा 'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते

तमागायति' [बृ० १।३।२८] (अपने लिये अथवा यजमान के लिये जो इच्छा करता है वह गान द्वारा प्राप्त करता है) ऐसा श्रुति में कहा है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यह तो स्पष्ट ही (अपवाद रूप से) कहा गया है। इसलिये फल वाली उपासनाओं का कर्तृत्व भी यजमान ही का है ऐसा आत्रेय आचार्य का मत है ॥ ४४ ॥

[आगे औडुलोमि का मत सिद्धांत रूप से प्रतिपादित करते हैं—]

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

आर्त्विज्यम् [ये कर्म] ऋत्विज के हैं **इति** ऐसा **औडुलोमिः** औडुलोमि आचार्य का मत है **हि** क्योंकि **तस्मै** उस [कर्म] के लिये ही [उसको] **परिक्रीयते** मोल लिया जाता है।

उपासनाएं यजमान के कर्म नहीं हैं, ये ऋत्विज के कर्म हैं ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है। इसका कारण यह है—'उसके लिये' यानी सांग कर्म के लिये ऋत्विज को यजमान मोल ले लेता है और उसी प्रयोग के अंतर्गत उद्गीथ आदि की उपासनाएं हैं, जो उस कर्म में नियुक्त होने के कारण वह करता है। इसलिये गाय दुहने का जो नियम है कि, जिसकी गाय होती है वही दूध लेता है, वही ऋत्विज निभाते हैं। इसी प्रकार जिसका वह यज्ञ होता है वही सब फल लेता है। वैसे ही, 'तं ह वको दाल्भ्यो विदांचकार स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव' [छां० १।२।१३] (दलभपुत्र वकने उस उद्गीथ को जाना और वह नैमिशीयों का उद्गाता हुआ) यह श्रुति विज्ञान का कर्ता उद्गाता है ऐसा दिखाती है। पूर्वपक्ष में जो कहा था

कि फल कर्ता ही को होता है ऐसा श्रुति में कहा है, उसमें कोई दोष नहीं आता; क्योंकि ऋत्विज और के लिये काम करता है इसलिये जब तक विशेष रूप से वैसा कथन न हो तब तक उसके साथ फल का संयोग बन नहीं सकता ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

च तथा **श्रुते** श्रुति में भी ऐसा ही कथन होने से [ये ऋत्विज के कर्म हैं] ।

'यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाच' [श० ब्रा० १।३।१।२६] (जो आशीर्वाद ऋत्विज लोग यज्ञ में माँगते हैं, यजमान के लिये ही वे मांगते हैं ऐसा उसने कहा), 'तस्मादुहै वं विदुद्गाता ब्रूयात्कंते काममागायानि [छां० १।७।८७।९] (इसलिये ऐसे जानने वाला उद्गाता कहे कि तुम्हारे लिये कौनसी बात मैं गान द्वारा प्राप्त करूं) इत्यादि, ये श्रुतियाँ ऋत्विजों के विज्ञान का फल यजमान को प्राप्त होता है ऐसा दिखाती है, इसलिये कर्मों के अंगभूत जो उपासनाएँ हैं वे ऋत्विज के कर्म हैं ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४६ ॥

१४ सहकार्यन्तरविध्यधिकरण । सू० ४७-४९

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

तद्वतो उस [सामान्य ज्ञान] वाले पुरुष के लिये **सहकार्यन्तरविधिः** अन्य सहकारी विधि [कहा गया है], [तथा बाल्य और पांडित्य इनको] **पक्षेण** अपेक्षा से [मौन विधि]

तृतीयं तीसरा है । **विध्यादिवत्** विधि आदि के समान यह है ।

बृहदारण्यक उपनिषत् में कहा है कि, 'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण;' बृ० ३।५।१] (इसलिये ब्राह्मण पाण्डित्य प्राप्त करते हुए भी बालक के समान रहे और बालक भाव और पांडित्य दोनों लाभ करके वह मुनि होता है और मौन और अमौन दोनों को लाभ करके वह ब्राह्मण होता है) । अब यहां पर संशय होता है कि यहाँ मौन की विधि कही है अथवा नहीं।

पूर्वपक्ष—मौन का यहां पर विधि नहीं कहा, क्योंकि 'बाल्येन तिष्ठासेत्' (बालक के समान रहे) यहीं तक विधि समाप्त हो जाता है और आगे 'मुनि होने के' सम्बन्ध में कोई विधि बोधक शब्द नहीं है इसलिये यह वाक्य केवल मौन का अनुवाद यानी निर्देश करता है। यह अनुवाद कहां से किया गया है ऐसा पूछो तो कहते हैं कि मुनि और पंडित दोनों शब्द ज्ञानार्थक होने से 'पांडित्य निर्विद्य' (पांडित्य प्राप्त करके) ऐसा जो कहा है उसी में मौन का विधि कहा हुआ है । तथा 'अमौन च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' (अमौन और मौन दोनों का लाभ करके वह ब्राह्मण होता है) इस वाक्य में भी ब्राह्मणत्व का विधि नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण वह पहिले ही है । इसलिये 'अथ ब्राह्मणः' (पश्चात् वह ब्राह्मण होता है) ऐसा जो कहा है वह केवल प्रशंसा के निमित्त है । इसी प्रकार 'अथ मुनिः' (पश्चात् वह मुनि होता है) यह वाक्य भी दोनों स्थान पर एकसा ही निर्देश होने से प्रशंसा पर होना चाहिये ।

समाधान—यहां पर अन्य सहकारी (सहायक) विधि का निर्देश है। विद्या के सहकारी मौन का बाल्य और पाण्डित्य के समान विधि कहा है ऐसा मानना पड़ेगा; क्योंकि मौन अपूर्व है यानी पहले उसका अन्य कहीं निर्देश नहीं है। यदि कहो कि पांडित्य शब्द ही से मौन का बोध होता है, ऐसा कहा ही गया है तो उसमें कोई दोष नहीं क्योंकि जो मनन करता है वह मुनि है, ऐसी व्युत्पत्ति संभव है तथा 'मुनीनामप्यहं व्यासः' [भग० गी० १०।३७] (मुनियों में भी व्यास मैं हूं) ऐसे प्रयोग देखने में आते हैं। यदि कहो कि मुनि शब्द का उत्तम आश्रम ऐसा अर्थ भी देखने में आता है; जैसे, 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' (गृहस्थ अवस्था, आचार्य गृहवास, मौन और वानप्रस्थ अवस्था) तो कहते हैं कि यह ठीक नहीं, क्योंकि 'मुनिश्रेष्ठ वाल्मीक' इत्यादि प्रयोगों से यह नियम सार्वत्रिक नहीं है ऐसा विदित होता है। अन्य आश्रम बोधक पदों के निकट आने से शेष रहे हुए आश्रम का इस शब्द से बोध होता है तथा उस उत्तम आश्रम में ज्ञान प्रधान वस्तु होने से उसका मौन शब्द से निर्देश किया गया है। इसलिये बाल्य और पांडित्य की अपेक्षा से ज्ञान के उत्कर्ष स्वरूप मौन का विधि यहाँ पर किया गया है। पूर्वपक्ष में जो कहा था कि बाल्य तक ही उस श्रुति में विधि बताया है तो उसका उत्तर देते हैं कि ऐसा हो तो भी वह बात अपूर्व होने से मुनि होने का भी यहाँ पर 'मुनिः स्यात्' (मुनि होना चाहिये) इस प्रकार विधि मानना चाहिये। मौन प्राप्त करने की बात कही है इससे भी उसका बाल्य और पांडित्य के समान विधि ही कहा गया है, ऐसा मानना पड़ेगा।

'तद्वतः' (उस वाले को) का अर्थ है ज्ञान वाले संन्यासी को। ज्ञान वाले संन्यासी को यह अर्थ किस प्रकार होता है ? 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (आत्मा को जानकर पुत्र आदि की एषणाओं का त्याग करते हुए भिक्षावृत्ति यानी संन्यास धारण करते हैं) इस वाक्य से यह संन्यास का प्रकरण चल रहा है ऐसा विदित होता है। यदि कहो कि संन्यासी को ज्ञान है तब उसमें ज्ञान का अतिशय तो है ही फिर मौन का विधि कहने से क्या प्रयोजन ? तो इसका सूत्रकार उत्तर देते हैं कि उसकी अपेक्षा से यह विधि कहा गया है। इसका अर्थ यह है—भेद दृष्टि प्रबल होने के कारण जिसमें ज्ञान का अतिशय नहीं होता उसको लक्ष्य करके यह (मौन का) विधि कहा है। विधि आदि के समान यह है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की इच्छा वाला दर्श और पूर्णमास की इष्ट करे) इत्यादि विधि में जैसे अग्नि का अन्वाधान यानी अग्नि प्रज्वलित करना आदि अंगभूत बातों के सहकारी रूप से विधि कहे हैं, वैसे ही इस श्रुति में भी यद्यपि प्रधान रूप से विधि का निर्देश नहीं है तो भी इस ज्ञान बोधक वाक्य में मौन का विधि कहा हुआ है ऐसा समझना चाहिये ।। ४७ ।।

शंका—इस प्रकार श्रुति से बाल्य आदि धर्मों से युक्त ऐसे संन्यास आश्रम की सिद्धि होते हुए भी छांदोग्योपनिषत् में 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' [छाँ० ८।१५।१] (अध्ययन समाप्त करके गृहस्थाश्रम में आकर) इस प्रकार गृहस्थाश्रम को कह कर ही प्रकरण का उपसहार क्यों किया ? इसीलिये कि उस आश्रम को कहकर उपसंहार करते हुए श्रुति उस आश्रम के लिये अपना आदर व्यक्त करती है।

इस शंका का उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।। ४८ ।।

तु परन्तु **कृत्स्नभावात्** [गृहस्थ को] सब [कर्म करने के] होने से **गृहिणा** गृहस्थाश्रम [के निर्देश द्वारा] **उपसंहारः** [श्रुति] उपसंहार करती है ।

'तु' (परन्तु) शब्द विशेष बोधक है । गृहस्थ को सब कर्म करने पड़ते हैं यह उसकी विशेषता है । अनेक कष्टों से साध्य होने वाले यज्ञ आदि बहुत से उस आश्रम के कर्म उसके लिये कर्तव्य रूप से श्रुति ने कहे हैं, इतना ही नहीं, अन्य आश्रमों के कर्म भी जैसे अहिंसा इन्द्रिय, दमन, आदि उसको यथा संभव करने पड़ते हैं । इसलिये गृहस्थ का निर्देश करके श्रुति उपसंहार करे तो उसमें कोई विरोध नहीं प्राप्त होता ।। ४८ ।।

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।। ४९ ।।

मौनवत् मौन के समान **इतरेषाम्** अन्य आश्रमों का **अपि** भी **उपदेशात्** निर्देश किया हुआ होने से [चारों आश्रमों का समान ग्रहण होना चाहिये] ।

जैसे मौन और गार्हस्थ्य ऐसे दो आश्रम श्रुति से सिद्ध होते हैं वैसे ही वानप्रस्थ और गुरु गृहवास यानी ब्रह्मचर्य ये आश्रम भी श्रुति से सिद्ध होते हैं । 'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य-कुलवासी तृतीयः' [छां० २ । २३ । १] (तप ही दूसरी शाखा है और आचार्य के घर जिसमें रहना पड़ता है ऐसा ब्रह्म-चर्य तीसरी शाखा है) इत्यादि श्रुति पहिले ही हम दे चुके हैं । इसलिले श्रुति ने चारों आश्रमों का समान रूप से निर्देश किया होने से इन सब अथवा इनमें से किसी एक का विकल्प से उसी

प्रकार (समान रूप से) अनुष्ठान करना चाहिये। यहां दो आश्रमों से अभिप्राय होते हुए भी सूत्र में 'इतरेषाम्' अन्य आश्रमों का ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है वह उन आश्रमों के विभागों को लेते हुए हैं अथवा उनका आचरण करने वाले अनेक लोगों की अपेक्षा से किया गया है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

१५ अनाविष्काराधिकरण।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

अनाविष्कुर्वन् अपने को प्रगट न करते हुए (वह रहे ऐसा उस श्रुति का अर्थ है), **अन्वयात्** क्योंकि [ऐसा अर्थ करने से] वाक्य की संगति बैठती है।

'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' [बृ० ३।५।१] (इसलिये ब्राह्मण पाण्डित्य प्राप्त करके बाल भाव से रहे) यह श्रुति बाल्य का अनुष्ठान करना चाहिये ऐसा कहती है। यहां पर आया हुआ बाल्य शब्द 'बाल का जो भाव वा कर्म वह बाल्य' इस प्रकार तद्धित प्रत्यय से बना है। अब बाल भाव यानी वह विशेष वय की अवस्था किसी से इच्छा पूर्वक प्राप्त नहीं की जा सकती, परन्तु इच्छानुसार चाहे जहां मल मूत्र का त्याग करना इत्यादि जो बालक का बर्ताव है, उस अर्थ में बाल्य शब्द का ग्रहण करना चाहिये अथवा उसके भीतर जो शुद्ध भाव होता है, इन्द्रियों के विकास का अभाव अथवा दम्भ, दर्प आदि से रहित होना होता है, इस अर्थ में उसका ग्रहण करना चाहिये, यह संशय होता है।

पूर्वपक्ष—चाहे जैसा बर्ताव करना, बोलना, खाना और जहां चाहे जहां मल मूत्र त्याग करना यही बाल्य शब्द का

अर्थ लोगों में प्रसिद्ध है, इसलिये उसी अर्थ में बाल्य शब्द का यहां ग्रहण करना ठीक है। यदि कोई कहे कि ऐसा करने से पतित होजाना आदि दोष ही प्राप्त होगा, इसलिये चाहे जैसा बर्ताव करना आदि का आश्रय करना युक्त न होगा, तो वैसा नहीं होगा। जैसे यज्ञ आदि में पशु हिंसा आदि के दोष की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही ज्ञानी संन्यासी को दोष की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि उसके वैसे आचरण के लिये श्रुति का प्रमाण है।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस श्रुति की संगति अन्य प्रकार से बैठ सकती है। जब बाल्य शब्द का श्रुति के अनुकूल अर्थ हो सके तब श्रुति ने अन्यत्र कहे हुए विधि के प्रतिकूल आवे ऐसे अर्थ की वहां कल्पना करना युक्त नहीं है। दूसरे, प्रधान विधि के उपयोग के लिये ही उसके अंग का विधि कहा जाता है। यहां पर यतियों के लिये प्रधान रूप से ज्ञान का ही अभ्यास करने का है और यदि सब बाल चेष्टा का यहां अंगीकार करते हैं तो इस अवस्था में उनसे ज्ञान का अभ्यास बन नहीं सकेगा। इसलिये बालकों के आंतर में, उनके इन्द्रिय अविकसित होना आदि जो एक विशिष्ट भाव होता है इसीका यहां पर बाल्य शब्द से ग्रहण करना चाहिये। यही बात सूत्रकार 'अनाविष्कुर्वन्' (प्रकट न होते हुए) इत्यादि से कहते हैं। इसका भाव यह है कि ज्ञान, अध्ययन, धार्मिकता आदि से वह अपने को प्रकट न करते हुए दम्भ और दर्प से रहित होकर रहे। जैसे बालक के इन्द्रिय (अंतःकरण) अविकसित होने के कारण वह अपने को दूसरों के आगे प्रकट करने की इच्छा नहीं करता, वैसे ही वह रहे। इस प्रकार इस वाक्य का प्रधान

विधि के उपयोगी हो सके ऐसा अर्थ निकलता है। स्मृतिकार ऐसा ही लिखते हैं—'यं न संतं न चासन्तं नाश्रुतं ना वहुश्रुतं। न सुवृतं न दुर्वृत्तं न वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥ गूढ धर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्। अंधवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥' जिसको कोई सन्त भी नहीं जानता, न असन्त जानता है न कोई विद्वान् जानता है, न मूर्ख; न सदाचारी जानता है न दुराचारी, वही ब्राह्मण है। ऐसा ब्राह्मण गुप्त रूप से धर्म का आचरण करते हुए विद्वान होते हुए भी अज्ञानी का सा आचरण करे और अंधे, जड़ और गूंगे के समान पृथ्वी पर घूमा करें), 'अव्यक्तलिंगोऽव्यक्ताचारः' (जिसका कोई प्रकट चिह्न न हो, प्रकट आचार हो) इत्यादि ॥ ५० ॥

१६ ऐहिकाधिकरण।

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबंधे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

अप्रस्तुतप्रतिबंधे प्रारंभ किये [साधनों का कोई] प्रतिबंध [उपस्थित] न हो तो [विद्या] **ऐहिकम्** इस जन्म में अपि भी उत्पन्न होती है], **तद्दर्शनात्** क्योंकि वैसा श्रुति कथन करती है।

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्,]ब्र० सू० ३।४।२६] (यज्ञ आदि कर्म साधन रूप से कहे हुए होने से विद्या के लिये सब कर्मों की आवश्यकता है; अश्व के समान इसको समझना चाहिये) इस सूत्र से अब तक विभिन्न विद्या के साधनों का निश्चय किया गया। अब उनके फल रूप विद्या इसी जन्म में उत्पन्न होती है अथवा कदाचित् अन्य जन्म (वा लोक) में उत्पन्न होती है इस बात का विचार करना चाहिये।

पूर्वपक्ष—विद्या यहीं उत्पन्न होती है, क्योंकि विद्या श्रवणादि से उत्पन्न होती है और मुझे अगले जन्म में विद्या प्राप्त हो ऐसा समझकर कोई श्रवण आदि में प्रवृत्त नहीं होता, परन्तु इसी जन्म में विद्या उत्पन्न हो इस हेतु से उनमें प्रवृत्त होते हैं, ऐसा देखने में आता है। यज्ञ आदि कर्म भी श्रवण आदि ही से विद्या उत्पन्न करते हैं, क्योंकि विद्या प्रमाण द्वारा ही उत्पन्न होती है। इसलिये विद्या इस जन्म ही में उत्पन्न होती है ऐसा सिद्ध हुआ।

समाधान—जब प्रस्तुत यानी प्रारंभ किये हुए साधनों में कोई प्रतिबंध न हो तब विद्या इसी जन्म में उत्पन्न होती है। इसका भाव यह है—विद्या के साधन प्रारंभ किये हों उनमें यदि अन्य किन्हीं परिपक्व कर्मों का प्रतिबंध नहीं प्राप्त होता तब विद्या यहीं उत्पन्न होती है और यदि प्रतिबंध प्राप्त हो जाय तो आगे के जन्म में उसकी उत्पति होती है। अब कर्म का परिपाक देशकाल और निमित्त की प्राप्ति से होता है और एक कर्म को परिपक्व करने वाले जो देश, काल और निमित्त हैं वे दूसरे कर्म को भी परिपक्व करेंगे ही ऐसा नियम नहीं कर सकते; क्योंकि ऐसे भी कर्म होते हैं जिनके फल परस्पर विरुद्ध होते हैं। शास्त्र भी अमुक कर्म का अमुक फल है इतना ही कहते हैं, किसी देश, काल और निमित्त का वे निर्देश नहीं करते। साधन के एक विशेष सामर्थ्य से किसी कर्म की शक्ति प्रकट होती है और अन्य की प्रतिबद्ध होती है।

अब विद्या के सम्बन्ध में सामान्य भाव मन में रखा जाता हो सो भी नहीं, क्योंकि मुझे इस जन्म में अथवा अगले जन्म में विद्या प्राप्त हो ऐसा भाव रखने में हर एक स्वतंत्र है।

श्रवण मनन द्वारा भी जो विद्या उत्पन्न होती है वह भी प्रतिबंधों का क्षय हो जाने पर ही होती है। इसीलिये 'श्रवणायापि वहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' [क० २।७] (जो वहुतों के सुनने में भी नहीं आता और सुनते हुए भी जिसको वहुत लोग समझ नहीं सकते, इसका वर्णन करने वाला दुर्लभ है इसका साक्षात्कार कर लेने वाला भी दुर्लभ है, कुशल गुरु के लक्ष्य कराने पर इसका साक्षात्कार कर ले ऐसा पुरुष भी दुर्लभ है), यह श्रुति आत्मा दुर्लभ है ऐसा कहती है। गर्भ ही में वामदेव ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ ऐसा कहकर श्रुति अन्य जन्मों में प्राप्त किये हुए साधनों से अन्य जन्म में विद्या की उत्पति होती है ऐसा दिखाती है; क्योंकि इस जन्म में गर्भ ही में कोई कुछ साधन करे यह सम्भव नहीं है। स्मृति में भी 'अप्राप्य योगसंसिद्धि कां गतिं कृष्ण गच्छति' [भग० गी० ६।३७] (योग की सिद्धि न प्राप्त होने पर उसकी क्या गति होती है) इस प्रकार जब अर्जुन ने प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीकृष्ण 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति' [भग० गी० ६।४०] (हे तात सत्कर्म करने वाला पुरुष कभी भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता) ऐसा कहकर फिर वह पुण्यलोक में जाता है पश्चात् इस लोक में अच्छे कुल में जन्म लेकर 'तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' [भग० गी० ६।४३] (वहां उसको अपने पूर्व देह की बुद्धि प्राप्त होती है) ऐसा कहते हुए 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' [भग० गी० ६।४५] (अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करते करते यानी युक्त साधन संपन्न होते होते पश्चात् कहीं उत्तम गति को प्राप्त होता है) इसी बात

को निर्दिष्ट करते हैं। इसलिये प्रतिवन्ध का जव क्षय हो तव इस जन्म में वा अन्य जन्म में विद्या की उत्पत्ति होती है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ५१ ॥

१७ मुक्तिफलाधिकरण ।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृते-स्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

एवम् ऐसा **मुक्तिफलानिमयः** मोक्ष के फल के सम्वन्ध में कोई नियम नहीं है, **तदवस्थावधृतेः** क्योंकि उस अवस्था का श्रुति ने निश्चय किया है, **तदवस्थावधृतेः** उस अवस्था का श्रुति ने निश्चय किया है ।

जैसे विद्या का साधन करने वाले मुमुक्षु को विद्या के साधन से उत्पन्न होने वाले विद्या रूप फल के सम्वन्ध में वह साधनों के विशेष सामर्थ्य से इस जन्म में अथवा अगले जन्म में उत्पन्न होगा ऐसा पृथक् नियम दिया गया है, वैसा मोक्ष रूप फल में भी [विद्या के] उत्कर्ष और अपकर्ष के कारण कोई भेद होगा, ऐसी शंका करके सूत्रकार कहते हैं कि 'एवं मुक्तिफलानियमः' (ऐसा मोक्ष के फल के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है)। मोक्ष रूप फल के सम्बन्ध में ऐसे भेद का नियम है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये । ऐसी शंका न करने का कारण यह है कि उस अवस्था का श्रुति ने निश्चय किया है। सब वेदान्त ग्रन्थों में मोक्षावस्था एक रूप से ही निश्चित की गई है। मोक्षावस्था एक रूप से ही निश्चित की गई है। मोक्षावस्था ब्रह्म ही है और ब्रह्म का अनेक आकारों से योग नहीं है यानी ब्रह्म का लिंग वा स्वरूप एक ही है, क्योंकि 'अस्थूलमनणु'

[बृ० ३।८।८] (वह न स्थूल है न अणु) 'स एष नेति नेत्यात्मा' [बृ० ३ । ६ । २६] (यह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, इस प्रकार निषेध रूप से वर्णन करने योग्य आत्मा है), 'यत्र नान्यत्पश्यति'] छां० ७ । २४ । १] (जहाँ दूसरा कुछ नहीं देखता), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' [मु० २ । २ । ११] (यह अमृत रूप ब्रह्म ही आगे है), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' [बृ० २ । ४ । ६] (यह जो सब है यह आत्मा ही है), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' [बृ० ४ । ४ । २५] (यही ऐसा महान् और अज आत्मा अमर, अमृत और अभय रूप ब्रह्म है), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' [बृ० ४ । ५ । १५] (परन्तु जहाँ उसको सब ही आत्मा रूप हो जाता है वहाँ वह किससे किसको देखे) इत्यादि श्रुति ने उसका एक ही आकार निश्चित किया है ।

विद्या के साधन अपने अपने विशेष सामर्थ्य से उनके फल में कोई अतिशय (विशेष) उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु विद्या का फल जो मोक्ष है उसमें वे कोई अतिशय उत्पन्न कर नहीं सकेंगे; क्योंकि मोक्ष रूप फल साध्य नहीं है; वह नित्यसिद्ध स्वभाव है, उसकी विद्या से केवल प्राप्ति होती है ऐसा हम बार बार कह चुके हैं । विद्या में भी उत्कर्ष और अपकर्ष रूप अतिशय संभव नहीं; क्योंकि जो निकृष्ट है वह विद्या हो ही नहीं सकती अर्थात् जो उत्कृष्ट है वही विद्या है । इसलिये विद्या में चिरकाल में उत्पन्न होना अथवा सत्वर उत्पन्न होना ऐसा कोई अतिशय उत्पन्न होता हो तो भले हो परन्तु मोक्ष में तो कोई अतिशय संभव नहीं है ।

विद्या भिन्न न होने से उसके फल में भी भेद होगा ऐसा कोई नियम नहीं । सगुण विद्याओं में 'मनोमयः प्राण शरीरः'

[छां० ३ । १४ । २] (वह मनोमय है, प्राण उसका शरीर है) इत्यादि श्रुति में गुणों का ग्रहण और त्याग के कारण भेद संभव है इसलिये कर्म के फलों के समान उनके अपने २ फल भी भिन्न होते हैं ऐसा नियम प्राप्त होता है। श्रुति में ऐसा ही प्रमाण (लिंग) मिलता है—'त यथायथो पासते तदेव भवति' (उसका जैसा जैसा भजन करते हैं वैसे ही वह होता है)। स्मृति भी ऐसा ही कहती है—'नहि गतिरधिकाऽस्ति कस्य-चित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्' (किसी को अधिक फल नहीं मिलता, क्योंकि जहां गुण होते हैं वहां विषमता होती है ऐसा कहते हैं) 'तदवस्थावधृतेः' (क्योंकि उस अवस्था का श्रुति ने निश्चय किया है) यह पद अध्याय की समाप्ति सूचित करने के अभिप्राय से दुहराया गया है ।। ५२ ।।

इति श्री ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य भाषानुवाद के
तृतीय अध्याय का चतुर्थ पाद समाप्त हुआ ।

* तृतीय अध्याय समाप्त *

चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद ।

१ आवृत्त्यधिकरण । सू० १--२

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

असकृदुपदेशात् [ज्ञान क्रिया का] वार बार उपदेश किया हुआ होने से **आवृत्तिः** उसको बार बार करने की आवश्यकता है ।

तीसरे अध्याय में पर और अपर विद्या के अन्तर्गत साधनों का बहुत कुछ विचार किया । अब इस चौथे अध्याय में प्रसंग से प्राप्त अन्य कुछ बातों का विचार किया जाता है । प्रथम कुछ अधिकरणों में साधन के सम्बन्ध में जो कुछ विचार बाकी रहा है वह प्रारम्भ किया जाता है । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृ० ४ । ५ । ६] (अरे आत्मा ही का दर्शन करना चाहिये तथा उसी का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये) 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' [बृ० ४ । ४ । २१] उसी आत्मा को बुद्धिमान् पुरुष जाने और वैसी बुद्धि करे), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' [छां० ८ । ७ । १] (उसकी खोज करनी चाहिये और उसको जानने की इच्छा करना चाहिये) इत्यादि श्रुतियों में संदेह होता है कि यहां जो प्रत्यय करने का कहा है, वह एक ही बार करना चाहिये अथवा बार बार ।

पूर्वपक्ष—प्रयाज आदि के समान ज्ञान की क्रिया भी एक बार ही करने की आवश्यकता है; क्योंकि इतने ही से शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध होता है । श्रुति में आवृत्ति का कथन न होते हुए भी वह की जाय तो शास्त्र विरुद्ध बात की जायगी । यदि कहो कि ज्ञान क्रिया बार बार करने के लिये 'श्रोतव्यो

मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' (आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये) इत्यादि उपदेश उदाहरण रूप से दिये गये हैं, तो ऐसा मानने में श्रुति ने जितनी आवृत्ति की है उतनी ही करनी चाहिये अर्थात् एक वार श्रवण, एक वार मनन और एक ही वार निदिध्यासन करना चाहिये, इससे अतिरिक्त कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। और जहाँ 'वेद' (जानो), 'उपासीत' (उपासना करो) इस प्रकार एक ही बार उपदेश किया है वहां तो आवृत्ति करनी ही न चाहिये।

समाधान—ज्ञान क्रिया की आवृत्ति करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति उसका वार वार उपदेश करती है। 'श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्य:' (श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये) इत्यादि प्रकार के उपदेश श्रुति ने वार वार किये हैं, जिससे ज्ञान क्रिया वार वार करनी चाहिये ऐसा सूचित होता है। यदि कहो कि श्रुति में जितनी आवृत्ति कही है उतनी करनी चाहिये ऐसा हम भी कहते हैं, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि इस ज्ञान क्रिया का दर्शन में पर्यवसान होता है। जैसे कूटना आदि क्रियाओं का चावल निकल आने में पर्यवसान होता है' इसी के समान श्रवण आदि का आवर्तन करने पर उनका दर्शन में पर्यवसान होता है और इस प्रकार उनका फल दिखाई देता है।

उपासना और निदिध्यासन इन शब्दों में ही आवृत्ति धर्म अंतर्भूत है। लोगों में भी गुरुकी उपासना करता है। राजा की उपासना करता है, ऐसा उसी के लिये कहा जाता है जो गुरु आदि की तत्पर होकर सेवा करता है। वैसे ही, प्रवास में गये हुए पति का ध्यान करती है, ऐसा निरन्तर स्मरण पूर्वक पति के लिये जो उत्कण्ठा होती है

उसीके लिये कहा जाता है। ज्ञान और उपासना का वेदान्त ग्रन्थों में हमेशा साथ साथ ही निर्देश होता है। कहीं पर ज्ञान से प्रारंभ होता है और उपासना से उपसंहार होता है जैसे, 'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदूक्तः' [छाँ० ४।१।४] (जो रैक्क को जानता है वह जो जानता है उसको वही फल मिलता है रैक्क को मिलता है और वही ज्ञान मैंने तुझ से कहा है) इस प्रकार उपक्रम करके 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' [छाँ० ५।२।२] (हे भगवन्, जिस देवता की आप उपासना करते हैं उस देवता का मुझे उपदेश कीजिये) इस प्रकार उपसंहार किया है। तथा कहीं पर उपासना से आरंभ करके विद्या से उपसंहार किया है; जैसे, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [छाँ० ३।१८।१] (मन को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना कर) इस प्रकार उपक्रम करके 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' [छाँ० ३।१८।३] (जो ऐसा जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्म तेज से प्रकाशता है और बलवान होता है) इस प्रकार ज्ञान से उपसंहार किया है। इसलिये जहाँ एक बार उपदेश किया हो वहां भी वह क्रिया बार बार करनी चाहिये ऐसा सिद्ध होता है। परन्तु जहां बार बार उपदेश किया है वहां तो आवृत्ति की सूचना स्पष्ट ही है।

लिंगाच्च ॥ २ ॥

लिंगात् चिह्न से **च** भी [आवृत्ति सूचित होती है]।

चिह्नसे भी ज्ञान क्रिया की आवृत्ति करनी चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उद्गीथ विज्ञान के प्रकरण 'आदित्य उद्गीथः' [छाँ० १।५।१] (आदित्य उद्गीथ है) इस

उपासना से एक ही पुत्र की प्राप्ति होती है ऐसी उसकी निंदा करके 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' [छां० १।५।२] (तू किरणों की उपासना कर) इस प्रकार अनेक पुत्र प्राप्ति के लिये अनेक किरणों की उपासना कह कर, उपासना की आवृत्ति एक प्रसिद्ध वात हो इस प्रकार श्रुति उसका कथन करती है। इसलिये सव ज्ञान क्रियाएँ समान ही होने से उनकी आवृत्ति सिद्ध होती है।

पूर्वपक्ष—जिनके फल साध्य हैं ऐसी उपासनाओं की आवृत्ति की जा सकती है; क्योंकि उनमें आवृत्ति से अतिशय (विशेषता) संभव है, परन्तु परब्रह्म की उपासना में नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव और सबका आत्मा ऐसे परब्रह्म ही की उपासना की जाती है, वहाँ आवृत्ति से क्या लाभ ? एक वारके श्रवण से आत्मा ब्रह्म है ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा, इसलिये आवृत्ति को आवश्यक समझते हैं ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं क्योंकि आवृत्ति करने से भी वह ज्ञान नहीं होगा। यदि 'तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है) इस प्रकार के वाक्य का एक बार श्रवण होने पर आत्मा ब्रह्म है ऐसा ज्ञान न उत्पन्न होगा तो उसको वार वार श्रवण करने से वह ज्ञान उत्पन्न होगा, ऐसी आशा क्यों करनी चाहिये ? यदि कहो कि केवल वाक्य किसी पदार्थ का साक्षात्कार नहीं करा सकता परन्तु युक्तिके साथ वह वाक्य ब्रह्म ही आत्मा है इस बातका साक्षात्कर करा देगा, तो इस अवस्था में भी उस वाक्य की आवृत्ति करना निरर्थक ही होगा; क्योंकि वह युक्ति भी एक बार काम में लाने से ही अपने विषय का साक्षात्कार करा देगी। यदि कहो कि युक्ति और वाक्य से सामान्य विषय का ज्ञान होता है, विशेष विषय का ज्ञान नहीं होता; जैसे मेरी छाती में दर्द है ऐसा

कोई कहे तो इस वाक्य से तथा उसका शरीर काँपता होगा इत्यादि लक्षणों से उसके दर्द के सामान्य ज्ञान ही का अनुभव दूसरे को होता है; जैसे विशेष दुखः का वह दुःखी पुरुष अनुभव करता है वैसा अनुभव उसे नहीं होता और विशेष अनुभव ही अविद्या का निवर्तक है इसलिये उस विशेष अनुभव के लिये आवृत्ति आवश्यक है तो उत्तर में कहते हैं कि यह ठीक नहीं; क्योंकि यही प्रतिपादन बार बार करने से विशेष विज्ञान का उत्पन्न होना संभव नहीं। एक बार प्रयोग करने पर यदि शास्त्र और युक्ति द्वारा विशेष का ज्ञान न होगा तो उसे सौ बार उपयोग करने पर भी विशेष का ज्ञान न होगा। इसलिये शास्त्र और युक्ति द्वारा विशेष का प्रतिपादन होता हो अथवा सामान्य का, किसी अवस्था में भी एक बार प्रवृत्ति से ही वह अपना कार्य करेंगे, इसलिये इनकी आवृत्ति का कुछ भी उपयोग नहीं होगा। शास्त्र और युक्ति का एक बार उपयोग करने से किसी को भी विशेष ज्ञान नहीं होगा ऐसा नियम भी नहीं मान सकते; क्योंकि जानने वालों की बुद्धियाँ भी नाना प्रकार की होतीं है। अनेक अंश वाले सामान्य और विशेष भाव वाले लौकिक पदार्थों के सम्बन्ध में उनके एक अवयव का चित्त से एक बार ग्रहण होगा और दूसरे का दूसरी बार, इस प्रकार उनके बार बार प्रतिपादन करने का उपयोग हो सकता है, बड़े बड़े प्रपाठक यानी अध्यायों के समझने के लिये ऐसा ही किया जाता है (अर्थात् एक बार ध्यान से पढ़ने से, एक अंश समझ में आता है और दूसरी बार पढ़ने से दूसरा अंश समझ में आता है)। परन्तु जिसमें न सामान्य भाव है न विशेष, ऐसे निर्विशेष केवल चैतन्य

स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान के उत्पन्न होने में वार बार श्रवण आदि की अपेक्षा मानना युक्त नहीं है।

समाधान—'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार जिसको एक वार सुनने ही से आत्मा ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा, उसके लिये उसकी पुनः आवृत्ति करना व्यर्थ हो जायगा, परन्तु जिसको ऐसा ज्ञान नहीं होगा उसके लिये तो उसकी आवृत्ति करना ही योग्य है। छान्दोग्य उपनिषत् में 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छां० ६।८।७] (हे श्वेतकेतो, वह तू है) ऐसा उपदेश करके श्रुति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' [छाँ० ६।८।७] (मुझे एक बार पुनः भगवान् उपदेश करें) इस प्रकार बार बार प्रश्न कराकर उन शंकाओं का निराकरण करते हुए वह तू है, यही बार बार उपदेश देती है। यही भाव 'श्रोतव्यो मंतव्यों निदिध्यासितव्यः' [बृ० ४।५।६] (उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये) इत्यादि श्रुतियों में दिखाया है। जो (पूर्वपक्ष में) कहा है कि 'तत्वमसि' (वह तू है) यह वाक्य एक बार श्रवण करने पर यदि अपने अर्थ का बोध नहीं करावेगा तो उसके वार बार कहने से भी वह बोध नहीं करा सकेगा, तो यह दोष नहीं है। जो बात प्रत्यक्ष अनुभव में आती है वह असम्भव है ऐसा नहीं कह सकते। किसी वाक्य का एक बार श्रवण होने से उसका कुछ अर्थ समझ में आता है परन्तु वही वाक्य कई बार सुनने में आवे तो उस सम्बन्ध को शंकाएं दूर होकर उसका अर्थ भली प्रकार समझ में आने लगता है।

'तत्त्वमसि' (वह तू है) यह वाक्य त्वं पद से निर्दिष्ट पदार्थ की की तत्पद से निर्दिष्ट पदार्थ से एकता प्रतिपादन

करता है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१।१] (सत्य ज्ञान और अनंत ब्रह्म है), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' [बृ० ३।६।२८] (विज्ञान और आनंद ब्रह्म है), 'अदृष्टं द्रष्टृ' [बृ० ३ । ८ । ११] (वह दृष्टि का विषय नहीं है केवल देखने वाला है 'अविज्ञातं विज्ञातृ' [बृ० ३।८।११] (न जाना जाय ऐसा है, केवल जानने वाला है), 'अजमजरममरम्' (वह अज, अजर और अमर है), 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' [बृ० ३।८।८] (न वह स्थूल है न सूक्ष्म, न ह्रस्व है न दीर्घ) इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध सत्स्वरूप, ईक्षरण करने वाला, जगत् के जन्म आदि का कारण ब्रह्म ही 'तत्' (वह) इस शब्द से कहा गया है । इन श्रुतियों में अज आदि शब्द से जन्म आदि भावविकार ब्रह्म में नहीं होते ऐसा प्रतिपादन किया गया है, अस्थूल आदि शब्दों से स्थूलता आदि द्रव्य धर्मों का निवारण किया गया है, तथा विज्ञान आदि शब्दों से वह चैतन्य और प्रकाश स्वरूप है ऐसा कहा है । सब संसार के धर्मों से निवृत्त, केवल अनुभव स्वरूप ऐसा ब्रह्म नामक पदार्थ 'तत्' (वह) इस शब्दसे वेदान्त के विचारकों में प्रसिद्ध है । इसी प्रकार श्रोता, देह आदि से लेकर प्रत्यगात्मा तक के रूप से ज्ञात होने वाला और अन्त में वह चैतन्य स्वरूप है ऐसा जिसका निश्चय होता है ऐसा 'त्वम्' (तू) पद से दर्शित पदार्थ प्रत्यगात्मा है यह भी उनमें प्रसिद्ध है । अब जिनका इन शब्दों के अर्थों का ज्ञान अज्ञान, संशय और भ्रम के कारण प्रतिबद्ध (कुंठित) है उनको 'तत्त्वमसि' (वह तू है) यह वाक्य अपने अर्थ का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि वाक्य का अर्थ समझने के लिये पहिले उस वाक्य के सब शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक होता है । इसलिये इन लोगों को उन शब्दों के अर्थों का पृथक् ज्ञान

कराने के लिये श्रुति और युक्ति का बार बार उपयोग करना पड़ता है। यद्यपि ज्ञान का विषय आत्मा अंश से रहित है तो भी उसमें देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना आदि बहुत अंश हैं ऐसा आरोप किया गया है, इसलिये चित्त के एक व्यापार से उसके एक अंश की और दूसरे व्यापार से दूसरे अंश की निवृत्ति होने से आत्मा के स्वरूप का क्रम से ज्ञान ही हो सकता है। परन्तु यह आत्माज्ञान की केवल पूर्वावस्था ही है।

जिनकी मति कुशाग्र है तथा जिनको इन पदार्थों के सम्बन्ध में अज्ञान, संशय विपर्यय रूप प्रतिबंध नहीं है, वे एक ही बार सुनने ही से 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस वाक्य के अर्थ का अनुभव कर सकते हैं और उनके लिये इसकी आवृत्ति करना अनर्थक हो यह इष्ट ही है। एक ही बार आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर वह अविद्या को निवृत्त करता है इसलिये यहां किसी प्रकार का क्रम कहीं मान सकते। यदि कहो कि इस प्रकार का अनुभव किसी को होता हो तो ऐसा कहना युक्त है परन्तु 'मैं दुःखी हूं' यह ज्ञान सबको बलवान होने से 'मैं दुःखों से रहित हूं' इस प्रकार किसी को अनुभव नहीं होता, तो इसका उत्तर देते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'मैं देह आदि हूं' यह अभिमान जैसे मिथ्या है वैसे ही 'मैं दुःखी हूं' यह अभिमान भी मिथ्या है ऐसा कह सकते हैं। देह कट जाने पर अथवा-जल-जाने पर 'मैं कट गया, मैं जल गया' इस प्रकार का मिथ्या अभिमान प्रत्यक्ष देखने में आता है। देह से अन्य ऐसे पुत्र, मित्र आदि कोई दुःखी होने पर भी 'मैं दुःखी हूं' ऐसा आरोप देखने में आता है। इसी प्रकार 'मैं दुःखी हूं' यह आरोप भी होता है। दुःखित्व आदि धर्म भी देह आदि के समान चैतन्य से बाह्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि सुषुप्ति आदि

अवस्थाओं में ये धर्म नहीं पाये जाते। परन्तु चैतन्य की तो सुषुप्ति में भी अनुवृत्ति होती है ऐसा 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' [बृ० ४।३।२३] (वहां वह जो कुछ नहीं देखता वह देखते हुए भी नहीं देखता) इत्यादि से श्रुति प्रतिपादन करती है। इसलिये, मैं सब दुखों से संपूर्ण रूप से रहित चैतन्य स्वरूप हूं यही आत्मा का ज्ञान (अनुभव) है। जो इस प्रकार आत्मा का अनुभव करता है उसके लिये और कुछ भी करने का शेष नहीं रहता। यही बात कहते हुए 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयऽमात्मायं लोकः' [बृ० ४।४।२२] (जिनको यह आत्मा रूप लोक मिला है ऐसे हमको प्रजा से क्या प्रयोजन ?) इस प्रकार श्रुति आत्मज्ञानी के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता यह बताती है। स्मृति भी, 'यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥' [भग० गी० ३।१७] (जिसकी आत्मा ही में प्रीति होती है, जो आत्मा ही में तृप्त है और जो पुरुष आत्मा ही में संतुष्ट है, उसके लिये कोई कार्य शेष नहीं रहता) इस प्रकार उसी बात को कहती है। परन्तु जिसको यह अनुभव त्वरित नहीं होता उसको अनुभव होने के लिये ही बार बार आवृत्ति करनीं पड़ती है ऐसा विदित होता है। तो भी 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस वाक्य के अर्थ को प्राप्त होकर वहां से गिर कर भी आवृत्ति में प्रवृत्त होने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि वर को मारने के लिये कोई कन्या का उससे विवाह नहीं करते। यदि श्रुति की आज्ञा से ऐसा पुरुष आवृत्ति करने लगेगा तो उसमें मैं इसका अधिकारी कर्ता हूं मुझको यह अवश्य करना चाहिये,

ऐसा ब्रह्मज्ञान के विपरीत ज्ञान उत्पन्न होगा। अब जो स्वयं जड़ बुद्धि वाला ही है उसको इस वाक्य से उसके अर्थ का मान न होने से वह उसका त्याग करने में प्रवृत्त न हो, इसलिये उसकी बुद्धि उसी वाक्यार्थ में स्थिर करने के लिये आवृत्ति प्रतिपादक वाक्य उपयोगी होते हैं। इसलिये परब्रह्म के ज्ञान के संबंध में भी उसके साधनभूत उपदेश की आवृत्ति करनी चाहिये ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २ ॥

२ आत्मत्वोपासनाधिकरण।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

आत्मा [ईश्वर] आत्मा [ही] है **इति** ऐसा **तु** ही **उपगच्छन्ति** श्रुति मानती है **च** और **ग्राहयन्ति** [वैसा ही] बोध करा देती है।

जिस परमात्मा को शास्त्रों में कहे हुए गुणों से जाना जाता है, उसका आत्म रूप से (मैं वह हूं इस रूप से) बोध करना चाहिये अथवा वह मुझसे कोई भिन्न पदार्थ है ऐसा उसका ग्रहण करना चाहिये इसका अब विचार करते हैं। यदि कहो कि जब आत्मा शब्द प्रत्यगात्मा के लिये श्रुति में दिया गया है तब यह संशय कैसे होगा, तो कहते हैं कि यह आत्मा शब्द का मुख्य अर्थ तब ही माना जायगा जब जीव और ईश्वर का अभेद संभव हो, अन्यथा वह गौण अर्थ ही में माना जायगा।

पूर्वपक्ष—परमात्मा 'मैं' इस रूप से नहीं ग्रहण हो सकता। पाप रहितत्व आदि गुण वाले को उससे विपरीत गुणों वाला मान नहीं सकते, न जिसमें विरुद्ध धर्म हैं उसमें पाप रहितत्व आदि गुण हैं ऐसा मान सकते हैं। पाप रहितत्व आदि गुणों से युक्त परमेश्वर है और उससे विपरीत गुणों से

युक्त जीव है। यदि ईश्वर ही संसारी माना जायगा, तो ईश्वर का अभाव होने का प्रसंग प्राप्त होगा और फिर सब शास्त्र भी निरर्थक हो जायंगे। वैसे ही, यदि संसारी जीव को ईश्वर माने तो शास्त्र का कोई अधिकारी न रहने से भी शास्त्र निरर्थक हीं हो जायंगे, तथा ऐसा मानने में प्रत्यक्ष आदि से भी विरोध आता है। ये दोनों भिन्न होते हुए भी, जैसे प्रतिमा आदि में विष्णु आदि को देखा जाता है, वैसे शास्त्र प्रमाण से इनके अभिन्न होने की भावना की जाती हो तो भले की जाय, परन्तु संसारी जीवों का मुख्य आत्मा ईश्वर हो नहीं सकता।

समाधान—आत्मा ही परमेश्वर है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि परमेश्वर के प्रकरण में जाबाल शाखा वाले परमेश्वर को आत्मरूप से ही प्रतिपादन करते हैं; जैसे, 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि भगवो देवते' (हे भगवन् देवता, तू ही मैं हूं; हे भगवन् देवता, मैं ही तू है)। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्माऽस्मि' (मैं ब्रह्म हूं) इत्यादि श्रुतियों में भी परमेश्वर को आत्मा बताया है। वेद के वाक्य भी आत्मरूप से ही ईश्वर का बोध कराते हैं; जैसे, 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' [बृ० ३।४।१] (यह तेरा आत्मा ही सब में व्यापक यानी ईश्वर है,) 'एष त आत्माऽन्तर्यम्यमृतः [बृ० ३।७।३] (यह तेरा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमृत है), तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है) इत्यादि। पूर्व पक्ष में जो कहा था कि विष्णु की प्रतिमा आदि के समान यहां पर प्रतीक दर्शन होगा यानी जीव में ब्रह्म की भावना होगी तो वह अयुक्त है; क्योंकि ऐसा मानने में ये श्रुतियां गौण हो जायंगी तथा इन श्रुतियों की रचना भी इसके अनुकूल नहीं है। जहां पर किसी वस्तु की भावना से अभिप्राय होता है वहाँ

वैसा एक बार ही कहा जाता है जैसे, 'मनो ब्रह्म' [छाँ० ३ । १८ । १] (मन ब्रह्म है), 'आदित्यो ब्रह्म' [छां० ३ । १९ । १] (आदित्य ब्रह्म है) इत्यादि । परन्तु प्रकृत श्रुति में 'मैं तू है और तू मैं हूं', ऐसा कहा है, इसलिये यह कथन भावना करने के कथन के प्रतिकूल होने से इससे अभेद ही बोध होता है । श्रुति ने भेद दृष्टि की निन्दा की है उससे भी यही बात सिद्ध होती है । वह निन्दा इस प्रकार है— 'अथयोऽन्यांदेवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' [बृ० १ । ४ । १०] (अब यह देवता अन्य है ऐसा समझकर जो उसकी उपासना करता है और वह अन्य है और मैं अन्य हूं. ऐसा जानता है, उसका जानना ठीक नहीं है) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, [बृ० ४ । ४ । १९, कठ० ४ । १०] (जो यहाँ पर भेद को देखता है वह बार बार मृत्यु को प्राप्त हुआ करता है), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' [बृ० ४ । ५ । ७] (सब उसका त्याग करते हैं, जो सबको आत्मा से यानी अपने से भिन्न जानता है) इत्यादि अनेक श्रुतियों में भी भेद दृष्टि की निंदा की गई है । जो पूर्व-पक्ष में कहा था कि विरुद्ध गुणों वाले परस्पर एक रूप नहीं हो सकते, उसके उत्तर में कहते हैं कि यह दोषी नहीं प्राप्त होता; क्योंकि ये विरुद्ध धर्म मिथ्या हैं ऐसा सिद्ध होता है और जो कहा था कि ईश्वर के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा वह भी ठीक नहीं; क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व में शास्त्र का प्रमाण है तथा (जीव ही ईश्वर है) ऐसा हम मानते भी नहीं । तो क्या मानते हैं ? संसारी आत्मा के संसारित्व का निषेध करते हुए वही ईश्वर है, यही श्रुति का अभिप्राय है ऐसा हम मानते हैं ।

इससे ईश्वर अद्वैत और पाप रहित है और जीव में जो उससे विपरीत गुण हैं वे मिथ्या हैं ऐसा सिद्ध होता है।

अब जो कहा था कि अधिकारी का अभाव तथा प्रत्यक्षादि का विरोध होगा, उसका उत्तर देते हैं कि वह मिथ्या है। बोध के पूर्व संसारित्व होता है ऐसा हम मानते हैं और प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सब उसी के विषय होते हैं। 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत' [बृ० २।४।१४] (परन्तु जहाँ इसको सब कुछ आत्मरूप ही होगया तब वह किससे क्या देखे ?) इत्यादि श्रुति प्रबोध काल में प्रत्यक्षादि का अभाव बताती है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष के अभाव में श्रुति का भी अभाव हो जायगा तो वह ठीक नहीं; क्योंकि यह तो इष्ट ही है 'अत्र पिताऽपिताभवति' [बृ० ४।३।२२] (यहाँ पिता पिता नहीं रहता) इस प्रकार आरम्भ करके 'वेदा अवेदाः' [बृ० ४।३।२२] (वेद वेद नहीं रहते) इस प्रकार बचन होने से प्रबोध काल में श्रुति का अभाव हो यह हमारे लिये इष्ट ही है। यदि पूछो कि फिर यह अबोध किसको होता है तो उत्तर देते हैं कि यह जो तू पूछता है उसी को। यदि कहेगा कि ऊपर दिये हुए श्रुति के अनुसार तो मैं ईश्वर ही हूं तो कहते हैं कि यदि ऐसा तुझे बोध होगया हो तो अबोध किसी को भी नहीं।

अब कोई जो ऐसा दोष देते हैं कि अविद्या के कारण आत्मा को सद्वितीयत्व यानी द्वैत की (आत्मा और अविद्या इस द्वैत की) प्राप्ति होने से अद्वैत मत की स्थापना हो नहीं सकती; उसका भी (किसी को अबोध नहीं है) ऐसे कहने से खंडन हो जाता है। इसलिये ईश्वर में वह आत्मा है ऐसी बुद्धि करनी चाहिये यह सिद्ध हुआ॥ ३॥

३ प्रतीकाधिकरण ।

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

प्रतीके [ब्रह्म के] प्रतीकों में [आत्मा की बुद्धि] **न** नहीं की जाती **हि** क्योंकि **स** वह [प्रतीकों को आत्मा] **न** नहीं [समझता]।

'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' [छां० ३ । १८ । १] (मन ब्रह्म है ऐसा मानकर उपासना करनी चाहिये, यह आध्यात्मिक उपासना है और आकाश ब्रह्म है ऐसा मानकर उपासना करनी चाहिये, यह अधि-दैविक उपासना है), तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [छां० ३।१९।१] (आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है), 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' [छां० ७।१।५] (जो नाम की ब्रह्म रूप से उपासना करता है) इत्यादि श्रुतियों में कही हुई प्रतीकों पासनाओं के संबंध में संशय होता है कि क्या इनमें आत्म बुद्धि करनी चाहिये या नहीं।

पूर्वपक्ष—उनमें आत्म बुद्धि करना ही युक्त है, क्योंकि श्रुति में ब्रह्म आत्मारूप से प्रसिद्ध है और प्रतीक भी ब्रह्म ही के विकार होने से ब्रह्म ही हैं, इसलिये वे भी आत्मरूप ही हैं ऐसा सिद्ध होता है।

समाधान—प्रतीकों में आत्म बुद्धि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उपासक विभिन्न प्रतीकों को आत्मरूप समझ नहीं सकेगा। पूर्वपक्ष में जो कहा हैं कि प्रतीक ब्रह्म ही के विकार होने से वे ब्रह्म ही हैं और इसीलिये वे आत्म रूप हैं यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से प्रतीकों का ही अभाव हो जायगा।

नाम आदि के विकार का नाश होने से फिर उनको प्रतीकत्व ही कहां रहेगा और उनमें आत्मबुद्धि कहां से होगी ? अब ब्रह्म आत्मस्वरूप है इसलिये ब्रह्म दृष्टि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति में आत्मदृष्टि का कथन है ऐसा मान सकते हैं, क्योंकि, उन श्रुतियों में कर्तृत्व आदि का निराकरण नहीं किया गया है। कर्तृत्व आदि सब सांसरिक धर्मों का निराकरण करके आत्मा ब्रह्म है ऐसा उपदेश श्रुति करती है, और उसका निराकरण करने के पहिले उपासना का विधान करती है। इसलिये उपासक की प्रतीक के साथ समानता होने से उनमें आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। रुचक और स्वस्तिक (आभूषण) ये परस्पर आत्मस्वरूप नहीं हो सकते, परन्तु सुवर्णरूप से वे एक हैं। अब प्रतीक ब्रह्मरूप से एक हैं ऐसा मानें तो प्रतीकों का ही अभाव हो जायगा यह पहिले ही कह चुके हैं; इसलिये प्रतीकों में आत्मदृष्टि नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

४ ब्रह्मदृष्टयधिकरण।

ब्रह्मदृष्टिःरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

ब्रह्मदृष्टिः [आदित्य आदि] ब्रह्म है ऐसी बुद्धि [करनी चाहिये] **उत्कर्षात्** क्योंकि (ऐसा करने से उत्कर्ष की प्राप्ति होती है।

उन्हीं उदाहरणों में एक और संशय खड़ा होता है कि क्या आदित्य आदि की बुद्धि ब्रह्म में करनी चाहिये अथवा ब्रह्म की बुद्धि आदित्य आदि में करनी चाहिये। इस संशय का कारण यह है कि सामानाधिकरण्य करने में हेतु क्या है इसका निश्चय नहीं होता। यहां पर ब्रह्म शब्द का आदित्य आदि शब्दों के साथ

सामानाधिकरण्य पाया जाता है, क्योंकि आदित्य ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, विद्यु त् ब्रह्म है इस प्रकार दोनों का एक ही विभक्ति में प्रयोग है। अब यहां पर सामानाधिकरण्य भी ठीक नहीं बैठता, क्योंकि ब्रह्म और आदित्य आदि शब्दों के अर्थ भिन्न हैं। यदि कहो कि शराव (कूजा) आदिका जैसे अपने कारण मिट्टीके साथ सामानाधिकरण्य होता है वैसे ही आदित्य आदि ब्रह्म के विकार यानी कार्य होने से इनमें सामानाधिकरण्य बन सकेगा तो वह ठीक नहीं, इस प्रकार कारण और कार्य का सामानाधिकरण माने तो कार्य का ही लय हो जायगा और उससे प्रतीकों का ही अभाव होने का प्रसंग प्राप्त होगा यह हम पहिले ही कह चुके हैं। उस अवस्था में यह वाक्य परमात्म सम्बन्धी ही हो जायगा और उपासना का अधिकार ही किसी को नहीं रहेगा; वैसे ही, परिमित ऐसे कार्यों का ग्रहण करना निरर्थक हो जायगा (क्योंकि दोनों का सामानाधिकरण्य का वोध है उस अवस्था में ब्रह्म ही का क्यों न ग्रहण किया जाय)। इसलिये यहां पर 'ब्राह्मणोऽग्नि-वैंश्वानर:' (ब्राह्मण वैश्वानर अग्नि है) इत्यादि वाक्यों के समान एक पदार्थ में अन्य पदार्थ का अध्यास है ऐसा ही मानना पड़ेगा और इसीलिये यहां पर संशय होता है कि यहां किस वस्तु का किस वस्तु में अध्यास किया गया है।

पूर्वपक्ष—यहां पर ऐसा कोई नियम नहीं मान सकते, क्योंकि इसका निर्णय करने के लिये कोई शास्त्र प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अथवा ब्रह्म ही में आदित्य आदि की बुद्धि करनी चाहिये यही प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा करने से आदित्य की बुद्धि द्वारा ब्रह्म की उपासना होती है और ब्रह्म की उपासना ही (मोक्ष) फल को देने वाली है ऐसा शास्त्रों का सिद्धांत हैं।

समाधान—आदित्य आदि में ही ब्रह्म दृष्टि करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करने ही से उत्कर्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्कर्ष के साथ आदित्य आदि को देखा जाता है, क्योंकि उन पर उत्कृष्ट वस्तु का अध्यास किया जाता है। व्यवहार में भी इसी न्याय का अनुकरण देखने में आता है, जैसे सारथी में राजा की दृष्टि की जाती है; और इसी का अनुसरण यहां करना चाहिये, क्योंकि इससे विपरीत करने में हानि की सम्भावना है। यदि राजा को सारथी की दृष्टि से देखा जाय तो उसको हीनता प्राप्त होने से यह हमारे कल्याण का हेतु न होगा। यदि कहो कि शास्त्र प्रमाण के आगे हानि की सम्भावना होगी ऐसी शंका न करनी चाहिये और लौकिक दृष्टि से शास्त्र दृष्टि का निर्णय करना यह भी युक्त नहीं है, तो उसका उत्तर देते हैं कि शास्त्र का जहां निर्णय मिलता हो वहां वैसा ही होगा परन्तु जहां शास्त्र का निर्णय संदिग्ध होगा वहां लौकिक न्याय का आश्रय लिया जाय तो उसमें कोई विरोध नहीं है। इसलिये उस व्यावहारिक न्याय के अनुसार उत्कृष्ट का निकृष्ट में अध्यास किया जाय, ऐसा शास्त्र का अर्थ हम निश्चित कर सकते हैं। इसलिये उत्कृष्ट में निकृष्ट का अध्यास करने से हानि होगी यह भी युक्त ही होता है।

आदित्य आदि शब्द वाक्यमें प्रथम होने से उनका मुख्य अर्थ ही लेना चाहिये, क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं है। अब ये शब्द मुख्य अर्थ में अपनी बुद्धि में प्रविष्ट होने के पश्चात् आगे आने वाले ब्रह्म शब्द का भी मुख्य अर्थमें ग्रहण किया जाय तो उसका (पूर्व के आदित्य आदि के साथ) सामानाधिकरण्य संभव नहीं होता, इसलिये इन वाक्यों का ब्रह्म दृष्टि

का विधि कहने ही में तात्पर्य है ऐसा सिद्ध होता है। इन वाक्यों में 'इति' (ऐसा मान कर) ऐसा जो शब्द है उससे भी यही अर्थ योग्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ब्रह्मे त्यादेशः' (यह यानी आदित्यादि ब्रह्म है यह उपदेश है) 'ब्रह्मे त्युपासीत' (उसको ब्रह्म मानकर उापसना करनी चाहिये), ब्रह्मे त्युपास्ते' (उसको ब्रह्म मानकर उपासना करते हैं) इत्यादि सब वाक्यों में ब्रह्म शब्द के साथ 'इति' शब्द का प्रयोग है, परन्तु आदित्य आदि शब्द वैसे ही प्रयुक्त किये गये हैं। इसलिये, जैसे कोई कहे कि सीपी में रजत भासता है तो यहां सीपी शब्द सीपी अर्थ के लिये है परन्तु रजत शब्द तो रजत की प्रतीति का ही बोध कराता है। वह यही बताता है कि वह रजत की प्रतीति मात्र है वहां रजत है नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी आदित्य आदि ब्रह्म है इस कथन में भी वैसा प्रतीत होता है यही बोध होता है। 'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मे त्युपास्ते' [छाँ० ३।१६।४] (जो ऐसा जानकर आदित्य को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं), 'यो वाचं ब्रह्मे त्युपास्ते' [छां० ७।२।२] (जो वाणी की ब्रह्म रूप से उपासना करता है), 'यः संकल्पं ब्रह्मे त्युपास्ते' [छाँ० ७।४।३] (जो संकल्प को ब्रह्म मानकर उसको उपासना करता है) इत्यादि वाक्य शेषों में भी आदित्य आदि द्वितीया विभक्ति में होने से आदित्य आदि ही उपासना की क्रिया के मुख्य कर्म है ऐसा दिखाई देता है।

अब जो कहा था कि (मोक्ष) फल की प्राप्ति के लिये ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये वह ठीक नहीं; क्योंकि ऊपर के कथनानुसार आदित्य आदि ही यहां पर उपास्य है ऐसा विदित होता है। अब सब का अध्यक्ष होने से अतिथि आदि की उपासना के समान आदित्य आदि की उपासना का फल भी

वही देगा, यह बात 'फलमत उपपत्तेः' [ब्र० सू० ३।२।३८] (कर्म के फल ईश्वर ही से प्राप्त होते हैं, क्योंकि यही संभव है) इस सूत्र में कही गई है। इस प्रकार यहां ब्रह्म उपास्य है ऐसा जो कहा है वह जैसे प्रतिमा आदि में विष्णु का आरोप किया जाता है, वैसे ही ब्रह्म के प्रतीकों में ब्रह्म की दृष्टि करनी चाहिये इसी अभिप्राय से कहा है ॥ ५ ॥

५ आदित्यादिमत्यधिकरण ।

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

अंगे [कर्मों के] अंगों पर **च** ही **आदित्ममतयः** आदित्य आदि की बुद्धि [का आरोप किया जाता है] **उपपत्तेः** क्योंकि [इसी प्रकार कर्मसमृद्धि युक्त होता है] ।

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' [छां० १।३।१] (जो यह प्रकाशता है उसकी उद्गीथ रूप से उपासना करनी चाहिये), 'लोकेषु पंचविधं सामापासीत' [छाँ० २।२।१] (लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिये), 'वाचि सप्तविधं सामोपासीत्' [छाँ० २।८।१] (वाणी में सात प्रकार के सामों की उपासना करनी चाहिये), 'इयमेव-र्गग्निः साम' [छाँ० १।६।१] (यही यानी पृथ्वी ही ऋक् है, अग्नि साम है) इत्यादि प्रकार से कर्मों पर निर्भर रहने वाली उपासनाओं के विषय में संशय होता है कि क्या आदित्य आदि में उद्गीथ बुद्धि करने का यहां विधान है अथवा उद्गीथ आदि में आदित्य बुद्धि करने का विधान है ।

पूर्वपक्ष—इसका कोई नियम नहीं, क्योंकि ऐसा नियम करने के लिये कोई कारण (प्रमाण) नहीं दिखाई देता, न

ब्रह्म के सदृश किसी विशिष्ट प्रकार का उत्कर्ष यहां पर अभिप्रेत है यह भी निश्चित नहीं होता। सब जगत का कारण होने से तथा पाप रहितत्व आदि गुणों से युक्त होने से ब्रह्म आदित्य आदि से उत्कृष्ट है यह समझ में आ सकता है परन्तु आदित्य उद्गीथ आदि सब समान ही रूप से विकार होने से उनमें से किसी का अधिक उत्कर्ष है ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है। अथवा, आदित्य आदि में नियम से ही उद्गीथ आदि बुद्धि का अध्यास करना चाहिये, क्योंकि उद्गीथ आदि कर्म रूप है और कर्म से फल प्राप्त होता है यह प्रसिद्ध ही है। उद्गीथ आदि की बुद्धि से उपासना की जाने से आदित्य आदि भी कर्मात्मक (यानी कर्म अंग रूप) होंगे और इस प्रकार फल के कारण होंगे। वैसे ही, 'इयमेवर्गग्निः' [छां० १।६।१] (यही ऋक् है, अग्नि साम है) इस श्रुति का 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' [१।६।१] (ऐसा यह साम इस ऋक् में रखा हुआ है) ऐसा जो वाक्य शेष है उसमें ऋक् शब्द से पृथ्वी का ही निर्देश किया गया है और साम शब्द से अग्नि का निर्देश किया गया है। अब यह निर्देश यदि पृथ्वी और अग्नि में ऋक् और साम की बुद्धि करनी हो तब ही युक्त होता है, ऋक् और साम में पृथ्वी और अग्नि की बुद्धि करनी हो तो नहीं। सारथी में राजा की दृष्टि करने से यानी सारथी को राजा कहने से ही राजा शब्द का गौण अर्थ में प्रयोग होता है परन्तु राजा के लिये सारथी शब्द का प्रयोग नहीं होता। ऐसे ही 'लोकेषु पंचविधं सामोपासीत्' [छां० २।२।१] (लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिये) इस वाक्य में अधिकरण का निर्देश होने से लोकों में साम का अध्यास करना चाहिये यही प्रतीत होता है। 'एतद् गायत्रं

प्राणेषु प्रोतम्' [छां० २।११।१] (यह गायन यानी साम प्राणों में गुथा हुआ है) यह वाक्य भी इसी भाव को दिखाता है। इसी प्रकार 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (आदित्य ब्रह्म है, यह उपदेश हैं) इत्यादि श्रुतियों में भी प्रथम निर्दिष्ट किये हुए आदित्य आदि पदार्थों में अंत में कथन किये हुए ब्रह्म का अध्यास होता है। 'पृथिवी हिंकारः' [छाँ० २।२।१] (पृथिवी हिंकार है); इत्यादि श्रुतियों में पृथिवी आदि का प्रथम निर्देश है और हिंकार आदि का पीछे। इसलिये जो कर्म के अंगभूत नहीं है ऐसे आदित्य आदि में कर्म के अंगभूत पदार्थों की भावना (दृष्टि) की जाती है यही प्रतीत होता है।

समाधान—आदित्य की भावना ही उद्गीथ आदि अंगों में करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा मानने ही से [कर्म समृद्धि] उपपन्न होती है। यानी सुसंगत होती है। इस प्रकार मानने ही से अपूर्व (पुण्य) के सम्बन्ध से आदित्य आदि की बुद्धि से उद्गीथ आदि संस्कार युक्त होने पर कर्मसमृद्धि युक्त होती है। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [छाँ० १,१।१०] (जो वह विद्या, श्रद्धा और देवताओं की उपासना के साथ करता है वही अधिक बलवान् होता है) यह श्रुति विद्या कर्मसमृद्धि का कारण है यह निर्दिष्ट करती है।

शंका—जिन उपासनाओं का कर्मसमृद्धि फल है उनके सम्बन्ध में यह कहना ठीक है परन्तु 'य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पंचविधं सामोपास्ते' [छां० २।२।३] (जो इसको ऐसा

जानकर लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है) इत्यादि श्रुतियों में वर्णित जिन उपासनाओं का स्वतन्त्र फल है उनके सम्बन्ध में यह कथन कैसे युक्त होगा ?

समाधान—वहां पर भी जिनको कर्म का अधिकार है, उन्हीं को उपसना का अधिकार होने से अपूर्व के सम्बन्ध ही से उपासनाओं के फलों की कल्पना करना युक्त है। गो दोहन आदि के नियम के समान ही यह नियम है (गो दोहन दूध दुहने के पात्र को कहते हैं। पशुकी इच्छा रखने वाला पुरुष गो दोहन में यज्ञके लिये जल लाता है। यहां पर अभिप्राय यह है कि यह पशु प्राप्ति का फल स्वतन्त्र नहीं है। यज्ञ ही में इस प्रयोग द्वारा पशु प्राप्ति होती है)। तथा आदित्य आदि फल रूप होने से वे कर्मात्मक उद्‌गीथ आदि से उत्कृष्ट हैं ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि श्रुतियों में आदित्य आदि को प्राप्त होना यही कर्मों का फल है ऐसा कहा है। वैसे ही 'ओमित्येतदक्षर-मुद्‌गीथमुपासीत' [छां० १।१।१] (ओम् यह अक्षर उद्‌गीथ है, उसकी उपासना करनी चाहिये), 'खल्वे तस्यैवाक्षरस्योप-व्याख्यानं भवति' [छां० १।१।१०] (इसी अक्षर का यह उपव्याख्यान है), ये श्रुतियां उद्‌गीथ ही की उपासना करनी चाहिये इस प्रकार प्रकरण प्रारम्भ करती हुई आगे आदित्य आदि की बुद्धि करने का विधान करती हैं।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि उद्‌गीथ आदि की बुद्धि से आदित्य आदि की उपासना करने से आदित्य आदि स्वयं कर्म रूप होकर फल को देंगे, वह ठीक नहीं है। उपासना स्वयं कर्म रूप होने से वही फल देती है। दूसरे, उद्‌गीथ आदि की आदित्य आदि रूप से उपासना करने से भी उनका कर्मात्म-

कत्व नष्ट नहीं होता । 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' [छां० १।६।१] (ऐसा यह साम इस ऋक् में रखा हुआ है) इस वाक्य में ऋक् और साम का पृथ्वी और अग्नि के अर्थ में प्रयोग लाक्षिणक ही है। लक्षणा मुख्यार्थ के यथा संभव दूर के अथवा निकट के सम्वन्ध से प्रवृत्त होती है। इसलिये ऊपर के वाक्यों में यद्यपि ऋक् और साम में पृथ्वी और अग्नि की दृष्टि करनी इष्ट है तो भी ऋक् और साम का प्रसिद्ध रूप से निर्देश है और पृथ्वी और अग्नि ये संनिहित हैं इसलिये पृथ्वी और अग्नि के साथ ऋक और साम का सम्वन्ध होने से ऋक् और साम शब्दों का पृथ्वी और अग्नि ही के अर्थ में प्रयोग किया गया है ऐसा निश्चित होता है। सारथी शब्द भी कारणवश राजा के लिये प्रयोजित होता है यह वात माननी पड़ती है। 'इयमेवक्'' [छां० १।६।१] (यही ऋक् है) इस श्रुति के शब्दों की रचना देखते हुए उससे ऋचा ही पृथ्वी स्वरूप है ऐसा श्रुति निर्धारित करती है। पृथ्वी ही ऋक् स्वरूप है ऐसा यदि श्रुति का अभिप्राय होता तो 'इयमृगेव' (यह ऋक् ही है) इस प्रकार उनकी शब्द रचना होती। 'य एवं विद्वान्साम गायति' [छां० १।७।७] (जो ऐसा जानकर साम का गायन करता है) यह श्रुति भी कर्म के अंगों में आई हुई उपासनाओं का उपसंहार करती है, पृथ्वी आदि की उपासनाओं का उपसंहार नहीं करतो। तथा, 'लोकेषु पंचविधं सामोपासीत' [छां० २।२।१] (लोकों में पांच प्रकार के सामों की उपासना करनी चाहिये) इस श्रूति में यद्यपि लोक शब्द सप्तमी विभक्ति में है तो भी उनका ही सामों में अध्यास करना चाहिये, क्योंकि साम शब्द द्वितीया विभक्ति में होने से यहां साम उपास्य है ऐसा निश्चित होता है। सामों में लोकों

का अध्यास करने से साम की लोक रूप से उपासना होती है परन्तु ऐसा न करे तो लोकों की साम रूप से उपासना होगी। इससे 'एतद् गायत्रं साम प्राणेषु प्रोतम्' [छां० २।११।१] (यह गायत्र साम प्राणों में गुथा हुआ है) इत्यादि श्रुति का भी व्याख्यान हुआ।

अब 'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' [छां० २।८।१] (सात प्रकार के सामों की आदित्य रूप से उपासना करनी चाहिये) इत्यादि वाक्यों में दोनों शब्दों के लिये द्वितीया विभक्ति लगाई गई है, वहां भी सामों में ही आदित्य आदि का अध्यास करना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि, 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' [छां० २।१।१] (समस्त साम ही की उपासना अच्छी है), 'इति तु पंचविधस्य' [छां० २।७।२] (ऐसी यह पांच प्रकार के सामों की उपासना है) 'अथ सप्तविधस्य' [छां० २।८।१] (अब सात प्रकार के सामों की उपासना कहते हैं) इत्यादि वाक्यों में साम ही का उपास्य रूप से श्रुति ने उपक्रम किया है। इसीसे साम उपास्य है ऐसा निश्चित होने से 'पृथिवी हिंकारः' [छां० २।२।१] (पृथिवी हिंकार है) इत्यादि वाक्यों में शब्द रचना विपरीत होते हुए भी हिंकार आदि में ही पृथ्वी की दृष्टि करनी चाहिये ऐसा सिद्ध होता है। इसलिये, कर्म के अंगभूत रूप उद्गीथ आदि में कर्मांगभूत न होने वाले आदित्य आदि की दृष्टि का अध्यास करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

६ आसीनाधिकरण। सू० ७-१०

आसीनः संभवात् ॥ ७॥

आसीनः [उपासक] बैठा हुआ [ही उपासना करता है] **संभवात्** क्योंकि [उपासना उसी स्थिति में] संभव है।

कर्मांगों से संबंध रखने वाली उपासनाओं के संबंध में आसन आदि का विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे उपासनाएँ उस कर्म ही के अनुसार होती हैं, तथा विज्ञान संबंध में भी यह विचार कर्तव्य नहीं, क्योंकि विज्ञान (अनुभव) वस्तु के अनुसार ही होता है। परन्तु इतर उपासना खड़े होकर, बैठकर अथवा सो कर की जाती है, अथवा इसमें कोई नियम ही नहीं है, अथवा ये बैठकर ही करनी चाहिये ऐसा नियम है, इसका विचार करते हैं।

पूर्वपक्ष—उपासना मानसिक होने से शरीर किस प्रकार रखना चाहिये इसका कोई नियम नहीं हो सकता।

समाधान—बैठकर ही उपासना करनी चाहिये क्योंकि यही संभव है। उपासना तब होती है जब एक ही प्रकार का चित्त का प्रवाह चलता रहे और यह बात चलते और दौड़ते हुए नहीं बन सकती, क्योंकि गति आदि से चित्त को विक्षेप होता है। खड़े रहने में भी मन देह को धारण करने में लगा ही रहता है इसलिये उस अवस्था में भी वह सूक्ष्म वस्तुओं का निरीक्षण करने में समर्थ नहीं होता और यदि सोकर उपासना करता है तो अकस्मात् ही उसे निद्रा घेर लेगी परन्तु बैठकर उपासना करने में इस प्रकार कई दोष सहज ही दूर रहते हैं, इसलिये इसी अवस्था में उपासना हो सकती है ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

ध्यानात् ध्यान रूप होने से **च** भी [उपासना बैठकर ही हो सकती है]।

एक ही प्रकार का चित्त का प्रवाह बहना यही ध्यान शब्द का अर्थ है। अब किसी प्राणी का कोई अंग हिलता नहीं, दृष्टि निश्चल होती है और मन किसी एक विषय में एकाग्र हुआ होता है तब उस समय वह प्राणी ध्यान करता है ऐसा गौण रूप से कहा जाता है। जैसे, बगुला ध्यान करता है, प्रवास में गये हुए पति का स्त्री ध्यान करती है ऐसा कहते हैं। बैठे बैठे यह ध्यान अनायास होता है इसलिये यह उपासना का काम भी बैठकर ही करने का है ॥ ८॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अचलत्वम् अचवत्व की **अपेक्ष्य** अपेक्षा रख कर **च** ही [पृथ्वी ध्यान करती है] ऐसा श्रुति कहती है।

वैसे ही, 'ध्यायतीव पृथिवी' [छां ७। ६। १] (पृथ्वी जैसे ध्यान करती है) इस श्रुति में पृथ्वी आदि अचल है इसकी अपेक्षा ही से पृथ्वी आदि के लिये ध्यान करती है ऐसा कहा है और यह बात भी उपासना बैठकर करनी चाहिये इसका सूचक है ॥ ९ ॥

स्मरन्तिच ॥ १० ॥

च और **स्मरन्ति** स्मृति में [यही बात] कही है।

विद्वान् लोग आसन एक उपासना का अंग है, ऐसा कहते हैं, जैसे 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' [भग० गी० ६। ११] (पवित्र देश में अपना आसन स्थिर रख कर) इत्यादि। इसीलिये पद्मासन आदि आसनों का योग शास्त्र में उपदेश किया गया है ॥ १० ॥

७ एकाग्रताधिकरण ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

अविशेषात् [श्रुति में] विशेष प्रकार के नियम का निर्देश न होने से **यत्र** जहां **एकाग्रता** एकाग्रता हो **तत्र** वहाँ [उपासना करनी चाहिये] ।

उपासनाओं के सम्बन्ध में अब दिशा, देश और काल के विषय में संशय होता है कि इस विषय में भी कुछ नियम है अथवा नहीं है । किसी के मन में आवे कि जब सामान्य रूप से वैदिक कर्मों में दिशा आदि के नियम कहे हुए होते हैं तब यहाँ भी वैसा कोई नियम होगा, उसको उत्तर देते हैं कि दिशा, देश और काल का नियम वही है जो उपासना में उपयोगी हो। जिस दिशा में और जिस देश काल में इसके मनकी सुलभता पूर्वक एकाग्रता होती है वहीं उपासना करनी चाहिये । श्रुति ने जैसे [कुछ यज्ञों के सम्बन्ध में] पूर्व दिशा, मध्याह्न काल और पूर्व दिशा की ओर ढलता प्रदेश इत्यादि प्रकार के विशेष नियम कहे हुए हैं वैसे उपासना संबंधी कोई नियम नहीं कहे हैं तथा एकाग्रता यह बात जो इष्ट हैं वह सर्वत्र समान है। यदि कहो कि विशेष प्रकार के नियम भी कहीं कहीं श्रुति में दिये हैं; जैसे 'समे शुचौ शर्करावह्नि वालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।' [श्वे० २ । १०] (सीधी, स्वच्छ, कंकर, अग्नि, वालू इससे रहित शब्द रहित जलाश्रय से दूर, मन को अनुकूल हो और जहां मच्छर आदि न हो ऐसी गुहा में निर्वात स्थान का आश्रय कर के योगी योगाभ्यास करे) इत्यादि तो उसका उत्तर देते हैं कि यह ठीक है, ऐसा नियम अवश्य है।

परन्तु इन नियमों में जिन विशेषों का निर्देश नहीं है उनके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है ऐसा मित्र भाव से आचार्य कहते हैं। मनोनुकूले' (मन को अनुकूल) यह उपर्युक्त श्रुति का अंश जहाँ एकाग्रता हो सके वहीं उपासना करनी चाहिये यह दिखाता है॥ ११॥

८ आप्रायणाधिकरण।

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

आ प्रायणात् मरण पर्यन्त [उपासना बार बार करते रहना चाहिये] हि क्योंकि **तत्रापि** वहां भी [अनुवृत्ति होती है ऐसा श्रुति से] **दृष्टम्** विदित होता है।

जितनी उपासनाएं हैं सब बार बार करनी चाहिये ऐसा प्रथम अधिकरण में निश्चित किया। अब उनमें जो उपासनाएँ सम्यक् ज्ञान के लिये की जाती हैं वे अवघात आदि के समान त्वरित कार्य को उत्पन्न करती हैं, इसलिये इनकी आवृत्ति का परिमाण भी निश्चित किया। यह स्पष्ट है कि सम्यक् ज्ञान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् और कुछ प्रयत्न करने की श्रुति उपदेश करे यह असम्भव है, क्योंकि जिसके लिये कर्तव्य का उपदेश नहीं हो सकता ऐसा ब्रह्म ही अपना आत्मा है, ऐसा जिसको बोध हुआ है वह शास्त्र का विषय नहीं है। परन्तु जिन उपासनाओं का फल अभ्युदय (स्वर्गादि) है उनके संबंध में यह विचार प्राप्त होता है कि क्या वह उपासना को कुछ काल पर्यन्त करता रहे और पश्चात् उसको त्याग दे अथवा मरण पर्यन्त उसको करता रहे।

पूर्वपक्ष—कुछ काल तक ऐसी उपासना की आवृत्ति करके पश्चात् उसका त्याग करना चाहिये क्योंकि इतने ही से आवृत्ति

युक्त उपासनाओं का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का प्रयोजन सिद्ध होता है।

समाधान—उपासना की आवृत्ति मरण पर्यन्त ही करते रहना चाहिये, क्योंकि अन्तिम (मरण काल के) प्रत्यय ही से अदृष्ट फल प्राप्त होता है। जिनका भोग अन्य जन्म में मिलने वाला है ऐसे कर्म भी अपना फल देने के लिये मरण काल में उस फल के अनुरूप भावनामय ज्ञान उत्पन्न करते हैं ऐसा आगे दी हुई श्रुतियों से विदित होता है, जैसे, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' [बृ० ४। ४। २] (मरण काल में वह ज्ञान से यानी वासना रूप ज्ञान से युक्त होता है और इस ज्ञान से युक्त ही वह उस शरीर से निकल जाता है), 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति' [प्र० ३। १०] (मरण काल में जो संकल्प होता है उसके साथ वह प्राण को प्राप्त होता है, प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के साथ वासना के अनुरूप ऐसे लोक को प्राप्त होता है) इत्यादि। तृणजलूका (जोंक) का दृष्टान्त देकर श्रुति [बृ० ४। ४। ३] यही समझाती है। अब इन उपासनाओं को मरणकाल में अपनी आवृत्ति को छोड़ कर और किस भावना रूप ज्ञान की अपेक्षा रह सकती है? इसलिये जिन उपासनाओं का स्वरूप आगे प्राप्त होने वाले फल की भावना है उनकी आमरणान्त आवृत्ति करना आवश्यक है। श्रुति यही कहती है—'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' [श० ब्रा० १०। ६। ३। १] (जिस जिस संकल्प को करके यह इस लोक से जाता है) यह श्रुति मरणकाल में भी प्रत्यय की आवृत्ति होती है ऐसा दिखाती है। स्मृति भी,

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् । तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभाविताः ॥' [भ० गी० ८ । ६] (हे अर्जुन, अन्तकाल में जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए पुरुष शरीर को छोड़ता है, उस भाव से युक्त हुआ वह उसी भाव को प्राप्त होता है), 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' [भ० गी० ८।१०] (मरणकाल में स्थिर मन से), तथा 'सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत' [छाँ० ३ । १७ । ६] (वह मरणकाल में इन तीनों का स्मरण करे) इन वाक्यों में प्रतिपादन करती है कि मरणकाल में भी कुछ कर्तव्य शेष रहता है ॥ १२ ॥

६ तदधिगमाधिकरण ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

तदधिगमे उस [ब्रह्म] की प्राप्ति होने पर **उत्तरपूर्वाघयोः** पहिले के और आगे के पापों की **अश्लेषविनाशौ** उत्पत्ति नहीं होती और नाश हो जाता है (यानी पहिले का नाश होता है आगे की उत्पत्ति नहीं होती), **तद्व्यपदेशात्** क्योंकि [श्रुति में] वैसा कहा है ।

तीसरे अध्याय का अवशिष्ट विषय पूर्ण हुआ अब आगे ब्रह्म विद्या के फल के संबंध में विचार किया जाता है । ब्रह्म की प्राप्ति होने पर उस प्राप्ति के विरोध कर्मों के फल रूप पाप का क्षय होता है अथवा नहीं होता यह संशय होता है ।

पूर्वपक्ष—कर्म फल ही के लिये बने होते हैं इसलिये फल का भोग न करते हुए उनका क्षय होना असंभव है । इनमें फल देने की शक्ति होती है ऐसा श्रुति से विदित होता

है और इसके विपरीत यदि कोई फल भोग टाल सकेगा तो श्रुति का अनादर होगा। स्मृति भी कहती है कि 'न हि कर्म क्षीयते' (कर्म का क्षय नहीं होता)। यदि कोई कहे कि ऐसा हो तो प्रायश्चित का उपदेश व्यर्थ हो जायगा, तो यह दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि घर जल जाने पर जो इष्टि की जाती है, वह जैसी नैमित्तिक है, वैसे प्रायश्चित् भी नैमित्तिक ही है ऐसा कह सकते हैं। दूसरे, किसी दोष के प्रसंग में प्राशश्चित् का विधि होने से उस दोष को दूर करने के लिये प्रायश्चित् उपयोगी हो भी सकता है, परन्तु ब्रह्म विद्या संबंधी ऐसा विधि कहीं भी नहीं कहा है। यदि कहो कि ब्रह्मज्ञानियों के कर्मों का क्षय होता है ऐसा न माना जाय तो उनका फल भोग अनिवार्य होने से मोक्ष का ही अभाव प्राप्त होगा तो कहते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि कर्म के फल के समान मोक्ष भी देश, काल और निमित्त की अपेक्षा रखेगा, इसलिये ब्रह्म की प्राप्ति होने पर भी पाप कर्मों की निवृत्ति नहीं होती यही प्राप्त होता है।

समाधान—उसकी प्राप्ति होने पर यानी ब्रह्म को प्राप्ति होने पर पहिले और पीछे के पापों की अनुत्पत्ति और नाश होते हैं अर्थात् पश्चात् उनकी उत्पत्ति नहीं होती और पहिले का नाश हो जाता है, क्योंकि श्रुति वैसा ही कहती है। ब्रह्म विद्या के प्रकरण में, जिनका आगे संबंध होना संभव है ऐसे बुरे कर्मों का ज्ञानी मनुष्य के साथ संबंध नहीं होता ऐसा 'पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' [छां० ४।१४।३] (जैसे कमल के पत्ते में जल नहीं स्पर्श करता वैसे ही जो ऐसा जानता है उसको पाप स्पर्श नहीं करता) यह श्रुति कहती है। तथा 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ

प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' [छां० ५।२४।३] (जैसे सिरकी का सिरा अग्नि में डालने से जल जाता है वैसे ही इसके सब पाप जल जाते हैं) यह श्रुति पूर्व के संचित् पापों का नाश होता है ऐसा कथन करती है। इसके कर्म नष्ट होते हैं इसका एक और भी श्रुति में निर्देश है जैसे, 'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' [मु० २।२।८] (उस पर पार रूप ब्रह्म का दर्शन होने पर उसकी हृदय ग्रंथि टूट जाती है, सब संशय निवृत्त हो जाते हैं तथा उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं)।

अब जो पूर्वपक्ष में कहा था कि कर्म का फल भोग न होते हुए उसका क्षय हो जाता है ऐसा माने तो शास्त्र का निरादर होगा, उसका उत्तर देते हैं कि यह दोष प्राप्त नहीं होता। हम कर्म के फल देने की शक्ति अवज्ञा नहीं करते, वह अवश्य ही होती है; परन्तु वह शक्ति विद्या आदि कारणों से प्रतिबद्ध यानी कुण्ठित होती है ऐसा हम कहते हैं। शक्ति का अस्तित्व प्रतिपादन करना ही शास्त्रों का काम है उसके प्रतिबंध के भाव अभाव का भी प्रतिपादन करना शास्त्रों का काम नहीं है। इसी प्रकार 'न हि कर्म क्षीयते' (कर्म का क्षय नहीं होता) यह स्मृति भी सामान्य नियम ही का प्रतिपादन करती है कि कर्म फल भी भोगने के लिये ही बना हुआ होने से बिना भोगे उसका क्षय नहीं हो सकता। परन्तु, प्रायश्चित आदि द्वारा पापों का क्षय होता है यह श्रुति को भी इष्ट ही है जैसे, 'सर्वपाप्मानं तरति' (सब पापों को तैर जाता है) 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' [तै० ५।३।१२।१] (जो अश्वमेध यज्ञ करता है और जो ऐसा जानता है वह ब्रह्महत्या को तैर जाता है यानी उससे मुक्त हो जाता है)

इत्यादि श्रुति और स्मृति से विदित होता है। प्रायश्चित सब नैमित्तिक ही होते हैं ऐसा जो कहा था वह ठीक नहीं है, क्योंकि जब उनका दोषों के साथ निर्देश है तब दोषों का नाश ही उनका फल होने से उनका अन्य फल मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि प्रायश्चित के समान किसी दोष को दूर करने के अभिप्राय से उपासना का विधान नहीं है, उसका उत्तर देते हैं कि जितनी सगुण उपासनाएं हैं उनके सम्बन्ध में ऐसा विधान अवश्य मिलता है। उन उपासनाओं के अन्त में उपासकों को ऐश्वर्य की प्राप्ति और पापों से निवृत्ति होती है ऐसा कहा हुआ है। अब यहाँ पर ये दोनों फल नहीं होते ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है, इसलिये उनको पाप निवृत्तिपूर्वक ऐश्वर्य की प्राप्ति रूप फल होता है यही निश्चय होता है। परन्तु निर्गुण उपासना में यद्यपि ऐसा कोई विधान नहीं मिलता तो भी उपासक को 'मैं अकर्ता हूं' ऐसा बोध होता है इसलिये उसके सब कर्म दग्ध हो जाते हैं यही सिद्ध होता है। 'अश्लेष' का (उनको आगे के कर्म नहीं होते इसका) भावार्थ यह है कि आगे होने वाले कर्मों में ब्रह्मज्ञानी कर्तृत्व का ही अनुभव नहीं करता; जो पूर्व के किये हुए कर्म हैं, उनमें यद्यपि मिथ्या अज्ञान द्वारा कर्तृत्व था ऐसा प्रतीत होता था, वे भी विद्या के सामर्थ्य से अविद्या की निवृत्ति हो जाने से विलीन हो जाते हैं। इसीलिये वे नष्ट होते हैं ऐसा कहा है। पहिले जैसा सिद्धवत् कर्तृत्व का और भोक्तृत्व का वह अनुभव करता था उसके अत्यन्त विपरीत ऐसा ब्रह्मज्ञानी का अनुभव होता है कि 'मैं तीनों काल में कर्तृत्व भोक्तृत्व से रहित ऐसा ब्रह्म

स्वरूप हूं, मैं न पहिले कर्ता भोक्ता था, न अब हूं, न आगे भी कभी हो सकता हूं।' और इसी प्रकार मोक्ष हो सकता है। यदि ऐसा न हो तो अनादि काल से प्रारम्भ हुए कर्मों का कभी क्षय हीन होने से मोक्ष का भी अभाव हो जायगा। वैसे ही, मोक्ष कर्म फल के समान देश, काल और निमित्त की अपेक्षा नहीं रख सकता; क्योंकि इस अवस्था में मोक्ष अनित्य हो जायगा। दूसरे, ज्ञान का फल प्रत्यक्ष नहीं होता, यह भी सिद्ध नहीं होता, इसलिये ब्रह्म प्राप्ति होने पर सब पापों का क्षय हो जाता है, यह सिद्ध हुआ॥ १३ ॥

१० इतरासंश्लेषाधिकरण।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

इतरस्य इतर (यानी पुण्य) का **अपि** भी **एवम्** इसी प्रकार **असंश्लेषः** संश्लेष यानी सम्बन्ध नहीं होता **तु** और **पाते** [शरीर] पात के अनन्तर [मोक्ष हो जाता है]।

पूर्व के दो अधिकरणों में ज्ञान होने पर बन्ध के हेतु रूप पाप की अनुत्पत्ति और नाश होते हैं ऐसा शास्त्र प्रमाण से निर्णय किया। अब धर्म वा पुण्य शास्त्र के अनुसार होने से शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान से विरोधी नहीं होगा, ऐसी शंका करके उसके निराकरण के लिये पूर्व अधिकरण ही का यहां अतिदेश (पुनः निर्देश) करते हैं। ज्ञानी के 'इतर की' यानी पुण्य कर्म की 'इसी प्रकार' यानी पाप के समान अनुत्पत्ति और विनाश होते हैं। कारण यह है कि उसका भी फल होने वाला होने से ज्ञान के फल (मोक्ष) में वह प्रतिबन्ध रूप हो जायगा। 'उभे उ हैवैष एते तरति' [बृ० ४।४।२२] (यह दोनों

ही को तैर जाता है), इत्यादि श्रुतियों में दुष्कृत के समान सुकृत का भी नाश होता है ऐसा कहा है। मैं अकर्ता हूं ऐसे बोध से जो कर्म क्षय होता है, उसके लिये पुण्य पाप दोनों एक ही श्रेणी के हैं; 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' [मु० २ । २ । ८] (इसके कर्मों का क्षय हो जाता है) ऐसा इस श्रुति में सामान्य रूप से कथन है। अब जहाँ पर केवल पाप शब्द ही का प्रयोग देखने में आता है वहाँ पर भी उसी शब्द से पुण्य कर्म का भी ग्रहण होता है, ऐसे समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञान से प्राप्त होने वाले मोक्ष रूप फल से पुण्य का फल निकृष्ट ही है। दूसरे, श्रुति में पुण्य के लिये पाप शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसे 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' [छाँ० ८ । ४ । १] (दिन और रात्रि इस सेतु को तैर नहीं सकते) इस प्रकरण में दुष्कृतों के साथ सुकृतों का भी उपक्रम करके वे सब पाप ही हैं इसलिये निवृत्त हो जाते हैं इस प्रकार सामान्य रूप से ही पुण्य के लिये पाप शब्द का प्रयोग किया गया है। 'पाते तु' (और शरीर का पतन होते ही) इस सूत्रांश में 'तु' शब्द निश्चय बोधक है। इस प्रकार बंध के हेतु रूप धर्म और अधर्म का विद्या के सामर्थ्य से अनुत्पत्ति और विनाश सिद्ध होने पर ज्ञानी का शरीर पात होने पर मोक्ष अवश्य ही होगा, ऐसा सूत्रकार निश्चय करते हैं ॥ १४॥

११ अनारब्धाधिकरण।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

तु परन्तु **अनारब्धकार्ये** जिनके कार्यों का आरम्भ नहीं हुआ **एव** ऐसे ही **पूर्वे** पूर्व [कर्मों का नाश होता है]। **तदवधेः** क्योंकि [श्रुति ने] उस [मोक्ष की] अवधि नियत की है।

पहिले दो अधिकरणों में ज्ञान होने पर पाप कर्मों और पुण्य कर्मों का विनाश होता है ऐसा निर्णय किया। अब यहाँ उन पाप पुण्य कर्मों का नाश आरब्ध और अनारब्ध दोनों का सामान्य रूप से ही हो जाता है, अथवा विशेषतया जिनका फल प्रारम्भ नहीं हुआ ऐसे अनारब्ध कर्म का ही होता है, इसका विचार करते हैं।

पूर्वपक्ष—यहाँ पर 'उभे उ हैवैष एते तरति' [बृ० ४।४।२२] (वह इन दोनों को ही तैर जाता है) इत्यादि प्रकार की श्रुतियाँ सामान्य रूप से कर्मों का नाश होता है ऐसा प्रतिपादन करती हैं। इसलिये, सामान्य रूप से ही (इन दोनों कर्मों का) नाश होना चाहिये।

समाधान—जिनका कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ ऐसे अनारब्ध कार्य ही का नाश होता है। पूर्व जन्म में संचित हुए जो कर्म अभी फल देने में प्रवृत्त नहीं हुए तथा इस जन्म में भी जो ज्ञान उत्पन्न होने के पहिले संचित पुण्य पाप कर्म हैं वे ही ज्ञान उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाते हैं, परन्तु जो कर्म फल देने में प्रवृत्त हो चुके हैं और आधे भोगे भी जा चुके हैं और ब्रह्म ज्ञान का आश्रय भूत यह जन्म जिनसे हुआ है, उनका नाश नहीं होता। यदि पूछो कि ऐसा क्यों ? तो उत्तर देते हैं— 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' [छाँ० ६।१४।२] (उसको शरीर छूटने ही का विलम्ब है फिर वह त्वरित मुक्त हो जाता है), यह श्रुति मोक्ष प्राप्ति के लिये शरीर छूटने की अवधि बताती है। यदि ऐसा न होता तो ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाने पर ज्ञानी का शरीर रहने के लिये कोई हेतु न रहने से ज्ञान प्राप्त होते ही उसको मोक्ष प्राप्त होता, उसके लिये शरीरपात की प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

यदि कहो कि 'मैं अकर्ता हूं' यह बोध अपनी शक्ति से कर्मों का क्षय करता है तब वह कुछ कर्मों का क्षय करता है और कुछ कर्मों का क्षय नहीं करता ऐसा कैसे बन सकेगा ? समान रूप से अग्नि का बीज के साथ संबंध होने पर कुछ बीजों की बीज शक्ति नष्ट होती है और कुछ बीजों की नहीं होती है ऐसा नहीं स्वीकार कर सकते। तो इसका उत्तर देते हैं कि जिनका कार्य प्रारंभ हुआ है ऐसे कर्माशय का आश्रय लिये बिना ही ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, और इस कर्माशय का आश्रय करने पर कुम्हार के चक्र के समान उस कर्माशय के फल का जो प्रारंभ हो चुका है उसका बन्द करना असंभव होने से जब तक उसका वेग समाप्त नहीं होता तब तक (ज्ञान को अपना फल देने के लिले) ठहरना पड़ता है। मैं अकर्ता हूं यह बोध भी मिथ्या ज्ञान के बोध ही से कर्मों को नष्ट करता है, परन्तु वह बाधित हुआ मिथ्या ज्ञान भी दो चन्द्रमा दीखने के भ्रम के समान संस्कार वश कुछ काल तक बना ही रहता है। यहां यह प्रश्न उठाने की आवश्यकता नहीं है कि ब्रह्म ज्ञानी कुछ काल तक शरीर धारण करता है अथवा नहीं करता, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान होना और शरीर होना दोनों बातें जब कोई हृदय से अनुभव करता हो तब उसका अन्य कोई किस प्रकार निराकरण कर सकेगा। श्रुति और स्मृति में स्थिति प्रज्ञ के जो लक्षण बताये गये हैं उनसे यही बात सिद्ध होती है। इसलिये, जिनका फल देना प्रारंभ नहीं हुआ ऐसे अनारब्ध पुण्य और पाप कर्मों का ही ज्ञान के सामर्थ्य से क्षय होता है, ऐसा निर्णय हुआ ॥ १५ ॥

१२ अग्निहोत्राद्यधिकरण। सू० १६-१७

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

तु परन्तु **अग्निहोत्रादि** अग्निहोत्र आदि कर्म **तत्कार्याय** उस [ज्ञान] के कार्य को **एव** ही [उत्पन्न करते हैं]; **तद्दर्शनात्** क्योंकि श्रुति में वैसा ही कथन है।

पाप कर्मों के समान पुण्य कर्मों की भी अनुत्पत्ति और विनाश होता है ऐसा अतिदेश किया। अब यह अतिदेश क्या सब पुण्य कर्मों के सम्बन्ध में है ऐसी शंका उठाकर उसका निराकरण इस 'अग्नि होत्रादि०' सूत्र से करते हैं। 'तु' (परन्तु) शब्द आशंका की निवृत्ति सूचित करता है। जो अग्निहोत्रादि नित्य वैदिक कर्म किये जाते हैं वे उस (ज्ञान) के लिये ही होते हैं अर्थात् ज्ञान का जो कार्य है वह इनका भी कार्य है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' [बृ० ४।४।२२] (ऐसे उस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन, यज्ञ और दान से जानते हैं) यह श्रुति हैं। यदि कहो कि ज्ञान और कर्म इनके कार्य विभिन्न होने से उनका एक ही कार्य होता है यह नहीं मान सकते, तो कहते हैं कि यह नहीं प्राप्त होता। दही और विष के ज्वर और मरण ये कार्य हैं तो भीं उनका गुड़ और विशेष प्रकार के मन्त्रों से योग होने से उनसे तृप्ति और पुष्टि होती है ऐसा देखा जाता है। इसी प्रकार कर्मों से भी ज्ञान के योग से मोक्ष का कार्य उत्पन्न हो सकता है। यदि कहो कि मोक्ष तो उत्पन्न ही नही होता फिर ये कर्म से (उत्पन्न) होता है ऐसा कैसे कह सकते हैं, तो कहते हैं यह दोष नहीं प्राप्त होता,

क्योंकि कर्म परम्परा से ज्ञान का उपकारी होता है। सत् कर्म ही ज्ञान का साधक है इसलिये परम्परा से वह मोक्ष का कारण है ऐसा गौण रूप से कह सकते हैं। इसलिये ज्ञान और कर्म एक ही कार्य उत्पन्न करते हैं ऐसा जो कहा है वह पूर्व के कर्मों के सम्बन्ध में कहा है, क्योंकि ज्ञानी को आगे अग्निहोत्रादि कर्म सम्भव नहीं है। उसको मैं ब्रह्म हूं ऐसा बोध होने से उसके लिये कोई विधि प्राप्त नहीं होता, न वह शास्त्रका विषय होता है। परन्तु जब तक पुरुष सगुण उपासना करता है तब तक कर्तृत्व भाव दूर न होने से वह अग्निहोत्रादि कर्म कर सकता है और वे भी फल की इच्छा न रखते हुए किये जांय, तो उनका कोई अन्य फल सम्भव न होने से उनका भी विद्या ही के साथ सम्बन्ध लग सकता है ॥ १६ ॥

अब ये जो अनुत्पत्ति और विनाश कहे वे किस कर्म के सम्बध में कहे हैं ? वैसे ही, एक शाखा वाले 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' (उसके पुत्र उसका धन प्राप्त करते हैं मित्र उसके अच्छे कर्म और द्वेष करने वाले उनके बुरे कर्म प्राप्त करते हैं) इस प्रकार जो विनियोग बताते हैं वह किस कर्म से सम्बन्ध रखता है ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

अतो इससे **अन्या** अन्य **अपि** भी [साधुकृत्या यानी अच्छे कर्म हैं उन्हीं का] **एकेषाम्** कुछ लोगों ने [विनियोग बताया है, जिस सम्बन्ध में] **उभयोः** दोनों का [एक ही मत है]।

इससे यानी अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों से अन्य भी अच्छे कर्म होते हैं। जिनको फल की इच्छा से किया जाता है, उन ही का विनियोग किन्हीं शाखा के लोक 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' (मित्र अच्छे कर्म प्राप्त करते हैं) आदि श्रुति से कहते हैं। इन ही कर्मों की अनुत्पत्ति और विनाश का निरूपण 'इतरस्यामप्येवमश्लेषः' इत्यादि पूर्व सूत्र (१४) से किया गया है। इस प्रकार के काम्य कर्म विद्या के उत्पन्न होने में उपयोगी नहीं होते, इसमें जैमिनी और बादरायण दोनों आचार्यों का एक मत है ॥ १७ ॥

१३ विद्या ज्ञान साधनाधिकरण ।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

'यदेव विद्यया' ('जो कुछ विद्या से' इत्यादि) **इति** यह श्रुति **हि** भी [यही बताती है] ।

पूर्व के अधिकरण में मुमुक्षु यदि मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि नित्य कर्म करे तो वह किये हुए पापों के क्षय द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु होजाता है और इस प्रकार मोक्ष के हेतुरूप ब्रह्म ज्ञान में सहायक होता है इसलिये ये कर्म ब्रह्म विद्या से उत्पन्न होने वाला मोक्ष के कार्य ही को उत्पन्न करते हैं ऐसा प्रतिपादन किया। अब ये अग्निहोत्र आदि कर्म अन्य कर्मों के अंग रूप विद्याओं के साथ सम्बन्ध रखने वाले भी होते हैं और स्वतन्त्र भी होते हैं। 'य एवं विद्वान् यजति' (जो ऐसा जानकर भजन करता है), 'य एवं विद्वान्जुहोति' (जो ऐसा जानते हुए हवन करता है), 'य एवं विद्वान्छंसति' जो ऐसा जानकर बोलता है) 'य एवं विद्वान्गायति' (जो ऐसा

जानकर गान करता है), 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदम्' [छां० ४ । १७ । १०] (इसलिये जो ऐसा जानता हो उसी को ब्रह्मा बनाना चाहिये, जो ऐसा न जानता हो उसको नहीं); 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' [छां० १ । १ । १०] (इसलिये जो ऐसा जानता है और जो ऐसा नहीं जानता दोनों कर्म करते हैं) इत्यादि वचनों से ये कर्म विद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाले होते हैं और स्वतन्त्र भी होते हैं ऐसा ज्ञात होता है। यहाँ पर अब विचार किया जाता है कि क्या मुमुक्षु के लिये विद्या युक्त अग्निहोत्रादि कर्म विद्या का कारण बनकर विद्या के कार्य को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं, अथवा विद्या रहित भी; अथवा, सामान्य रूप से दोनों ही प्रकार के कर्म उसमें सहायक होते हैं। संशय उत्पन्न होने का कारण यह है कि 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' (ऐसे उस आत्मा को यज्ञ द्वारा जानने की इच्छा करते हैं), इत्यादि श्रुतियों में यज्ञादि को सामान्य रूप से आत्म ज्ञान के सहायक भाव से प्रतिपादित किया गया है तथा अग्निहोत्रादि कर्म विद्या युक्त हों तब अधिक फल देने वाले होते हैं यह भी (अन्य श्रुतियों से) विदित होता है।

पूर्वपक्ष—विद्या के साथ ही अग्निहोत्रादि कर्म आत्म विद्या में उपयोगी होते हैं, विद्या रहित नहीं; क्योंकि विद्यायुक्त कर्म विद्या रहित कर्मों से उत्कृष्ट होते हैं ऐसा 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्' [बृ० १ । ५ । २] (ऐसा जानने वाला पुरुष जिस दिन हवन करता है उसी दिन वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है) इत्यादि श्रुतियों से तथा 'बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि' [भग० गी० २ । ३६] (जिस बुद्धि से युक्त होकर हे अर्जुन, तू कर्म के बन्धनों को

नहीं प्राप्त होगा) 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' [भग० गी० २ । ४९] (हे अर्जुन, बुद्धि योग की अपेक्षा केवल कर्म अत्यन्त निकृष्ट है) इत्यादि स्मृतियों से विदित होता है।

इस पूर्वपक्ष के समाधानार्थ में 'यदेव विद्ययेति हि' यह सूत्र कहते हैं जिसका भाव यह है—

यह ठीक ही है कि जैसे विद्याहीन ब्राह्मण से विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है वैसे ही विद्यायुक्त अग्निहोत्र आदि कर्म विद्याहीन कर्मों से बढ़कर है परन्तु विद्या विहीन अग्निहोत्रादि कर्म नितान्त निरुपयोगी हो यह बात नहीं; क्योंकि 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' (ऐसे उस आत्मा को यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) यह श्रुति सामान्य रूप अग्निहोत्रादि कर्म विद्या की उत्पत्ति के लिये उपयोगी हैं ऐसा कहती है। यदि कहो कि विद्या से युक्त अग्निहोत्रादि कर्म विद्यारहित अग्निहोत्रादि कर्मों से अधिक अच्छे हैं ऐसा मानने ही से अग्निहोत्रादि कर्म विद्या रहित हों तो वह आत्म ज्ञान के लिये आवश्यक है ऐसा ही मानना युक्त है; तो कहते हैं कि वैसा नहीं है। विद्या युक्त अग्निहोत्रादि कर्मों में विद्या का विशेष सामर्थ्य प्राप्त होने से वह आत्म ज्ञान के हेतु में कुछ विशेषता उत्पन्न करता है और वही विद्या रहित हों तो वैसा नहीं कर सकता ऐसा मानना ही युक्त है। परन्तु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' (यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) इस श्रुति में सामान्य रूप से जो अग्निहोत्र आदि को आत्मज्ञान का सहायक बताया है वह वैसा उपयोगी नहीं है यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [छाँ० १ । १ । १०]

(जो विद्या, श्रद्धा और उपासना के सहित कर्म किया जाता है वह अधिक बलशाली होता है) यह श्रुति विद्या संयुक्त अग्निहोत्र आदि कर्म अधिक बलशाली होता है ऐसा कह कर बताती है कि यदि विद्या सहित कर्म अपना कार्य करने में कुछ विशेषता रखता है, तो वह यदि विद्या रहित हो तो भी अपना कार्य करने में बलशाली होता ही है। कर्मों का बलशाली होना वही है कि वे अपना प्रयोजन सिद्ध करने में समर्थ हों। इसलिये विद्या सहित और विद्या रहित उभय प्रकार का अग्निहोत्रादि नित्य कर्म मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से यहां यानी इस जन्म में और अन्य जन्मों में भी ज्ञान प्राप्ति होने तक मुमुक्षु करता है तो वे अपने सामर्थ्य से ब्रह्म प्राप्ति में प्रतिबन्ध रूप पापों के नाश में हेतुभूत बनकर ब्रह्म प्राप्ति के कारण बनते हैं और श्रवण, मनन, श्रद्धा, तत्परता आदि ब्रह्म प्राप्ति के अंतरंग कारणों में सहायक बनकर ब्रह्म विद्या का कार्य उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥

१४ इतरक्षपणाधिकरण ।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥

इतरे अन्य [पुण्य पापों] को **भोगेन** भोग भोगकर **तु** ही **क्षपयित्वा** नष्ट करके [मुमुक्षु] **संपद्यते** [ब्रह्म को] प्राप्त होता है।

जिनके फल देना अभीप्रारम्भ नहीं हुआ ऐसे अनारब्ध कर्मों का विद्या के बल से नाश होता है ऐसा प्रतिपादन किया। अब जिनका भोग प्रारंभ हो चुका है ऐसे पुण्य पाप रूप अन्य कर्मों का उपभोग करके नाश करते हुए (मुमुक्षु) ब्रह्म को प्राप्त होता है, ऐसा 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये'

[छां० ६।१४।२] (जब तक उसका शरीर पात नहीं होता तब तक ही उसको विलंब होता है पश्चात् वह ब्रह्म को प्राप्त होता है), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] (ब्रह्म ही होने से वह ब्रह्म को प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतयों से विदित होता है। यदि कहो कि सम्यक् ज्ञान होने के पश्चात् भी देहपात तक आकाश में दो चन्द्रमाओं का जैसा भ्रम होता है वैसा मिथ्या भेदज्ञान रहता है उसी प्रकार पश्चात् भी होगा, तो कहते हैं कि वह ठीक नहीं; क्योंकि वैसा होने का कोई कारण नहीं है। प्रारब्ध भोग शेष रहा हुआ है उसको समाप्त करने के लिये भेद का भाव अवशेष रहा है परन्तु पश्चात् वैसा कोई भी कारण नहीं रहता। यदि कहो कि दूसरा कोई कर्माशय अन्य भोगों का प्रारंभ कर देगा तो वैसा नहीं हो सकता, क्योंकि अब (ज्ञान होते ही) उसके कर्माशय भुने बीज के समान निर्वीर्य हो गये हैं। अब वह अन्य कर्म, जो देहपात के पश्चात् अन्य भोग को उत्पन्न करता था, मिथ्या ज्ञान के आश्रय रहा हुआ था और वह मिथ्या ज्ञान सम्यक् ज्ञान से नष्ट हो चुका है, इसलिये प्रारब्ध का क्षय होने पर ज्ञानी का मोक्ष हो जाता है ऐसा मानना ही योग्य है॥ १९॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के चतुर्थ अध्याय का प्रथम पाद
समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय दूसरा पाद ।

१ वागधिकरण । सू० १-२

वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

वाक् वाणी **मनसि** मन में [लीन हो जाती है] **दर्शनात्** क्योंकि ऐसा देखने में आता है **च** और **शब्दात्** श्रुति भी [ऐसा ही कहती] है ।

अब अपरा विद्याओं की फलप्राप्ति बताने के लिये देवयान मार्ग का वर्णन करने की इच्छा से शास्त्र में जिस प्रकार मरण का कथन है प्रथम वह कहते हैं कि विद्वान् और अविद्वान् दोनों की मरण क्रिया एक सी ही होती है । मृत्यु सम्बन्ध में श्रुति इस प्रकार है—'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' [छां० ६।८।६] (हे सोम्य, यह पुरुष जब मृत्यु को प्राप्त होता है तब प्रथम उसकी वाक् यानी वाक् आदि इन्द्रिय मन में प्रवेश कर जाते हैं, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में विलीन हो जाता है) । यहां पर विचार करने का विषय यह है कि वाणी अपनी वृत्ति के साथ मन में प्रविष्ट हो जाती है या वाणी की केवल वृत्तियां ही मन में प्रविष्ट होतीं हैं ।

पूर्वपक्ष—वाणी का ही मन में प्रवेश होता है क्योंकि ऐसा मानने ही से श्रुति का सरल अर्थ होता है, अन्यथा लक्षणा माननी पड़ती है । श्रुति का सरल अर्थ और लक्षणा दोनों प्राप्त हों वहां श्रुति का सरल अर्थ ही लेना युक्त है, लक्षणा मानना ठीक नहीं । इसलिये वाणी ही मन में प्रवेश करती है ऐसा सरल अर्थ करना ही ठीक है ।

समाधान—वाणी की वृत्ति ही मन में प्रविष्ट होती है, यदि पूछो कि जब सूत्रकार आचार्य 'वाङ् मनसि' (वाणी मन

में) ऐसा स्पष्ट कहते हैं तब आप वाणी की वृत्ति ऐसा अर्थ किस प्रकार कर सकते हैं, तो उत्तर देते है कि यह ठीक है, परन्तु सूत्रकार आगे कहते हैं कि 'अवियोगो वचनात् [ब्र० सू० ४।२।१६] (परन्तु इन कलाओं कीं एकता है क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है)। इसलिये यहां पर केवल वृत्तियों की निवृत्ति हो जाने से ही सूत्रकार का अभिप्राय है ऐसा विदित होता है। यदि यहां पर वाणी तत्त्व का ही लय विवक्षित होता तो लय सर्वत्र एकसा ही होता है फिर आगे एक विशिष्ट स्थान में ही पूर्ण लय होता है ऐसा क्यों कहते ? इसलिये यहां वृत्ति के बंद होने ही से अभिप्राय है। इसका भावार्थ यह है कि पहले वाणी की वृत्ति मन की वृत्ति अवस्थित होते हुए ही उसमें लीन होती है क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है। वाणी कीं वृत्ति का प्रथम मन की वृत्ति होते हुए उसमें लय होता है और वाणी का ही तत्त्व से मन में लय होता हुआ कोई देख नहीं सकता। यदि कहो कि श्रुति प्रमाण के बल पर वाणी का ही मन में लय होता है ऐसा मानना युक्त है यह हमने कहा है, तो उत्तर देते हैं कि वह ठीक नहीं है; क्योंकि मन वाणी का उपादान कारण नहीं है। जिसकी जिससे उत्पत्ति होती है उसी में उसका प्रलय मानना युक्त है, जैसे कूजे का लय मिट्टी में। परन्तु मन से वाणी उत्पन्न होती है ऐसा कहीं भी प्रमाण नहीं है। और वृत्ति की उत्पत्ति और लय तो उपादान के समान अन्य वस्तु के आश्रय से भी हो सकते हैं ऐसा देखने में आता है; जैसे इन्धन पृथिवी तत्त्व का है परन्तु उसमें से अग्नि उत्पन्न होता है और जल में शान्त, हो जाता है। यदि कहो कि फिर यहाँ 'वाङ्मनसि संपद्यते' (वाणी मन में लय

हो जाती है) यह श्रुति कैसे युक्त होगी, तो कहते हैं श्रुति का इसमें प्रमाण है। वृत्ति और वृत्तिमान इनकी एकता है, ऐसा गौण रूप से मान लेने से श्रुति युक्त होती है, ऐसा सूत्रकार का अभिप्राय है ।। १ ।।

अतएव च सर्वाण्यनु ।। २ ।।

च और **अतएव** इसीलिये **सर्वाणि** सब इन्द्रिय [मन के] **अनु** पीछे [जाते हैं]।

'तस्मादुपशान्ततेजाः । पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ।।' [प्र० ३ । ९] (पश्चात् जिसका तेज क्षीण हुआ है ऐसा जीव मन में विलीन हुए इन्द्रियों को साथ लेकर फिर जन्म को प्राप्त होता है) इस श्रुति में सामान्य रूप से भी इन्द्रियों का मन में प्रविष्ट होना कहा है। वहां भी 'इसीलिये' यानी वाणी के समान चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्ति भी मन की वृत्ति होते हुए उसमें लीन हो जाती है ऐसा देखने में आता है, इस-लिये, इन्द्रियों का तत्त्व से लय असंभव होने से तथा श्रुति का कथन भी इसी प्रकार ठीक बैठता है इसलिये, सब इन्द्रिय अपनी वृत्ति से ही मन के पीछे जाते हैं यानी मन में प्रवेश करते हैं लीन होते हैं, ऐसा ज्ञात होता है। अब सब इन्द्रियों का समान रूप से मन में प्रवेश होता है तो भी सूत्र में जो वाणी का ही विशेष निर्देश किया गया है वह केवल उदाहरण के रूप से किया गया है ऐसा जानना चाहिये ।। २ ।।

२ मनोधिकरण ।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।। ३ ।।

उत्तरात् आगे के वाक्य से **तत्** वह **मनः** मन **प्राणे** प्राण में [लय होता है ऐसा विदित होता है]।

'वाङ् मनसि संपद्यते' [छां० ६ । ८ । ६] (वाणी मन को प्राप्त होती है) इस श्रुति का वाणी की यानी इन्द्रियों की वृत्ति मन की वृत्ति में लीन होतीं है यही भाव है ऐसा निर्णय हुआ। अब जो आगे का वाक्य है कि 'मनः प्राणे' [छां० ६ । ८ । ६] (मन प्राण को प्राप्त होता है), इसमें भी क्या मन की वृत्ति ही प्राण को प्राप्त होतीं है ऐसा श्रुति का अभिप्राय है अथवा वृत्ति सहित मन का लय होता है यह अभिप्राय है, यह विचार कर्तव्य है।

पूर्वपक्ष—वृत्ति सहित मन ही प्राण को प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा मानने में श्रुति अनुकूल है तथा मन का उपादान कारण भी प्राण है। श्रुति यही कहती है—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' [छाँ० ६ । ५ । ४] (हे सोम्य, मन अन्नमय है और प्राण जलमय है)। यह श्रुति अन्न से मन और जल से प्राण उत्पन्न होते हैं ऐसा कथन करती है। 'आपश्चान्नमसृजन्त' [छां० ६ । २ । ४] (जल ने अन्न उत्पन्न किया) यह श्रुति वचन है। इसलिये मन का प्राण में लय होना, यही अन्न का जल में लय होना है; क्योंकि कार्य और कारण एक ही होने से अन्न ही मन है और प्राण ही जल है।

समाधान—बाह्येंद्रियों की वृत्ति साथ लेकर वह मन वृत्ति द्वारा ही प्राण में प्रवेश करता है यह बात आगे के वाक्य से निश्चित होती है। मनुष्य सोया हुआ होता है अथवा मूर्छित होता है, उसके प्राण की स्पन्दन रूप वृत्ति वर्तमान होते हुए ही मन की वृत्ति का लय होता है ऐसा देखने में आता है, परन्तु मनका स्वरूप से प्राण में लय नहीं हो सकता; क्योंकि प्राण उसका उपादान कारण नहीं है। यदि कहो कि हमने (पूर्वपक्ष

में) प्राण मन का उपादान कारण है ऐसा दिखाया है, तो कहते हैं कि वह प्रमाण ऐसा बलवान नहीं है; क्योंकि इस प्रकार परम्परा से प्राण मनका कारण मानने से वह प्राण में लीन होता है ऐसा नहीं कह सकते और यदि ऐसा माने तो भी मन अन्न में लय होगा, अन्न जल में और प्राण जल में लय होगा। दूसरे, इस पक्ष में भो प्राण रूप से परिणाम को प्राप्त हुए जलसे मन उत्पन्न होता है, इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये इससे सिद्ध हुआ कि प्राण में मन का स्वरूप से लय नहीं होता। अब वृत्ति और वृत्तिमान वस्तु, इनकी एकता है ऐसा गौण रूप से मान भी लिया जाय तो 'वृत्तियों का लय होता है, इस मत में भी श्रुति का कथन ठीक ही वैठता है, यह हम पहले के सूत्र में ही बता चुके हैं॥ ३॥

३ अध्यक्षाधिकरण। सू० ४-६

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः॥ ४॥

सः वह (प्राण) **अध्यक्षे** अध्यक्ष (जीवात्मा) में [लीन हो जाता है]; **तदुपगमादिभ्यः** क्योंकि 'वह उसको प्राप्त होता है' आदि [कथन मिलते] हैं।

जिसकी उत्पत्ति जिससे नहीं होती उसमें उसकी वृत्ति का लय होता है, स्वरूप का नहीं, ऐसा निर्णय हुआ, यहां अब 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेज को प्राप्त होता है) इस श्रुति के अंश के विषय में विचार करते हैं कि क्या जैसे श्रुति में कहा गया है वैसे ही प्राण की वृत्तियों का तेज ही में लय होता है, अथवा देह इन्द्रिय रूप पिंजरे का अध्यक्ष यानी स्वामी जो जीव हैं, उसमें उनका लय होता है।

पूर्वपक्ष—श्रुति में अति शंका करना ठीक नहीं है इसलिये प्राण तेज ही को प्राप्त होता है, ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि श्रुति के विरुद्ध कल्पना करना भी ठीक नहीं।

समाधान—अध्यक्ष ही में लय होता है। यह प्रकृत प्राण विद्या, कर्म और पूर्व संस्कारों की उपाधि से युक्त ऐसे विज्ञानात्मा में जा मिलते हैं यानी प्राण की वृत्ति तद्रूप हो जाती है। यह किस प्रकार जाना, ऐसा पूछो तो कहते हैं कि श्रुति में 'वह उसको प्राप्त होता है' ऐसा कथन है। जैसे, 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' [बृ० ४। ३। ३८] (इसी प्रकार अन्तकाल में जब उसके श्वास ऊपर को चलने लगते हैं तब सब प्राण इस आत्मा को प्राप्त होते हैं) यह अन्य श्रुति भी सामान्य रूप से सब प्राण अध्यक्ष रूप जीवात्मा को प्राप्त होते हैं ऐसा कहती है। वैसे ही, 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४। ४। २] (वह जाता है तब प्राण उसके पीछे जाता है) इस वाक्य में श्रुति पांच वृत्तिओं के साथ प्राण अध्यक्ष जीवात्मा के पीछे जाता है ऐसा विशेष रूप से कहती है और—'प्राणमभूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४। ४। २] (प्राण निकलता है तब सब प्राण उसके पीछे पीछे निकल जाते हैं) इस वाक्य में अन्य प्राण मुख्य प्राण के पीछे जाते हैं ऐसा श्रुति कहती है तथा, 'सविज्ञानो भवति' [बृ० ४। ४। २] (वह ज्ञान युक्त होता है) इस वाक्य में श्रुति अध्यक्ष को अन्तर्ज्ञान होता है ऐसा कहकर उसमें, सब इन्द्रिय जिसमें लीन हुए हैं ऐसा, प्राण भी रहता है ऐसा सूचित करती है। यदि कहो कि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेज को प्राप्त होता है) ऐसा

स्पष्ट श्रुति होते हुए प्राण अध्यक्ष को प्राप्त होता है यह क्यों मानते हो ? तो उत्तर देते हैं कि यह दोष नहीं है। उत्क्रमण (देह से निकलना) आदि व्यवहारों में अध्यक्ष यानी जीव प्रधान होता है तथा अन्य श्रुतियों में भी जो कोई विशेष बात कही हो उपकी भी उपेक्षा नहीं कीं जा सकती ॥ ४ ॥

फिर 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेज को प्राप्त होते हैं) यह श्रुति ने क्यों कहा, यह बताते हैं—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

[प्राणों के साथ अध्यक्ष] **भुतेषु** भूतों में [रहताहै], **तच्छ्रुतेः** क्योंकि वैसा ही श्रुति कहती है।

वह प्राण संयुक्त अध्यक्ष तेज के साथ रहने वाले और स्थूल देह के बीज रूप सूक्ष्म भूतों में रहता है ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेज में लीन होता है) ऐसी श्रुति है। यदि कहो कि यह श्रुति प्राण तेज में अवस्थित है ऐसा कहती है, प्राण संयुक्त अध्यक्ष तेज में रहता है ऐसा नहीं कहती तो कहते हैं यह दोष नहीं हैं। 'सोऽध्यक्षे०' [ब्र० सू० ४।२।४] (वह प्राण अध्यक्ष में लय होता है) इस सूत्र में (प्राण और तेज में) अध्यक्ष का भी निर्देश श्रुति ने किया है ऐसा बताया गया है। जो पुरुष स्रुघ्न से मथुरा जाता है और मथुरा से पाटलिपुत्र जाता है उसके लिये वह स्रुघ्न से पाटलिपुत्र को जाता है ऐसा कह सकते हैं। इसलिये प्राण तेज को प्राप्त होते हैं इसका अर्थ यही है कि प्राण संयुक्त अध्यक्ष ही तेज के साथ रहने वाले महाभूतों में रहता है ॥ ५ ॥

शंका—जब 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति में प्राण केवल तेज को प्राप्त होता है ऐसा कहा है फिर तेज के साथ रहने वाले भूतों में वह रहता है ऐसा कैसे कहते हो ?

इसका उत्तर देते हैं—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

एकस्मिन् एक [तेज ही] में [जीव] **न** नहीं रहता, **हि** क्योंकि **दर्शयतः** [श्रुति ऐसा ही] दिखाती है।

अन्य शरीर में जाने के समय यह जीव केवल एक तेज ही ही में नहीं रहता, क्योंकि इस सूक्ष्म शरीर का कार्य जो स्थूल शरीर होता है, वह अनेक भूतों का होता है ऐसा दिखाई देता है। 'आपः पुरुषवचसः' [छां० ५।३।३] (जल को पुरुष कहते हैं) इस प्रश्नोत्तर में यही अर्थ बतलाया गया है। इसका व्याख्यान 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' [ब्र० सू० ३।१।२] (परन्तु जल भूतत्रयात्मक होने से आधिक्य के कारण जल का निर्देश किया है) इस सूत्र में किया गया है। श्रुति और स्मृति भी यह अर्थ प्रतिपादन करती है। श्रुति इस प्रकार है--'पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' [बृ० ४।४।५] (यह पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय है) इत्यादि। स्मृति भी यही कहती है—'अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः। ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः' [मनु० १।२७] (पंच महाभूतों की जो सूक्ष्म और अविनाशी मात्राएं हैं, उनके साथ यह सब यानी स्थूल जगत् उत्पन्न होता है)।

शंका—'क्वायं तदा पुरुषो भवति' [बृ० ३।२।१३] (उस समय यह पुरुष कहां होता है ?) इस प्रश्न के साथ आरंभ करके अन्य श्रुति भी 'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः [बृ० ३।२।१३] (उन

दोनों ने जो कहा वह कर्म ही कहा, उन्होंने जो प्रशंसा की वह कर्म ही की हैं) इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियों का लय होने पर दूसरे शरीर में वह जाता है तब उसका आश्रय कर्म होता है ऐसा कहती है ।

समाधान—ग्रह और अतिग्रह नामक जो इन्द्रिय और उनके विषय रूप जो बंधन है उसकी प्रवृत्ति का वहां पर वर्णन है इसलिये वहाँ जीव का कर्म आश्रय है ऐसा कहा है। परन्तु यहाँ पर पंच महाभूतों के उपादान से अन्य देह की उत्पत्ति का कथन है इसलिये जीव का आश्रय पंच महाभूत है ऐसा कहा गया है। अन्य श्रुति में जो प्रशंसा शब्द है उससे भी वहां कर्म की प्रधानता है यही दिखाया है, उससे जीव के अन्य आश्रय (जो पूर्व श्रुति में बताया गया है) निवारण किया नहीं है। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है ।। ६ ।।

४ आसृत्युपक्रमाधिकरण ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।। ७ ।।

आसृत्युपक्रमात् मार्ग के आरंभ तक [यह उत्क्रान्ति यानी मरण क्रिया ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के लिये] समाना समान च ही है च और अनुपोष्य जिनके [क्लेश] दग्ध नहीं हुए अमृतत्वम् [उनके लिये] यह अमृतत्व है।

यह उत्क्रान्ति विद्वान् तथा अविद्वान दोनों के लिये एक सी कही है अथवा दोनों में से किसी एक के लिये विशेष प्रकार से कही है, इसका विचार किया जाता है।

पूर्वपक्ष—यह उत्क्रान्ति संशय रखने वाले अज्ञानियों के लिये ही विशेष रूप से कही है, क्योंकि यह पंच महाभूतों के आश्रय से संबंध रखती है। यह भूतों का आश्रय पुनर्जन्म लेने के लिये जीव को करना पड़ता है, परन्तु विद्वान् के लिये पुनर्जन्म संभव नहीं है; 'अमृतत्वं हि विद्वान श्नुते' (ज्ञानी अवश्य ही अमृत्व को प्राप्त होता है) यह निश्चित बात है। इसलिये यह उत्क्रान्ति अविद्वानों की हो होती है। यदि कहो कि यह उत्क्रान्ति का वर्णन विद्या के प्रकरण में आया है इसलिये यह विद्वानों को भी होती है, तो कहते हैं यह ठीक नहीं। जैसे वहाँ निद्रा आदि का यथा प्राप्त अनुकीर्तन (कथन) किया गया है वैसे ही इसका समझना चाहिये। जैसे, 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम [छां० ६।८।१] (जहां उस पुरुष को निद्रा आती है), 'अशिशिषति नाम' [छां० ६।८।३] (भूख लगती है), 'पिपासति नाम' [छाँ० ६।८।५] (प्यास लगती है); इन स्थानों पर यह विद्या का प्रकरण होते हुए भी, सब प्राणियों को साधारण ऐसी निद्रा आदि का ही कथन किया है, वह प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन सुलभ हो एतदर्थ ही है। ज्ञानी को विशेष रूप से लक्ष्य करके यह श्रुति ने नहीं कहा है। वैसे ही, यह उत्क्रान्ति जैसा लोग इसको समझते हैं वैसे ही रूप से, 'जब पुरुष दूसरे जन्म में जाता है तब उसका तेज जिस परदेवता में लय हो जाता है वह तेरा आत्मा है, वह तू है' ऐसा समझाने के लिये कही गई है। परन्तु इसका 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।६] (उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता) इस श्रुति से ज्ञानियों के लिये निषेध किया गया है। इसलिये यह उत्क्रान्ति अज्ञानियों की ही होती है ऐसा प्राप्त हुआ।

समाधान—'वाणी मन को प्राप्त होती है इत्यादि प्रकार से कही हुई यह उत्क्रान्ति मार्ग के आरम्भ तक विद्वान् और अविद्वान् दोनों के लिये एकसी होनी चाहिये। दोनों में कुछ भेद होता हो ऐसा कहीं भी श्रुति वाक्य नहीं है। अविद्वान् देह के लिये बीजभूत ऐसे सूक्ष्म भूतों का आश्रय करके अपने कर्म के अनुसार (कर्म से प्रेरित) अन्य देह धारण करते हुए अनुभव करने के लिये निकल जाता है; परन्तु ज्ञानी ज्ञान से प्रकाशित हुए मोक्ष नाड़ी के द्वार का आश्रय करता है। इसीलिये 'मार्ग के आरंभ तक' ऐसा कहा है। यदि कहो कि विद्वान् जिस अमृतत्व को प्राप्त होता है, वह कहीं और देश में तो नहीं प्राप्त होता, फिर उनके लिये भूतों का आश्रय और मार्ग का आरंभ किस लिये है? तो इसका उत्तर देते हैं कि यह अमृतत्व उसके लिये है जिसके क्लेश दग्ध नहीं हुए अर्थात् जो अविद्यादि क्लेशों को दग्ध न करते हुए सगुण विद्या के बल से सापेक्ष अमृतत्व को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसी के लिये ही यह भूतों का आश्रय करना और मार्ग का आरंभ संभव है, क्योंकि प्राणों की गति आश्रय के बिना नहीं हो सकती। इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है॥ ७॥

५ संसारव्यपदेशाधिकरण। सू० ८-११

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

तद् वह [तेज] **आ अपीतेः** प्रलय तक रहता है; **संसारव्यपदेशात्** क्योंकि [श्रुति में] संसरण का निर्देश किया गया है।

'तेजः परस्यां देवतायाम्' [छां० ६।८।६] (तेज परदेवता को प्राप्त होता है) इस श्रुति का 'मरने वाले पुरुष

का जो प्रकृत तेज वह अध्यक्ष, प्राण, इन्द्रियगण तथा महाभूत इनके साथ परदेवता में लीन होता है' ऐसा अर्थ है ऐसा प्रकरण के सामर्थ्य से निर्णय किया। अब यहाँ पर यह किस प्रकार प्राप्त होता है इस विषय का विचार करते हैं।

पूर्वपक्ष— यह तेज के स्वरूप का लय आत्यंतिक यानी सदा के लिये ही होता है, क्योंकि उसका वही उपादान कारण है। जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं उन सबका कारण परदेवता है ऐसा पहिले ही सिद्ध हो चुका है। इसलिये तेज का जो परदेवता में लय होता है वह आत्यंतिक यानी सदा के लिये ही होता है।

समाधान—श्रोत्र आदि इन्द्रियों के आश्रय रूप ऐसे तेज आदि सूक्ष्म महाभूत प्रलय तक यानी तत्त्व ज्ञान से होने वाले मोक्ष तक रहते हैं; क्योंकि 'योनिमन्ये प्रपद्यंते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' [क० ५।७] (अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कुछ लोग शरीरत्व प्राप्त होने के लिये जन्म को प्राप्त होते हैं और कुछ लोग वृक्ष आदि की जड़ योनियों को प्राप्त होते हैं) इत्यादि श्रुति में उसके संसरण का निर्देश किया गया है। यदि ऐसा न हो तो सभी जीव मरण के समय में ही उपाधि का लय होने से सदा के लिये ब्रह्मभाव को प्राप्त होंगे और उस अवस्था में विधि शास्त्र और विद्या शास्त्र दोनों निरर्थक हो जायगे। बंधन मिथ्याज्ञान से होता है, इसलिये वह सम्यक् ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी से भी नष्ट नहीं हो सकता। इसलिये, सबका मूल कारण वही परदेवता है तो भी जैसे सुषुप्ति में प्रलय होती है वैसे ही केवल

बीज भाव को प्राप्त होकर उस देवता से एकता को प्राप्त होता है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

[वह तेज स्वरूप से] **च** और **प्रमाणतः** परिणाम से सूक्ष्मम् सूक्ष्म [है] **तथोपलब्धेः** क्योंकि वैसा ही वह दिखाई देता है।

अन्य शरीर को गमन करने वाले जीव का आश्रयभूत जो अन्य भूतों सहित तेज होता है, वह स्वरूप से और परिणाम से सूक्ष्म होना चाहिये; क्योंकि वह तेज नाड़ी में से जाता है, इत्यादि बातें श्रुति में कही हुई हैं। इससे वह सूक्ष्म है ऐसा ही विदित होता है। अब उसके सूक्ष्म होने से ही वह संचार कर सकता है और स्वच्छ होने से उसका प्रतिवन्ध नहीं हो सकता यानी उसको कोई रोक नहीं सकता। इसलिये जब वह देह से निकल जाता है पास रहने वाले भी उसे देख नहीं सकते ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अतः इसीलिये [स्थूल देह के] **उपमर्देन** नाश से [उसका नाश] **न** नहीं होता।

इसलिये यानी वह सूक्ष्म होने से स्थूल शरीर के नाश होने से अर्थात् उसको जला देने पर भी यह सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

च और **अस्य** इस [सूक्ष्म शरीर] की **एव** ही **एष** यह **उष्मा** उष्णता है **उपपत्तेः** क्योंकि ऐसा मानना ही युक्त है।

इस शरीर को स्पर्श करने से जो उष्णता प्रतीत होती है वह इस सूक्ष्म शरीर ही की है। मृत्यु के पीछे शरीर वैसा ही रहते हुए तथा देह के रूपादि गुण जैसे के वैसे ही विद्यमान होने पर भी उष्णता नहीं रहती, परन्तु जब तक जीवित है तब तक ही वह रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रसिद्ध स्थूल शरीर के अतिरिक्त किसी अन्य के आश्रय से ही यह उष्णता रहती है। श्रुति यही कहती है—'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' (जीवित होता है तब तक वह उष्ण ही होता है, मरने पर ठंडा पड़ता है)॥ ११॥

६ प्रतिषेधाधिकरण । सू० १२-१४

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

प्रतिषेधात् निषेध किया हुआ होने से [ब्रह्म ज्ञानी के प्राण देह से नहीं निकलते] **इति** ऐसा **चेत्** यदि [कहो तो] **न** वैसा नहीं है **शारीरात्** क्योंकि शारीर यानी जीवात्मा से [होने वाली उत्क्रान्ति का वहां निषेध है]।

'अमृतत्वं चानुपोष्य' [ब्र० सू० ४।२।७] (जिसके क्लेश दग्ध नहीं हुए उसका यह अमृतत्व है) ऐसा विशेष कहा हुआ होने से पुरुष को आत्यंतिक अमृतत्व प्राप्त होने पर उसकी गति और उत्क्रान्ति नहीं होती ऐसा निर्णय किया गया। अब किसी कारणवश उसकी उत्क्रान्ति संभव है; ऐसी शंका उठाकर सूत्रकार उसका निषेध करते हैं।

'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] (अब जो किसी की भी इच्छा नहीं करता,

जो कामना रहित निष्काम है, जो आप्तकाम और आत्मकाम है, उसके प्राण निकल कर कहीं जाते नहीं। वह ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म ही को प्राप्त होते हैं) इस श्रुति में पर विद्या के सम्बन्ध में जो उत्क्रान्ति का निषेध किया है उससे ब्रह्मज्ञानी के प्राण निकल कर कहीं नहीं जाते ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं; क्योंकि यहां जो उत्क्रान्ति का निषेध किया गया है वह शारीर यानी जीवात्मा से होने वाली प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध है, शरीर से होने वाली उत्क्रान्ति का यहां निषेध नहीं है। यदि पूछो कि यह कैसे जाना, तो कहते हैं कि 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामंति' (उससे प्राण निकल नहीं जाते) इस प्रकार अन्य शाखाओं में पंचमी विभक्ति का प्रयोग मिलता है। इतर शाखा की श्रुति की पंचमी विभक्ति से सामान्य सम्बन्ध बताने वाली षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'विशेष सम्बन्ध' वाला है ऐसा निश्चय कर सकते हैं ('उसके प्राण नहीं निकल जाते' ऐसा जो श्रुति वाक्य है उसमें उसके प्राण कहने में प्राण का सम्बन्ध जीवात्मा से है या शरीर से है यह संदिग्ध है। यह बात ऊपर दी हुई इतर श्रुति से स्पष्ट होती है, क्योंकि उसमें उससे अर्थात् जीवात्मा से प्राण नहीं निकल जाते ऐसा कहा है)। तथा अभ्युदय और निःश्रेयस् के अधिकारी जीवात्मा का यहां प्रधान विषय होने से उसीका 'तस्मात्' (उससे) इस शब्द से निर्देश किया जाता है, शरीर का निर्देश उससे नहीं बन सकता। इसलिये जीव जब शरीर से निकल जाता है, तब प्राण उसमें से निकल नहीं जाते उसीके साथ रहते हैं ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

प्राण के सह वह जब निकलता है तब उसकी देह से

उत्क्रान्ति होती है, ऐसा प्राप्त होने पर उसका प्रत्युत्तर देते हैं कि—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

हि [यह कहना ठीक नहीं,] क्योंकि एकेषाम् कुछ शाखाओं में [शरीर ही से उत्क्रान्ति होने का] स्पष्टः स्पष्ट [निषेध] है।

पूर्वपक्ष में जो कहा है कि ब्रह्मज्ञानी की भी शरीर ही से उत्क्रान्ति होती है; क्योंकि उत्क्रान्ति का जो निषेध किया गया है वह देही के आश्रय को लेकर किया है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि कुछ शाखाओं में शरीर के आश्रय ही को लेकर उत्क्रान्ति का स्पष्ट निषेध किया है ऐसा प्रमाण मिलता है। वह श्रुति इस प्रकार है—'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' [बृ० ३।२।११] (जब यह पुरुष मर जाता है तब इसमें से प्राण निकल जाते हैं या नहीं) ऐसा आर्तभाग के पूछने पर 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' [बृ० ३।२।११] (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि नहीं निकल जाते) ऐसा उत्तर देते हुए उत्क्रान्ति नहीं होती ऐसा पक्ष ग्रहण करके पश्चात् यदि प्राण न निकल जांय तो मनुष्य मरता ही नहीं ऐसी शंका ऊठाने पर 'अत्रैव समवनीयन्ते' (वहीं पर वे लीन हो जाते हैं) इस प्रकार प्राणों का वहीं पर लय होता है ऐसा कहते हुए उसके सिद्धि के लिये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' [बृ० ३।२।११] (उसमें सूजन आती है, वह फूलता है और फूला हुआ वह मरा पड़ा रहता है) इस वाक्य में जिसका 'सः' (वह) इस शब्द से निर्देश किया गया है और जो उत्क्राँति का आश्रय है, ऐसे प्रकृत देह ही में सूजन

आना आदि विकार होते हैं ऐसा कहा है। अब ये विकार शरीर ही में होते हैं, जीव में नहीं होते। इसलिये इस श्रुति के साम्य से 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते (इसलिये उससे प्राण नहीं निकल जाते, वहीं पर लीन हो जाते हैं) इस श्रुति में यद्यपि जीव ही प्रधान विषय है, तो भी जीव और शरीर की गौण रूप से एकता मानकर देह से होने वाली उत्क्रान्ति का ही निषेध किया गया है। इस प्रकार जिन शाखाओं में पंचमी युक्त पाठ है उनको इस श्रुति का अर्थ करना चाहिये। परन्तु जिनमें षष्ठी ही का पाठ है वे उस श्रुति में ज्ञानी की उत्क्रान्ति का जो निषेध किया गया है वह देह से उत्क्रान्ति होने का है, ऐसा जानें क्योंकि इस श्रुति का प्रसिद्ध उत्क्रान्ति का ही निषेध करने ही से अभिप्राय है।

अब देह से उत्क्रान्ति होती है यही प्रसिद्ध है, जीव से नहीं। तथा, 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीर देशभ्य-स्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [बृ० ४।४।२] (आंखों में से, सिर से, अथवा शरीर के और किसी भाग से जब जीव जाने लगता है तब प्राण उसके पीछे जाता है और मुख्य प्राण जाने लगता है तब उसके पीछे अन्य प्राण भी जाते हैं); इस वाक्य से अज्ञानी पुरुष की उत्क्रान्ति और संसार गति का विस्तार से वर्णन करके 'इति नु कामयमान:' [बृ० ४।४।६] (इच्छा रखने वाले के सम्बन्ध में यह है), इस वाक्य से अज्ञानी मनुष्य के संबंधी कथन का उपसंहार करके 'अथाकामयमान:' [बृ० ४।४।६] (अब जो कामना रहित है) इस प्रकार श्रुति ज्ञानी का निर्देश करती हैं। यदि ज्ञानी मनुष्य के लिये भी इसी

प्रकार उत्क्रान्ति कहने का श्रुति का अभिप्राय होता तो यह निर्देश निरर्थक हो जाता। इसलिये यह निर्देश सार्थक हो इस हेतु से अज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐसी गति और उत्क्रान्ति का ज्ञानी के संबंध में श्रुति निषेध करती है ऐसी ही हम उक्त श्रुति की व्याख्या करते हैं। दूसरे, जिसको सर्वव्यापी ब्रह्म का स्वरूप प्राप्त हुआ है तथा जिसकी सब कामनाएं और कर्म नष्ट हुए हैं ऐसे ब्रह्मज्ञानी की गति और उत्क्रान्ति होना संभव नहीं है, क्योंकि उनके कारण का अभाव है। तथा 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' [बृ० ४।४।७] (यहां वह ब्रह्म को प्राप्त होता है) इत्यादि प्रकार की श्रुतियां ज्ञानी की गति और उत्क्रान्ति का अभाव प्रतिपादन करती हैं ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

च तथा **स्मर्यते** स्मृतियों में भी ऐसा ही कहा है।

महभारत में भी ज्ञानियों की गति और उत्क्रान्ति का अभाव होता है ऐसा लिखा है; जैसे—सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः। देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥' (सब भूतों में जो आत्मा ही को यानी अपने ही को समझता है तथा जो सब भूतों को सम्यक् रूप से यानी आत्मरूप से देखता है उस मार्ग रहित अवस्था को प्राप्त होने वाले के मार्ग के संबंध में देव भी मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् समझ नहीं सकते)। सर्व व्यापक ब्रह्म ही को जिसने आत्मा जान लिया है ऐसे ब्रह्मज्ञानी की भी गति है ऐसी स्मृति है; जैसे 'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' (व्यास का पुत्र शुक मोक्ष की इच्छा से आदित्य मंडल को गया, उसके पिता

ने उसको पीछे से बुलाया तब उसने उसको उत्तर दिया) ऐसा यदि कहो तो उसका उत्तर देते हैं कि यह ठीक नहीं। देहधारी मनुष्य ने ही योग सामर्थ्य से किसी विशिष्ट देश को प्राप्त होकर वहां अपने देह का त्याग किया, यही इस श्रुति का भावार्थ है, ऐसे समझना चाहिये, क्योंकि सब भूतों ने उसको; देखा इत्यादि भी वहां कहा हुआ है। यदि वह शरीर छोड़कर गया होता तो उसको कोई भी देख नहीं सकता था। वहीं पर इस प्रकार प्रसंग का उपसंहार है— 'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः। दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत्॥' (शुक ने वायु से भी अधिक शीघ्र गति धारण करके आकाश में प्रवेश किया और अपना प्रभाव दिखाकर सब भूतों में वह मिल गया, एकत्व को प्राप्त हुआ)। इसलिये ब्रह्मज्ञानी की गति और उत्क्रान्ति नहीं होती ऐसा सिद्ध हुआ। अब गति सम्बन्धी श्रुति किसके लिये है, यह हम आगे प्रतिपादन करेंगे॥ १४॥

७ वागादिलयाधिकरण।

तानि परे तथा ह्याह॥ १५॥

तानि वे (इन्द्रिय आदि) **परे** परब्रह्म में [लीन हो जाते हैं] **हि** क्योंकि **तथा** ऐसा ही **आह** [श्रुति ने] कहा है।

ब्रह्मज्ञानी के प्राण शब्द से निर्दिष्ट इन्द्रिय और महाभूत उस परमात्मा ही में लीन हो जाते हैं ऐसा श्रुति कहती है; जैसे—'एवमेंवास्य परिद्रष्टुरिमाः शोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' [प्र० ६। ५] (इस प्रकार इस द्रष्टा की पुरुष के आश्रय रही हुई सोलह कलाएं पुरुष को प्राप्त होकर उसी में लीन हो जाता है)। यदि कहो कि 'गताः कलाः

पंचदश प्रतिष्ठाः' [मु० ३ । २ । ७] (ये पन्द्रह कलाएं अपने आश्रय में प्रविष्ट होती हैं) यह ज्ञानी के सम्बन्ध ही की दूसरी श्रुति परमात्मा से अन्यत्र भी कहीं कलाओं का लय होता है ऐसा कहती है, तो कहते हैं कि यह ठीक नहीं। यह श्रुति व्यवहार की अपेक्षा से प्रतिपादन करती है। उसका भाव यह है कि पृथिवी आदि तत्त्व की कलाएं उपादान रूप पृथिवी आदि में लीन हो जाती हैं। परन्तु पहिली श्रुति ज्ञानी की दृष्टि की अपेक्षा से है, जिसका भाव यह है कि ज्ञानी की सारी कलाएं ब्रह्म ही को प्राप्त होती हैं ॥ १५ ॥

८ अविभागाधिकरण ।

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

अविभागः [इन कलाओं की ब्रह्म से] पूर्ण एकता है **वचनात्** क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है।

ज्ञानी की कलाओं का जो प्रलय होता है वह अन्य लोकों के समान अपूर्ण रूप से होता है अथवा पूर्ण रूप से होता है यह संशय होने पर वह प्रलय अन्य प्रलयों के ही समान होने से उसमें भी शक्ति (बीज) अवशिष्ट ही रहता है ऐसा यदि कोई कहे तो उस पर उत्तर देते हैं कि वे एकता को ही प्राप्त होते हैं क्योंकि श्रुति का वैसा ही कथन है। कलाओं का प्रलय कहकर आगे श्रुति कहती हैं—'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' [प्र० ६।५] (इनके नाम रूप नष्ट हो जाते हैं, फिर यह पुरुष ही रह जाता है ऐसा कहा जाता है और वही कला रहित और अमृतरूप हो जाता है)। अविद्या से जो कलाएं उत्पन्न होती हैं उनका विद्या से होने वाले प्रलय में अवशेष रहता है ऐसा कहना ठीक नहीं;

इसलिये वे ब्रह्म से एकता ही को प्राप्त होती हैं, ऐसा सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

९ तदोकोऽधिकरण ।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासा मर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

तदोकोऽग्रज्वलनम् उन [दोनों के हृदय रूप] स्थान का अग्र [यद्यपि समान रूप से] प्रज्वलित होता है [और] **तत्प्रकाशितद्वारः** उससे [उत्क्रांति का] द्वार भी [यद्यपि समान रूप से ही] प्रकाशित होता है; [तो भी ज्ञानी पुरुष मस्तक से ही निकलता है ऐसा] **विद्यासामर्थ्यात्** विद्या की सामर्थ्य से **च** और **तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्** उन [विद्याओं] के अंगभूत ऐसे मार्गों की [उपासनाओं का] कथन होने से [विदित होता है], इसलिये **हार्दानुगृहीतः** हृदय में रहे हुए परब्रह्म के अनुग्रह से वह [मस्तक के **शताधिकया** सौ से अधिक यानी एक सौ एकवीं नाड़ी से [निकल जाता है ऐसा सिद्ध होता है ।

प्रसंगवस प्राप्त हुआ निर्गुण विद्या का विचार समाप्त हुआ । अब यहां फिर सगुण विद्या का जो विषय चल रहा है उसको आगे चलाते हैं । मार्ग के आरंभ तक ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की उत्क्रांति समान रूप से होती है ऐसा पहिले कहा है; उसी मार्ग के उपक्रम का अब यहाँ वर्णन करते हैं । वाक् आदि इन्द्रिय समूह का अपने में लय करके जब विज्ञानस्वरूप जीव निकलने लगता है तब उसका स्थान यानी आश्रय हृदय होता

है ऐसा 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' [बृ० ४।४।१] (वह इन तेज की मात्राओं का ग्रहण करके हृदय को जाता है) यह श्रुति कहती है। इस हृदय का अग्र भाग प्रज्वलित होने पर चक्षु आदि के स्थानों से जीव निकलता है, ऐसा आगे दी हुई श्रुति कहती है—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' [बृ० ४।४।२] (ऐसे उस पुरुष के हृदय का अग्रभाग प्रज्वलित होता है और उसके प्रकाश में जीवात्मा चक्षु से, मस्तक से अथवा शरीर के अन्य किसी भाग से निकल जाता है) । अब यह उत्क्रांति क्या विद्वान् और अविद्वान् दोनों की किसी नियम विना ही होती है अथवा ज्ञानी के सम्बन्ध में इसमें कोई नियम है ऐसी शंका प्राप्त होने पर यदि कोई कहे कि इस विषय में श्रुति ने कोई नियम नहीं कहा है, इसलिये उत्क्रांति के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं मान सकते, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि—ज्ञानी और अज्ञानी इनके हृदय का अग्रभाग यद्यपि एकसा ही प्रकाशित होता है और इस प्रकाश से उत्क्रांति का द्वार भी एकसा प्रकाशित होता है, तो भी ज्ञानी मनुष्य मस्तक ही से निकलता है तथा इतर पुरुष इतर मार्गों से निकलते हैं। ऐसा भेद होने का कारण ज्ञानियों की विद्या का सामर्थ्य है। ज्ञानी मनुष्य भी यदि अन्य लोगों के समान शरीर के अन्य किसी भाग से निकल जाय तो उसको उत्तम लोक की प्राप्ति नहीं होगी और फिर उसकी विद्या निरर्थक ही सिद्ध होगी। वैसे ही, उन विद्याओं के अंगभूत ऐसे मार्गों की उपासना कही हुई होने से तथा विशिष्ट विद्याओं में उन विद्याओं के अंगभूत मस्तक के नाड़ी के मार्ग की उपासना करनी चाहिये ऐसा कहा हुआ होने से, जो उस

मार्ग की उपासना करता है वह मरण के अनंतर उसी मार्ग से जाता है ऐसा मानना हीं युक्त है। इसलिये हृदय में प्रतिष्ठित ब्रह्म की उत्तम प्रकार से उपासना करने पर उस ब्रह्म का ज्ञानी पुरुष के आत्मा पर अनुग्रह होता है और उससे वह सौ से ऊपर की एक सौ एकवीं नाड़ी से निकल जाता है और अन्य पुरुष अन्य नाड़ियों से निकल जाते हैं ऐसा सिद्ध होता है। इसी के अनुरोध से हृदय में रहे हुए ब्रह्म की विद्या के सम्बन्ध में श्रुति कहती है, 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' [छाँ० ८।६।६] (हृदय में एक सौ एक नाड़ियां होती हैं; उनमें से एक मस्तक को चली गई है, उससे जो ऊपर निकल जाता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है और अन्य सब नाड़ियों से जो जाते हैं वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं)।

१० रश्म्यधिकरण । सू० १८-१९

रश्म्यनुसारी ।। १८ ।।

रश्म्यनुसारी [दोनों ही] रश्मियों का अनुसरण करते हैं।

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' [छाँ० ८।१।१] (अब यह जो ब्रह्मपुर में कमल के समान निवास स्थान है), इस प्रकार उपक्रम करके श्रुति हृदय में रहे हुए ब्रह्म की विद्या कहती है। इस प्रकरण में 'अथ या एता हृदयस्यः नाड्यः' [छाँ० ८।६।१] (अब हृदय में जो ये नाड़ियां हैं) ऐसा उपक्रम करके नाड़ी और रश्मियों का संबंध सविस्तार से वर्णन करते हुए श्रुति ने आगे कहा है कि, 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते'

[छां० ८ । ६ । ५] (जब वह इस शरीर से निकलता है तब वह इन रश्मियों से ही ऊपर चढ़ता है) और फिर कहा है कि 'तयोरूर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' [छाँ० ८ । ६ । ६] जो इनसे ऊपर चढ़ता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है) इसलिये जीव एक सौ एकवीं नाड़ी से जाकर रश्मियों का अनुसरण करता है ऐसा विदित होता है । यदि किसी को संदेह हो कि दिन में मरने वाला और रात में मरने वाला दोनों सामान्य रूप से रश्मियों का अनुसरण करते हैं अथवा दिन में मरने वाला ही रश्मियों का अनुसरण कर सकता है तो इसका निर्णय करते हैं कि श्रुति में कोई विशेष कथन न होने से दोनों ही रश्मियों का अनुसरण करते हैं ।। १८ ।।

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य

यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ।। १९ ।।

च तथा **निशि** रात में [जीव रश्मियों का अनुसरण] **न** नहीं करते **इति** ऐसा **चेत्** यदि [कहो तो] **न** वह ठीक नहीं; [क्योंकि] **संबंधस्य** [नाड़ी और रश्मियों का] सम्बन्ध **यावद्देहभावित्वात्** देह है तब तक रहता है **च** और **र्शदयति** श्रुति वैसा ही कहती है ।

यदि कहो कि नाड़ियां और रश्मियों का सम्बन्ध दिन में होता है इसलिये दिन में मरने वाला रश्मियों का अनुसरण कर सकता है परन्तु रात में मरने वाला वैसा नहीं कर सकेगा, क्योंकि उस समय नाड़ियाँ और रश्मियों का सम्बन्ध नहीं रहता, तो उसका उत्तर देते हैं कि यह ठीक नहीं है; क्योंकि जब तक देह है तब तक नाड़ियाँ और रश्मियों का सम्बन्ध बना

रहता है। जब तक देह है तब तक नाड़ियां और किरणों का संपर्क रहता है, यही बात आगे दी हुई श्रुति बताती है, जैसे— 'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' [छां० ८।६।२] (उस आदित्य से ये रश्मि फैलते हैं और इन नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाते हैं; इन नाड़ियों से वे निकलते हैं और उस आदित्य में प्रवेश कर जाते हैं)। वैसे ही, गरमी के दिनों में रात में भी किरणों का अस्तित्व उस समय प्रतीत होने वाली गरमी से जाना जा सकता है। अब वर्षा ऋतु में आकाश मेघ से अत्यन्त आच्छादित होने पर, जैसे दिन में भी इनकी प्रतीति नहीं होती, वैसे ही और ऋतुओं की रात में वे रश्मि थोड़े होने से उनका अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। 'अहरेवैतद्रात्रौदधाति' (रात में यह दिन ही को धारण करता है) यह श्रुति इसी बात को कहती है।

अब यदि रात में मरने वाला पुरुष रश्मियों का अनुसरण न करते हुए ही ऊपर जायगा तो रश्मियों का अनुसरण व्यर्थ ही हो जायगा और जो दिन में मरता है वह रश्मि का अनुसरण करके ऊपर जाता है और रात में मरता है वह इनके बिना ही ऊपर जाता है ऐसा विशेष श्रुति ने कहीं नहीं बतलाया। यदि ज्ञानी मनुष्य केवल रात में मरा है इतने ही अपराध से ऊपर नहीं जायगा तो विद्या का फल वैकल्पिक होगा और मरण काल किसी का निश्चित न होने से उस विद्या में किसी की प्रवृत्ति भी न होगी। यदि कहो कि रात में मरा हुआ भी वह दिन होने की [ऊपर जाने के लिये] प्रतीति करेगा

तो (वह भी ठीक नहीं; क्योंकि) दिन होने तक संभव है उसका शरीर अग्नि आदि के सम्बन्ध से रश्मियों के सम्बन्ध के योग्य ही न रहे। तथा, 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' [छां० ८।६।५] (वह मन को हटाते ही त्वरित आदित्य को प्राप्त होता है) यह श्रुति भी वह ठहरता नहीं यही कहती है, इसलिये वह रात में या दिन में रश्मियों का अनुसरण करता है यह सामान्य रूप से ही कहा हुआ है ॥ १९ ॥

११ दक्षिणायनाधिकरण । सू० २०--२१

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अतः इसलिये **च** ही **दक्षिणे अयने** दक्षिणायन में [मरने वाले पुरुष को] **अपि** भी [विद्या का फल मिलता है]।

'इसीलिये' यानी जीव ठहरता नहीं, विद्या का फल वैकल्पिक नहीं और मरणकाल भी निश्चित नहीं, इसीलिये दक्षिणायन में मरने वाले ज्ञानी पुरुष को भी विद्या का फल मिलता ही है। अब उत्तरायण में होने वाला मृत्यु प्रशस्त होता है यह प्रसिद्ध होने से, भीष्म इस प्रकार उत्तरायण के लिये ठहरे भी थे; तथा 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्डुदङ् ङेति मासांस्तान्' [छां० ४।१५।५] (शुक्ल पक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर जाता है उन छः महीनों में वे जाते हैं) यह श्रुति होने से शंका होती है कि मरण के लिये उत्तरायण की आवश्यकता है। इस शंका को इस सूत्र से दूर करते हैं।

उत्तरायण का मृत्यु प्रशस्त होता है ऐसी जो प्रसिद्धि है वह अज्ञानी लोगों के लिये है। अब भीष्म जो ठहरे थे वह केवल आचार का पालन करने के लिये तथा पिता की कृपा से इच्छा

के अनुसार मर सकते हैं यह बात दिखाने के लिये ही ठहरे थे। ऊपर आई हुई श्रुति का अर्थ 'आतिवाहिकास्तल्लिंगात्' [ब्र० सू० ४।३।४] (अर्चिरादिक पदार्थ आतिवाहिक हैं, क्योंकि उसका चिह्न मिलता है) इस सूत्र में किया जायगा ॥ २० ॥

शंका—'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' [भ० गी० ८।२३] (हे भरत श्रेष्ट, जिस काल में मृत्यु होने पर योगी नहीं लौटते तथा जिसमें लौटते हैं वह काल मैं तुझसे कहता हूं) इस स्मृति में प्रधानता से काल ही का वर्णन करके दिन आदि विशेष प्रकार के काल ही लौटने वाले के लिये स्मृति ने नियत किये हैं फिर रात में अथवा दक्षिणायन में मरने पर भी वह लौटेगा नहीं ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

इसका समाधान आगे के सूत्र से करते हैं—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

च और **स्मर्यते** स्मृति में **योगिनःप्रति** योगियों के लिये ही [काल विनियोग] कहे हैं **च** और **एते** ये [सांख्य और योग)**स्मार्ते** स्मृति में कहे हुए हैं।

फिर से न लौटने के लियें काल का नियम स्मृतियों में योगियों के लिये कहा गया है। सांख्य और योग ये दो शास्त्र स्मृति के हैं श्रुति के नहीं। इसलिये इनका विषय भिन्न होने से तथा विशेष प्रकार के प्रमाणों का आधार होने से यह इन स्मृतियों में बतया हुआ काल विनियम श्रुति के विज्ञान में प्राप्त नहीं होता। यदि कहो कि 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लषण-

मासा उत्तरायणम् ।', 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।' [भ० गी० ८।२४,२५] (अग्नि, ज्योति, दिन शुल्क पक्ष और उत्तरायण के छः मास, वैसे ही, धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मास) इस प्रकार स्मृतियों में श्रुति में कहे हुए ही देवयान और पितृयाण मार्ग कहे हुए हैं ऐसा पहिचान सकते हैं तो उसका उत्तर देते हैं कि 'तं कालं वक्ष्यामि' (उस काल को कहता हूं) इस स्मृति में काल संबंध में प्रतिज्ञा की हुई होने से स्मृति का श्रुति से विरोध आता है ऐसी शंका करके ही ऊपर का समाधान दिया हुआ है परन्तु ऊपर की स्मृति में अग्नि आदि देवताओं का ही आतिवाहिक रूप से कथन है ऐसा मानने से कोई भी विरोध नहीं प्राप्त होता ।।२१।।

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के चतुर्थ अध्याय का द्वितीय पाद
समाप्त हुआ ।

चतुर्थ अध्याय तीसरा पाद ।

१ अर्चिराद्यधिकरण ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

अर्चिरादिना [ज्ञानी] अर्चिरादि मार्गों से ही [जाता है]; **तत्प्रथितेः** क्योंकि वही मार्ग प्रसिद्ध है ।

मार्ग के आरम्भ तक ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की उत्क्रान्ति एकसी होती है ऐसा कहा । परन्तु यह मार्ग भी विभिन्न श्रुतियों में अनेक प्रकार से कहे हैं। एक श्रुति में 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते' [छां० ८ । ६ । ५] (पश्चात् इन्हीं रश्मियों से वह ऊपर चला जाता है) इस प्रकार नाड़ी और रश्मियों के सम्बन्ध से उत्क्रान्ति का प्रतिपादन किया है तो एक में अर्चिरादि के सम्बन्ध से 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः' [बृ० ६ । २ । १५] (वे अर्चि को प्राप्त होते हैं और अर्चि से दिन को), ऐसा कहा है तो दूसरी 'स एतं देवयानं पंथानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' [बृ० ६ । २ । १५] (वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्नि लोक में आता है) ऐसा कहती है । तीसरी कहती है, 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' [बृ० ५ । १० । १] (जब यह पुरुष इस लोक से जाता है तब वह वायु को प्राप्त होता है) तथा और श्रुति कहती है कि 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' [मु० १।२।११] (वे निष्पाप पुरुष सूर्य के द्वार से जाते हैं)। यहाँ पर संशय होता है कि क्या ये सब मार्ग एक से भिन्न हैं अथवा एक ही मार्ग के विभिन्न वर्णन हैं ?

पूर्वपक्ष—ये मार्ग भिन्न भिन्न ही हैं, क्योंकि इनका भिन्न भिन्न प्रकरणों में निर्देश हुआ है तथा ये मार्ग विभिन्न उपासनाओं के अंगभूत हैं। अर्चिरादि धर्म की अपेक्षा से 'अथैतैरेव रश्मिभिः' [छां० ८।६।५] (पश्चात् इन्हीं रश्मियों से) इस श्रुति का कथन विरोधी होगा, तथा 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' [छां० ८।६।५] (जैसा ही वह मन का त्याग करता है वैसा ही आदित्य को प्राप्त होता है) इस श्रुति में जो त्वरा का कथन है उसका भी बाध होगा। इससे यही प्रतीत होता है कि ये मार्ग परस्पर भिन्न ही होने चाहिये।

समाधान—वे अर्चिरादि मार्ग से ही जाते हैं। हम यही निर्णय करते हैं कि ब्रह्म को प्राप्त होने की इच्छा रखने वाले अर्चिरादि मार्ग ही से जाते हैं, क्योंकि वही मार्ग प्रसिद्ध है। सब ज्ञानी लोगों में यही मार्ग प्रसिद्ध है। पंचाग्नि विद्या के प्रकरण में ऐसा ही कहा है, जैसे, 'ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' [बृ० ६।२।१५] (ऐसे जो पुरुष अरण्य में श्रद्धायुक्त होकर सत्य की उपासना करते हैं), इस वाक्य में अन्य उपासना करने वालों को भी अर्चिरादि मार्ग कहा है। यदि कहो कि जिन विद्याओं में किसी मार्ग का निर्देश नहीं है, उनमें इस अर्चिरादि मार्ग की भले प्राप्ति हो परन्तु जहां अन्य मार्ग का कथन है वहां अर्चिरादि मार्ग का अवलम्बन क्यों किया जाय, तो उसका उत्तर यह है कि यह कहना तब ठीक होता जब ये मार्ग परस्पर अत्यन्त भिन्न होते परन्तु वैसा नहीं है। यह एक ही मार्ग है जिससे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, इसी का अनेक

प्रकार से वर्णन मिलता है। कहीं इसका कैसा वर्णन होता है कहीं कैसा; सब ही वर्णनों में मार्ग का कोई एक भाग पहिचाना जा सकता है इसलिये यह सब ही एक मार्ग का वर्णन है ऐसा ही सिद्ध होता है। प्रकरण के भिन्न २ होते हुए भी विद्या एक ही होने से अन्य विशेषणोंका जैसे परस्पर ग्रहण होता है, वैसे ही गति सम्बन्धी विशेषणों का भी ग्रहण होता है। अब जहां कहीं विद्या भिन्न भी है वहाँ मार्ग का कोई न कोई अंश समान रूप से पहिचाना जाता है इसलिये तथा जाने का स्थान सबके लिये एक ही होने से मार्ग भी एक ही है ऐसा मानना युक्त है। तथा, 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' [बृ० ६।२।१५] (वे उस ब्रह्मलोक में जितना ब्रह्मा का उत्कृष्ट आयुष्य है, उतना रहते हैं) 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समाः' [बृ० ५।१०।१] (उसमें वह बहुत वर्ष रहता है), 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते' [कौ० १।४] (ब्रह्म का जो जय और व्यापकता है वह जय उसको प्राप्त होता है और वह व्यापकता उसको प्राप्त होती है) और 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' [छां० ८।४।३] (इसलिये, जो कोई ब्रह्मचर्य से ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं), इन सब श्रुतियों में सर्वत्र उसी एक ब्रह्मप्राप्ति रूप फल का निदर्शन किया गया हैं।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा है कि अर्चिरादि मार्ग का ग्रहण करने से 'एतैरेव रश्मिभिः' (इन रश्मियों से) इत्यादि श्रुति का ग्रहण किया है वह ठीक नहीं बैठेगा, तो कहते हैं यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि मार्ग में रश्मियों का अन्तर्भाव करने में ही इस वाक्य का तात्पर्य है। अब यह एक ही वाक्य मार्ग में रश्मियों का अंतर्भाव भी करता है और अर्चिरादि का त्याग

भी करता है ऐसा कहना ठीक नहीं। इसलिये इस वाक्य में मार्ग का रश्मियों के साथ सम्बन्ध ही निश्चित किया है ऐसा समझना चाहिये। त्वरा का निर्देश करने वाली श्रुति का भी मार्ग के अर्चिरादि धर्म ग्रहण करने से विरोध नहीं होता, क्योंकि इतर स्थानों की अपेक्षा वह ब्रह्म लोक को अधिक शीघ्रता से जाता है यही उसका भावार्थ है, जैसे क्षणभर में मैं यहां आता हूं, ऐसा कहते हैं वैसा ही यह समझना चाहिये। तथा, 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणाचन' [छां० ५।१०।८] (अब इन दोनों में से किसी भी मार्ग से नहीं जाता) यह श्रुति दोनों मार्गों से भ्रष्ट हुए पुरुषों के लिये तीसरा मार्ग बताकर पितृयाण मार्ग से भिन्न अर्चिरादि विशिष्ट देशों से युक्त ऐसा एक ही मार्ग बताती है। अर्चिरादि मार्ग में विशिष्ट प्रदेश बहुत हैं तथा और मार्गों में थोड़े हैं इसलिये जिनमें अधिक की अपेक्षा ऐसे स्थान थोड़े हैं उनका ही अधिक में अंतर्भाव करना सयुक्तिक है, (यानी जिस मार्ग में अधिक प्रदेशों का वर्णन हैं उसी में जिन मार्गों में थोड़े प्रदेशों का वर्णन है, उनको मिलाकर सब मिलाकर एक ही मार्ग है ऐसा ही मानना चाहिये, अन्यथा जिसमें थोड़े प्रदेशों का वर्णन है वह मार्ग छोटा मानना पड़ेगा जो वास्तव में है नहीं) इसलिये भी सूत्रकार ने 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' (अर्चिरादि मार्ग ही से वह जाता है, क्योंकि यही मार्ग प्रसिद्ध है) ऐसा कहा है।

२ वाय्वधिकरण।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

अब्दात् संवत्सर से **वायुम्** वायु के प्रति [जाता है]

अविशेषविशेषाभ्याम् ऐसा अविशेष और विशेष इनसे [विदित होता है]।

अब मार्ग के जिन विभिन्न धर्मों में परस्पर विशेषण विशेष्य भाव हैं उन धर्मों को किस क्रम से लेना चाहिये यह आचार्य सब के कल्याण के लिये कहते हैं। कौषीत की शाखा वाले देवयान मार्ग का इस प्रकार वर्णन करते हैं—'स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' [कौ० १। ३] (वह उस देवयान मार्ग को प्राप्त होता है, अग्निलोक में आता है और वह वायुलोक में आता है; फिर वरुणलोक को, इन्द्र-लोक को, प्रजापति लोक को और ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है)। अब अर्चि और अग्नि ये दोनों शब्द ज्वलन के अर्थ में होने से समानार्थक हैं, इसलिये अर्चिरादि मार्ग में अग्निलोक कहाँ पर आवेगा यह ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वायु का वर्णन अर्चिरादि मार्ग में नहीं आता इसलिये उसको किस स्थान में रखा जाय यह प्रश्न होता है। उसका उत्तर देते हैं कि 'तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्ष-मापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' [छां० ५। १०। १,२] (वे अर्चि ही को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर जाता है उन छः महीनों को, उन महीनों से संवत्सर को और संवत्सर से आदित्य को प्राप्त होते हैं) इस श्रुति में संवत्सर के पश्चात् और आदित्य के पूर्व वे वायु को प्राप्त होते हैं ऐसा समझना चाहिए, ऐसा विशेष और अविशेषों के कथन से विदित होता है। 'स

वायुलोकम्' [कौ० १ । ३] (वह वायु लोक को प्राप्त होता है), इस श्रुति में वायु का विशेषरूप से यानी स्थान की अपेक्षा से कथन नहीं है, परन्तु उसी का अन्य श्रुति में विशेष रूप से कथन है; जैसे 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रेति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' [बृ० ५ । १० । १] (जब वह पुरुष इस लोक से जाता है तब वह वायु के प्रति आता है, फिर वायु उसको रथ के चक्र के छिद्र के समान मार्ग देता है, उस मार्ग से वह ऊपर आता है और आदित्य को प्राप्त होता है)। इस श्रुति में वायु आदित्य के पहिले कहा हुआ होने से, इस विशेष निरूपण से संवत्सर और आदित्य के बीच में वायु का समावेश करना चाहिये। यदि कहो कि अग्नि के पश्चात् वायु का कथन भी मिलता है इसलिये अर्चि के पश्चात् वायु को क्यों नहीं रखा जाय, तो उत्तर देते हैं कि वहां कोई विशेष नहीं कहा गया है। यदि कहो कि 'स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' [कौषी० १ । ३] (वह उस देवयान पंथ को प्राप्त होता है, अग्नि लोक को आता है फिर वायु लोक को और वरुण लोक को जाता है) यह श्रुति उदाहरण रूप से हमने दी है, तो उसका उत्तर देते हैं कि इस श्रुति में एक के आगे एक ऐसे वाक्य मात्र दिये हुए हैं, परन्तु उसके पदार्थों का अमुक क्रम है ऐसा निर्णय करने वाला वहां एक भी शब्द नहीं है। इस वाक्य में केवल पदार्थों का निर्देश किया गया है कि इस पदार्थ को वह जाता है, इस पदार्थ को वह जाता है, परन्तु अन्य श्रुति में वायु के दिये हुए रथ के चक्र के समान मार्ग से वह ऊपर जाकर आदित्य के प्रति जाता है ऐसा क्रम मिलता है। इसलिये 'अविशेषविशेषाभ्याम्' (अविशेष और

विशेष का कथन होने से) ऐसा जो सूत्रकार ने कहा है वह ठीक ही है। परन्तु वाजसनेयी लोग 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' [बृ० ६।२।१५] (महीनों से देवलोक को और देवलोक से आदित्य को जाता है) ऐसा कहते हैं, वहां वायु के पश्चात् आदित्य, ऐसा क्रम सिद्ध करने के लिये देवलोक से वायु के प्रति जाता है ऐसा मानना पड़ेगा। अब सूत्रकार ने जो संवत्सर से वायु के प्रति जाता है ऐसा कहा है वह छाँदोग्य श्रुति के अनुसार कहा है ऐसा समझना चाहिये। छाँदोग्य और वाजसनेयी इनमें एक में देवलोक का कथन नहीं है तो दूसरी में संवत्सर का वर्णन नहीं है। अब दोनों श्रुति प्रमाण होने से दोनों स्थान पर दोनों पदार्थों का ग्रहण होना चाहिये। उसमें भी यह भेद ध्यान में रखना चाहिए कि संवत्सर का महीनों से सम्बन्ध होने से संवत्सर का प्रदेश पूर्व का है और देवलोक उसके अनन्तर है ॥ २ ॥

३ तडिदधिकरण।

तडितोऽधि वरुणः संबंधात् ॥ ३ ॥

तडितः विजली के **अधि** आगे **वरुणः** वरुण है, **संबंधात्** क्योंकि [वरुण का यानी जल का विजली से] सम्बन्ध है।

'आदित्याच्चंद्रमसं चंद्रमसो विद्युतम्' [छाँ० ४।१५।५] (आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से बिजली को) यह श्रुति विजली के पश्चात् वह वरुण लोक को जाता है ऐसा कह कर उसका वरुण के साथ सम्बन्ध बताती है और बिजली और वरुण का सम्बन्ध भी है। जब अतीव भयंकर कड़कड़ाहट के साथ विशाल बिजलियां वादलों में नृत्य करती हैं तब जल

बरसता है। 'विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' [छां० ७ । ११ । १] (बिजली होती है, कड़कड़ाहट होती है और जल बरसता है) यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है। अब जल तत्त्व का अधिपति वरुण है यह श्रुति और स्मृति दोनों में प्रसिद्ध है। वरुण के आगे इन्द्र और प्रजापति आते हैं, क्योंकि उनके लिये कोई अन्य स्थान नहीं है और श्रुति में (कौषी० १ । ३) उनका यही क्रम दिया भी गया है। वरुण आदि के प्रदेश अर्चिरादि मार्ग में नहीं कहे गये हैं, इसलिये भी इनको अन्त में रखा गया है, क्योंकि उनका कोई विशेष स्थान नहीं है और बिजली अर्चिरादि मार्ग के अन्त में है ॥ ३ ॥

४ आतिवाहिकाधिकरण । सू० ४-६

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ॥ ४ ॥

आतिवाहिकाः [अर्चिरादि पदार्थ] आतिवाहिक हैं, **तल्लिंगात्** क्योंकि इसके चिन्ह मिलते हैं।

अर्चिरादि के सम्बन्ध में संशय होता है कि क्या ये मार्ग के चिन्ह हैं, अथवा ये भोग भूमियाँ हैं, अथवा इस मार्ग से जाने वालों को ले जाने वाली ये कोई व्यक्तियां हैं।

पूर्वपक्ष—ये अर्चिरादि मार्ग के लक्षण हैं, क्योंकि श्रुति के उपदेश का यही भाव है। जैसे इस लोक में कोई ग्राम को अथवा नगर को जाने वाला होता है तब उसको कहा जाता है कि 'तू इस पर्वत को जा, पश्चात् वट वृक्ष को, पश्चात् नदी को, पश्चात् गाँव को और पश्चात् तू नगर को पहुंच जायगा' वही बात यहां पर 'अर्चियों से दिन को दिन से शुक्ल पक्ष को' इत्यादि से कही है। श्रुति ने अग्नि आदि को इसीलिये लोक

कहा है, जैसे 'अग्निलोकमागच्छति' [कौषी० १ । ३] (वह अग्निलोक में जाता है) इत्यादि । और लोक शब्द प्राणियों के भोग के स्थानों के लिये प्रसिद्ध है; जैसे 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' [बृ० १ । ५ । १६] (मनुष्य लोक, पितृलोक, देवलोक); यही बात ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखी है—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' [श० ब्रा० १० । २ । ६ । ८] (दिन रात रूप लोकों में वे आसक्त होते हैं) । इसलिये अर्चिरादि मार्ग दर्शक नहीं हो सकते । अचेतन होने से भी ये अर्चिरादि मार्ग दर्शक नहीं हो सकते, क्योंकि चेतन ऐसे पुरुष ही राजा से नियुक्त होकर कठिन मार्गों में से प्रवासियों को ले जाते हैं ।

समाधान—ये मार्ग दर्शक ही होने चाहिये, क्योंकि इसके चिह्न मिलते हैं । 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' [छां० ४।१५।५] (वे चन्द्रमा से बिजली को जाते हैं, वहां एक अमानुष पुरुष उनको ब्रह्म के प्रति ले जाता है), यह श्रुति उनका मार्ग दर्शक होना सिद्ध है ऐसा बताती है । यदि कहो कि इस श्रुति का कथन उसी विषय के लिये, यानी वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं इसी विषय के लिये है, तो यह ठीक नही, क्योंकि, श्रुति में 'अमानवः' (अमानुष) ऐसा जो विशेषण है, वह उसके पूर्व प्राप्त मनुष्यत्व की निवृत्ति करता है । यदि अर्चिरादि मार्ग में ले जाने वाला कोई पुरुष है और ये मनुष्य है ऐसा प्राप्त हो, तब ही उसकी निवृत्ति के लिये पुरुष के साथ अमानुष ऐसा विशेषण लगाना युक्त है ॥ ४ ॥

यदि कहो कि केवल इन चिह्नों से यह बात सिद्ध नहीं होती, क्य उसके सिद्ध करनें के लिये कोई युक्ति नहीं है, तो उत्तर देते हैं कि—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ।। ५ ।।

उभयव्यामोहात् [मार्ग और मार्ग से जाने वाले] दोनों ज्ञान रहित होने से **तत्सिद्धेः** वे [अर्चिरादि देवता ही मार्ग प्रदर्शक]] हैं ऐसा सिद्ध होता है।

जो अर्चिरादि मार्ग से जाने वाले होते हैं उनका देह से वियोग हुआ होता है और इन्द्रिय समूह एक पिण्ड रूप हुए होते हैं, इसलिये वे स्वतंत्र नहीं होते तथा अर्चिरादि भी स्वयं अचेतन होने से स्वतंत्र नहीं हैं, इसलिये अर्चिरादि के अभिमानी चेतन ऐसे विशेष देवता जीवों को ले जाने के लिये नियुक्त किये गये हैं ऐसा विदित होता है। इस जगत में भी मत्त, मूर्च्छित आदि पुरुषों को भी, उनकी इन्द्रियां पृथक् कार्य करने में असमर्थ होने से इतर लोग मार्ग से ले जाते हैं, यह देखने में आता है। दूसरे अर्चिरादि की कोई निश्चित अवस्था न होने से भी उनमें मार्ग के लक्षण नहीं घटते। वैसे ही जो पुरुष रात में मृत्यु को प्राप्त होगा वह दिन को प्राप्त होगा यह सम्भव नहीं है, न वह दिन की प्रतीक्षा करने के लिये ठहर सकता है, यह भी हम पहिले कह चुके हैं। परन्तु देवताओं का स्वरूप अक्षय होने से यह दोष प्राप्त नहीं हो सकता। ये अर्चिरादि के अभिमानी होने से इनके लिये जो अर्चिरादि शब्दों का प्रयोग होता है वह ठीक ही है। अब 'अर्चिषोऽहः' [छा० ४।१५।५] (अर्चि से दिन को प्राप्त होते हैं) इत्यादि श्रुतियों में जो निर्देश है उसमें ये मार्ग दर्शक व्यक्तियां हैं ऐसा माने तो भी कोई विरोध नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उसका अभिप्राय यही होता है कि वे अर्चियों द्वारा दिन को प्राप्त होते हैं और दिन के द्वारा शुक्ल पक्ष को प्राप्त होते हैं। इस

लोक में भी जो मार्ग दर्शक प्रसिद्ध हैं, उनके सम्बन्ध में भी 'तू यहां से बलवर्मा को जा वहां से जयसिंह को और वहाँ से कृष्ण गुप्त को जा' ऐसा कहा जाता है।

श्रुति के आरंभ में 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' [बृ० ६।२।१५] (वे अर्चि को प्राप्त होते हैं) इस प्रकार केवल संबंध ही का निर्देश है, परन्तु उसके अन्त में 'स एतान्ब्रह्म गयमति' [बृ० ४।१५।६] (वह उनको ब्रह्म के प्रति ले जाते हैं), इस प्रकार अति वाह्य और अतिवाहक यानी प्रवासी और मार्ग दर्शक के संबंध का स्पष्ट निर्देश किया है, जिससे यही संबंध उपक्रम में भी होना चाहिये, ऐसा निश्चय किया जाता है। तथा जाने वाले जीवों के इन्द्रिय एकाकार को प्राप्त होने ही से वहाँ जीवों को भोग की प्राप्ति संभव नहीं है। यद्यपि वहां जाने वाले जीव भोग भोगने में असमर्थ हों तो भी उस स्थान के लिये लोक शब्द का प्रयोग हो सकता हैं, क्योंकि वहां रहने वाले अन्य जीवों की वह भोग भूमि है। इसलिये, जिस लोक का स्वामी अग्नि है, उस लोक को जाने वाले को अग्नि ले जाता है और वायु जिस लोक का स्वामी है उस लोक के जाने वाले को वायु ले जाता है, ऐसा उसका भावार्थ समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शंका—ये मार्ग दर्शक होते हैं ऐसा कहें, तो इस पक्ष में यह मार्गदर्शकत्व वरुण आदि में किस प्रकार संभव है, जब कि वरुण आदि को बिजली के पश्चात् रखा है और बिजली के पश्चात् ब्रह्म प्राप्ति तक एक अमानुष पुरुष उसको ले जाता है ऐसा श्रुति का कथन है ?

इसका उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

ततः वहाँ से [वे जीव] **वैद्युतेन** विजली में रहे हुए पुरुष द्वारा **एव** ही [ले जाय जाते हैं]; **तच्छ्रुतेः** क्योंकि श्रुति में ऐसा ही कहा है।

वहां से यानी विजली को प्राप्त होने पर विजली के पीछे आने वाला अमानुष पुरुष जीव को वरुण लोक आदि को ले जाता है और पश्चात् वे जीव ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। 'तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' [बृ० ६।२।१५] (एक अमानव पुरुष आकर उनको विजली के स्थान से ब्रह्म लोक को ले जाते हैं) इस श्रुति में अमानव पुरुष ही उनको ले जाता है ऐसा कहा है। अब वरुण आदि देवता इस पुरुष की गति में विघ्न न करते हुए अथवा अन्य किसी प्रकार उसकी सहायता करके उस पर अनुग्रह करते हैं, ऐसा जानना चाहिये। इसलिये अर्चिरादि आतिवाहिक देवता रूप है ऐसा जो कहा है वह ठीक है ॥ ६ ॥

५ कार्याधिकरण । सू० ७-१४

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

कार्यम् कार्य [कार्य ब्रह्म] के प्रति [जीवों को ले जाया जाता है, ऐसा] **बादरिः** वादरि आचार्य कहते हैं; क्योंकि **अस्य** इस [कार्य ब्रह्म ही] में **गत्युपपत्तेः** गति सम्भव है।

'स एतान्ब्रह्म गमयति' [छां० ४।१५।५] (वह इनको ब्रह्मलोक को ले जाता है), इस श्रुति का अब विचार

करते हैं कि, क्या वह जीवों को किसी कार्य रूप ब्रह्म को ले जाते हैं अथवा अविकारी ऐसे परब्रह्म को ले जाते हैं। यह संशय होने का कारण यह है कि श्रुति में ब्रह्म शब्द ही का प्रयोग है तथा उसमें गति का भी निर्देश है। यहाँ पर बादरि आचार्य का ऐसा मत है कि वह अमानव पुरुष इनको सगुण ऐसे कार्य रूप गौण ब्रह्म ही को ले जाता है, क्योंकि इसके प्रति गति सम्भव है। इस कार्य ब्रह्म को जाने योग्य स्थान मान सकते हैं, क्योंकि इसका विशेष प्रदेश होता है। परन्तु परब्रह्म में जाने वाला, गमन अथवा जाने योग्य स्थान कुछ भी नहीं बनता; क्योंकि वह सर्वत्र वर्तमान है, इतना ही नहीं वही जाने वालों का आत्मरूप है ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

च तथा **विशेषितत्वात्** [ब्रह्म के सम्बन्ध में] विशेष बात कही हुई होने से [उनको कार्य ब्रह्म के प्रति ही ले जाया जाता है]।

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसंति [बृ० ६।२।१५] (वह जीवों को ब्रह्मलोक के प्रति ले जाता है; वे उस ब्रह्मलोक में उत्कृष्ट होकर बहुत वर्ष तक रहते हैं) ऐसा अन्य श्रुति में विशेष कथन होने से यह गति कार्य ब्रह्म के प्रति ही है ऐसा विदित होता है, क्योंकि वहाँ 'ब्रह्मलोकेषु' (ब्रह्म लोकों में) ऐसा बहु बचनान्त प्रयोग है जो परब्रह्म के लिये योग्य नहीं प्रतीत होता। दूसरी श्रुति में लोक शब्द है वह भी, जहां कार्य रूप पदार्थ प्राप्त हो सके ऐसे, विशेष प्रकार से रचित स्थान हो ऐसी भोग

भूमि के लिये ही योग्य है; परन्तु 'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' [बृ० ४।४।२३] (हे राजा, ब्रह्म ही यह लोक है) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म शब्द का 'लोक' इस अर्थ में जो प्रयोग मिलता है वह गौण है, ऐसा समझना चाहिये। वैसे ही, आधार और आधेय का जो श्रुति में निर्देश है वह परब्रह्म के सम्बन्ध में युक्त नहीं प्रतीत होता। इसलिये कार्य ब्रह्म के प्रति ही जीवों को ले जाया जाता है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

यदि कहो कि कार्य ब्रह्म में भी ब्रह्म शब्द नहीं प्रयोजित हो सकता, क्योंकि, समन्वयाधिकरण में सब जगत् की उत्पत्ति आदि का जो कारण है वही ब्रह्म है, ऐसा सूत्रकार ने स्थापित किया है, तो उसका उत्तर देते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तु परन्तु **सामीप्यात्** समीपता के कारण **तद्व्यपदेशः** उस [अपर ब्रह्म] का [वैसा] निर्देश [किया गया] है।

'तु' (परन्तु) शब्द आशंका की निवृत्ति सूचित करता है। अपर ब्रह्म परब्रह्म के समीप होने के कारण अपर ब्रह्म के अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग करने में कोई विरोध नहीं प्राप्त होता। मनोमयत्व आदि कार्य धर्मों के साथ उपासना के निमित्त जिस विशुद्ध उपाधि युक्त परब्रह्म का निर्देश करते हैं, वही अपर ब्रह्म है ऐसी वस्तु स्थिति है ॥ ९ ॥

शंका—जीव कार्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ऐसा माने तो वे लौटते नहीं ऐसा जो श्रुति में कहा है वह युक्त नहीं होता, क्योंकि परब्रह्म को छोड़ कर और कोई भी वस्तु नित्य हो यह संभव नहीं है। और देवयान मार्ग से गये हुये जीव लौटते नहीं, ऐसा 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं

नावर्तन्ते' [छां० ४।१५।५] (इस मार्ग से प्राप्त होने वाले फिर इस मनुष्य जन्म रूप चक्र में नहीं पड़ते) यह श्रुति कहती है, तथा 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' [छां० ८।६।६] (उस मार्ग से ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है) यह श्रुति भी वे फिर लौटते नहीं ऐसा दिखाती है।

इसका उत्तर देते हैं—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

कार्यात्यये कार्य [ब्रह्म] का प्रलय हो जाने पर [जीव] **तदध्यक्षेण** उस लोक के अध्यक्ष के **सह** साथ **अतः** वहां से **परम्** परब्रह्म को [प्राप्त होते हैं]; **अभिधानात्** क्योंकि श्रुति में ऐसा ही कहा है।

कार्य रूप ब्रह्मलोक के प्रलय का समय प्राप्त होने पर वहां के जीवों को वहीं पर ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वे उस लोक के अध्यक्ष हिण्कगर्भ के साथ वहीं से अत्यंत शुद्ध ऐसे विष्णु के परमपद को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार क्रम मुक्ति होती है; ऐसा ब्रह्मलोक से अनावृत्ति का कथन करने वाली श्रुतियों से जानना चाहिये; क्योंकि जीवों को साक्षात् गतिपूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह पहिले ही हम सिद्ध कर चुके हैं ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

स्मृतेः स्मृति **च** भी [यही कहती है]।

स्मृति भी ऐसा ही मानती है; जैसे, 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशंति परं पदम् ॥' (महाप्रलय प्राप्त होने पर हिरण्यगर्भ के अन्तकाल में उन सब

को ज्ञान प्राप्त होता है और वे हिरण्यगर्भ के साथ परब्रह्म को प्राप्त होते हैं)। इसलिये श्रुति में जो गति का निर्देश है वह कार्य ब्रह्म के प्रति गति का ही है ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

अब यहाँ पर शंका होती है कि किस पूर्वपक्ष के निवृत्ति के लिये 'कार्यं वादरिः' [ब्र० सू० ४ । ३ । ७] इत्यादि सूत्रों द्वारा यह सिद्धान्त स्थापन किया गया।

इसका उत्तर आगे के सूत्रों से देते हैं—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

परम् [वह जीवों को] परब्रह्म ही के प्रति [ले जाता है ऐसा] **जैमिनिः** जैमिन आचार्य [कहते हैं] **मुख्यत्वात्** क्योंकि [वही उस शब्द का] मुख्य [अर्थ] है।

'स एतान्ब्रह्म गमयति' [छां० ६ । १५ । ६] (वह उनको ब्रह्म को प्राप्त कराता है) इस श्रति में वह जीवों को परब्रह्म ही को प्राप्त कराता है, ऐसा जैमिनि मानते हैं, क्योंकि वही उस शब्द का मुख्य अर्थ है। ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ परब्रह्म ही है अन्य अर्थ गौण है; और जहां मुख्य और गौण अर्थ दोनों सम्भव हों वहां मुख्य अर्थ लेना ही उचित है ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

च तथा **दर्शनात्** श्रुति में ऐसा ही कहा हुआ होने से [जीव परब्रह्म ही को प्राप्त होते हैं]।

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' [छां० ८ । ६ । ६] (उस मार्ग से ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है), यह श्रुति भी जीव गति पूर्वक अमृतत्व को प्राप्त होता है ऐसा

कहती है। अब अमृतत्व परब्रह्म ही में संभव है, कार्य ब्रह्म में नहीं; क्योंकि कार्य नाशवान् ही होता है। श्रुति यही कहती है— 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पंतन्मर्त्यम्' [छां० ७। २४। १] (अब यहाँ जो अन्य को देखता है वह अल्प है, मरणशील है)। वैसे ही, कठवल्ली में यही गति परब्रह्म का लक्ष्य कर के कही है; क्योंकि वहां पर 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' [क० २।१४] (धर्म से अन्य, अधर्म से अन्य) इस प्रकार परब्रह्म ही का प्रकरण इस श्रुति में प्रारम्भ हुआ होने से अन्य विद्या का वह प्रकरण नहीं है ऐसा विदित होता है ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

च और **प्रतिपत्त्यभिसंधिः** प्राप्ति का संकल्प **कार्ये** कार्य [ब्रह्म] के विषय में **न** नहीं है।

'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' [छाँ० ८। १४। १] (मैं प्रजापति के सभागृह को प्राप्त होऊँ), इस श्रुति में जो प्राप्त होने का संकल्प कहा गया है वह कार्य ब्रह्म के उपलक्ष्य से नहीं है; क्योंकि, 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' [छां० ८। १४। १] (वह नामरूप का प्रकाशक है; जिसमें ये नाम रूप हैं वह ब्रह्म है), इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि यहाँ कार्य ब्रह्म से विलक्षण ऐसे परब्रह्म ही का प्रकरण है, तथा 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' [छाँ० ८। १४। १] (मैं ब्राह्मणों का यश होता हूं) यह श्रुति आगे परब्रह्म ही सबका आत्मा है ऐसा प्रतिपादन करती है। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' [श्वे० ४। १९] (जिसका महान यश ही नाम है, उसके समान और कुछ भी नहीं है) यह श्रुति भीं उस परब्रह्म का ही यश नाम प्रसिद्ध है ऐसा कहती है। अब यह गृह प्राप्ति

गतिपूर्वक होती है ऐसा हार्दविद्या (हृदय में ब्रह्म की उपासना) में कहा है; जैसे 'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' [छां० ८ । ५ । ३] (वह ब्रह्मा की अपराजिता नगरी है, वह ईश्वर का विशिष्ट रूप से निर्माण किया हुआ घर है) । 'पद्' धातु का भी गमन करना यह अर्थ होने से मार्ग की आवश्यकता है ऐसा निश्चय होता है। इसलिये गति का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां भी परब्रह्म के विषय में ही हैं, यह दूसरा पक्ष है।

ये दोनों पक्ष सूत्रकार ने कहे हैं। गति संभव है इत्यादि से (सू० ७ से ११ तक) एक पक्ष कहा है और मुख्य अर्थ है इत्यादि से (सू० १२ से १४ तक) दूसरा पक्ष कहा है । इनमें जो गति सम्भव है इत्यादि का पक्ष है वह मुख्य अर्थ है इत्यादि पक्ष का बाध करने में समर्थ है; मुख्य अर्थ है यह पक्ष गति संभव है इस पक्ष का बाध करने में समर्थ नहीं है। इसलिये यहां पर प्रथम ही सिद्धान्त की व्याख्या है और पश्चात् पूर्वपक्ष की व्यांख्या है ऐसा सिद्ध होता है; क्योंकि मुख्य अर्थ लेना सम्भव न हो तो भी उसका ग्रहण करना ही चाहिये ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। अब पर विद्या प्रकरण में भी पर विद्या की स्तुति करने के लिये अपर विद्या की गति का कथन हो सकता है, जैसे 'विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' [छाँ० ८।६।६[(जो ये अन्य अनेक नाड़ियाँ हैं वे केवल उत्क्रान्ति के लिये हैं)। इस श्रुति में ब्रह्मनाड़ी की स्तुति के लिये अन्य नाड़ियों का कथन है, वैसे ही यहां पर समझना चाहिये। 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' [छां० ८ । १४ । १] (प्रजापति के सभागृह में मैं प्राप्त होता हूं) यह श्रुति पूर्व श्रुति से पृथक् मानते हुए उसमें कार्यब्रह्म की प्राप्ति का संकल्प कहा है ऐसा माने तो

भी उसमें कोई विरोध नहीं प्राप्त होता। सगुण ब्रह्म के लिये भी जैसे वह सर्वकर्मा और सर्वकाम है ऐसा कहा जाता है, वैसे ही वह सर्वात्मा है ऐसा भी कहना युक्त ही है। इसलिये गति का कथन करने वाली श्रुतियां अपर यानी कार्य ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं। फिर भी कुछ लोग पहले पूर्वपक्ष के सूत्र होते हैं और पश्चात् सिद्धान्त के सूत्र होते हैं, इस व्यवस्था का अनुरोध करते हुए गति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति परब्रह्म ही का प्रतिपादन करती हैं ऐसा प्रस्थापित करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वह सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म (सर्वत्र वर्तमान होने से) जाने योग्य स्थान नहीं हो सकता। जो परब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, सबके भीतर है और सबका आत्मा है ऐसा 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [बृ० ३।४।१] (आकाश के समान सर्व व्यापक और नित्य), 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' [बृ० ३।४।१] (जो अत्यंत निकट और प्रत्यक्ष ऐसा ब्रह्म है), 'य आत्मा सर्वान्तरः' [बृ० ३।४।१] (जो सब के भीतर आत्मा है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' [छां० ७।२५।२] (यह सब आत्मा ही है), 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' [मु० २।२।११] (यह सब ब्रह्म ही है, यही श्रेष्ठ है) इत्यादि श्रुतियों से विशेष रूप से निश्चित किया गया है वह जाने योग्य कोई (दूर स्थित) प्रदेश में हो ऐसा कभी भीं नहीं मान सकते, न जो वहां पहिले ही से वर्तमान है उसके लिये वह वहां जाता है ऐसा भी कह सकते हैं, क्योंकि अपने से भिन्न स्थान पर ही कोई जा सकता है यह बात इस जगत् में प्रसिद्ध है।

शंका—व्यवहार में देखते हैं कि पूर्व से जो वर्तमान हो वह भी अन्य देश से युक्त होने से वह जाने योग्य स्थान हो सकता

है; जैसे पृथिवी पर रहने वाला ही पृथिवी के अन्य देश द्वारा पृथिवी ही को जाता है। इसी प्रकार, यद्यपि अपने से अभिन्न है तो भी, बालक के अन्य विशेष काल रूप वृद्धावस्था को—जो अपने ही में होती है—जाना पड़ता है। ब्रह्म भी इसी प्रकार सर्व शक्तिमान होने से वह किसी न किसी प्रकार जाने योग्य बन सकता है।

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के सम्बन्ध में सब विशेषों का निषेध किया गया है। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्' [श्वे० ६।१९] (ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय, शान्त और दोष रहित है), 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' [बृ० ३।८।८] (वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, ह्रस्व या दीर्घ नहीं है), 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' [मु० २।१।२] (जो भीतर और बाहर है, जो अज है), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' [बृ० ४।४।२५] (वही यह आत्मा अजन्मा, जरा रहित, मृत्यु रहित अमृतस्वरूप और भय विवर्जित ऐसा ब्रह्म है), 'स एष नेति नेत्यात्मा' [बृ० ३।९।२६] (यह 'ऐसा नहीं ऐसा नहीं' इस प्रकार बताया हुआ आत्मा) इत्यादि श्रुतियों से तथा स्मृति और न्याय (युक्ति) से भी परमात्मा में देश काल आदि के विशेष के सम्बन्ध की कल्पना हो नही सकती। इसलिये पृथिवी का प्रदेश और आयु की अवस्था आदि की कल्पना करके वही न्याय ब्रह्म में लगाकर वह जाने योग्य स्थान है ऐसा नहीं कह सकते। परन्तु पृथिवी और आयु के प्रदेश और अवस्था के विशेषत्व के सम्बन्ध से देश काल विशिष्टत्व से वे जाने योग्य बन सकते हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से ब्रह्म में नाना शक्तियाँ वर्तमान हैं ऐसा यदि कहो तो

वह ठीक नहीं है, क्योंकि (ऐसा माने तो भी) सब विशेषों का निराकरण करने वाली श्रुतियों का अन्य कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। यदि कहो कि उत्पत्ति आदि की श्रुतियों का भी अन्य कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता, यह बात उभयत्र समान है तो, वह ठीक नहीं। उत्पत्ति आदि की श्रुतियों का तात्पर्य उस ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने में है; क्योंकि, मिट्टी आदि के दृष्टान्तों से एक सत्ता रूप ब्रह्म ही सत्य है और सब विकार मिथ्या है ऐसा प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का केवल उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन करना यही उद्देश्य नहीं हो सकता। यदि पूछो कि तब उत्पत्ति आदि का कथन करने वाली श्रुतियाँ विशेष धर्मों का निराकण करने वाली श्रुयियों के अंगभूत हैं, परन्तु विशेष धर्मों का निराकरण करने वाली श्रुतियाँ उत्पत्ति आदि का कथन करने वाली श्रुतियों के अंगभूत नहीं हैं ऐसा क्यों माना जाय ? तो उत्तर देते हैं कि विशेषों का निराकरण करने वाली श्रुतियों को (किसी की भी) अपेक्षा नहीं होती। आत्मा एक नित्य शुद्ध है इत्यादि ज्ञान होने पर अब पुरुषार्थ की समाप्ति हो गई ऐसी बुद्धि उत्पन्न होने से फिर उसको किसी प्रकार की आकाँक्षा नहीं रहती, यह आगे की श्रुतियों से ज्ञात होता है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' [ईशा० ७] (वहाँ जो एक ही को देखता है, उसको शोक कहां और मोह कहां) 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' [बृ० ४।२।४] हे जनक, तू अब अभय रूप ब्रह्म को प्राप्त हुआ है), 'विद्वान विभेति कुतश्चन। एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्॥' [तै० २।६।१] (ज्ञानी पुरुष किसी से भी नहीं डरता, न उसको यह विचार कष्ट देता है कि मैंने अच्छा कर्म क्यों

नहीं किया और बुरा क्यों किया) इत्यादि । इसी प्रकार ज्ञानी को तुष्टि आदि का अनुभव होता है । तथा 'मृत्योः स 'मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [कठ० २।४।१०] (जो यहां स्वल्प भी भेद की दृष्टि से देखता है वह बार बार मृत्यु को प्राप्त होता रहता है) इस श्रुति में विकार मिथ्या है ऐसा कहकर विकारों की निन्दा की गई है, इससे भी यही बात निश्चित होती है। इसलिये विकारों का निराकरण करने वाली श्रुतियां अन्य किसी श्रुति के अंगभूत हैं ऐसा नहीं कह सकते, न इन उत्पत्ति आदि की श्रुतियों में इस प्रकार आकांक्षा रहित अर्थ प्रतिपादन करने का सामर्थ्य भी है । उनका अर्थ भिन्न है यह प्रत्यक्ष जाना जाता है; जैसे, 'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' [छां० ६।८।३] (यह जो अंकुर उत्पन्न हुआ वह बिना मूल के नहीं हो सकता ऐसा, हे सोम्य, तू जान), इस प्रकार आरम्भ में कहकर आगे जगत् का मूलभूत एक सत्तत्व ही विज्ञेय यानी जानने योग्य है ऐसा श्रुति बताती है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ॥' [तै० ३।१।१] (जहां से ये भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर वे जीते हैं और नाश होने पर जिसको ये प्राप्त होते हैं, उसको जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है) इस प्रकार यह श्रुति भी उसी बात को कहती है । इस प्रकार उत्पत्ति आदि की श्रुतियों का एकता का ज्ञान कराने का उद्देश्य होने से, इनसे ब्रह्म का अनेक शक्तियों से सम्बन्ध (सिद्ध) नहीं हो सकता। इसलिये ब्रह्म जाने के योग्य वा प्राप्त होने के योग्य स्थान नहीं बन सकता । 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' [बृ० ४।४।६] (उसके

प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता । वह स्वयं ब्रह्म होने से ब्रह्म ही को वह प्राप्त होता है) यह श्रुति भी ब्रह्म के प्रति गति का निवारण करती है। इसकी व्याख्या 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' [ब्र० सू० ४।२।१३] (कुछ शाखाओं में शरीर से ज्ञानियों के निष्क्रांति का स्पष्ट निषेध है) इस सूत्र में की गई है । गति की कल्पना करने पर जाने योग्य स्थान जो ब्रह्म है, उसका जीव एक अवयव वा विकार अथवा उससे कुछ कुछ भिन्न पदार्थ मानना पड़ेगा, क्योंकि दोनों में अत्यंत तादात्म्य मानने से जीव की गति असंभव होगी । यदि पूछो कि ऐसा मानने का फल क्या होगा ? तो सुनो—यदि जीव ब्रह्म के एक देश में हो तो एक देश वाला जीव ब्रह्म को नित्य प्राप्त ही होने से उसका फिर से ब्रह्म को प्राप्त होना नहीं बन सकता । वैसे ही जीव ब्रह्म के एक देश में है यह कल्पना भी ब्रह्म में नहीं बनती, क्योंकि ब्रह्म अवयव रहित है यह प्रसिद्ध है । जीव ब्रह्म का विकार माने तो इस पक्ष में भी वही दोष आता है, क्योंकि विकार भी अपने कारण को नित्य प्राप्त ही है । घट कभी अपना मिट्टी का स्वरूप छोड़ कर नहीं रह सकता और यदि वह स्वरूप ही त्याग देगा तो उसका घटत्व ही न रहेगा । अब जीव ब्रह्म का विकार है वा अवयव है, इन दोनों पक्षों में, जिसका यह विकार और अवयव माना गया है वह ब्रह्म स्थिर होने से जींव संसार को प्राप्त होता है यह कहना ही नहीं बनता; अब जीव को ब्रह्म से भिन्न मानना, यह पक्ष रहा । इस पक्ष में जीव या तो अणु या व्यापक, अथवा मध्यम परिमाण वाला होना चाहिये । यदि वह व्यापक हो तो उसकी गति संभव नहीं, यदि मध्यम परिमाण वाला हो तो वह अनित्य है ऐसा प्राप्त होगा और यदि उसको अणु माने

तो उसको संपूर्ण शरीर का ज्ञान नहीं हो सकेगा। जीव अणु है और वह मध्यम परिमाण वाला है, इन दोनों पक्षों का हमने पहिले विस्तार से खंडन किया है (देखो ब्र० सू० २।३।२६)। यदि जीव परमात्मा से भिन्न हो तो 'तत्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है) इत्यादि अद्वैत प्रतिपादक शास्त्रों का वाध होने का प्रसंग प्राप्त होगा। जीव ब्रह्म का विकार है या अवयव है इन पक्षों में भी यह दोष वैसा ही प्राप्त होता है। यदि कहो कि विकार और अवयव प्रकृति और अवयवी से अभिन्न होने से यह दोष नहीं प्राप्त होता, तो कहते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि यहां पर प्रधान रूप से एकता नहीं पायी जाती। तथा इन सभी पक्षों में मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा, क्यों इनमें इसका संसारी स्वरूप निवृत्त नहीं होता और यदि निवृत्त हो जाय तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि ब्रह्म ही सबका आत्मा है ऐसा प्रसिद्ध है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि नित्य नैमित्तिक कर्म करते रहने से प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न नहीं होगा, काम्य कर्मों और निषिद्ध कर्मों का त्याग किया जाय, जिससे स्वर्ग वा नर्क की प्राप्ति नहीं होगी तथा जो कर्म इस वर्तमान देह के भोग रूप हैं, उनका भोग हो जाते ही नाश हो जायगा और इस प्रकार वर्तमान देह के नष्ट होने पर अन्य देह के साथ सम्बन्ध होने के लिये कोई कारण विद्यमान न रहने से, जो ऊपर के कहे अनुसार आचरण रखेगा, उसको ब्रह्म ही आत्मा है ऐसा ज्ञान न होने पर भी स्वरूप में स्थिति रूप कैवल्य की प्राप्ति होगी। यह इनका कथन नितान्त मिथ्या है, क्योंकि उसके लिये कोई प्रमाण ही नहीं है। किसी भी शास्त्र ने ऐसा

प्रतिपादन नहीं किया है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाला इस प्रकार आचरण करे। यह केवल मन घडंत बात है कि संसार कर्म से है, इसलिये कर्म के अभाव से संसार का भी अभाव हो जायगा। इसका तर्क करना भी असम्भव है, क्योंकि निमित्त के अभाव का ज्ञान होना कठिन है। प्रत्येक जीव के पूर्व जन्मों के इष्ट और अनिष्ट फल देने वाले बहुत कर्म हो सकते हैं। अब इन विरुद्ध फल वाले कर्मों का एक ही साथ भोग लेना असम्भव होने से जिनका समय प्राप्त हुआ है वे इस जन्म को देते हैं और अन्य कर्म देश, काल और निमित्त की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसलिये जो अवशेष रहे हैं उन कर्मों का भोग वर्तमान देह से असम्भव होने से ऊपर वर्णन किया है वैसा आचरण रखने पर वर्तमान देह के नष्ट होने पर अन्य देह के साथ संबंध होने के लिये निमित्त नहीं ही होगा ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। 'तद्य इह रमणीयचरणाः' (जो यहां अच्छे आचरण वाले होते हैं), 'ततः शेषेण' (पश्चात् शेष रहे हुये कर्म से) इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों से कुछ कर्म अवशेष रहते ही हैं ऐसा सिद्ध होता है। यदि कहो कि नित्य नैमित्तिक कर्मों से उनका नाश हो जायगा तो वैसा नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों में विरोध नहीं है। विरोध होने पर ही एक दूसरे का नाश कर सकता है। अन्य जन्म में संचित किये हुए सुकृतों का नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों ही शुद्ध हैं। परन्तु पाप कर्म अशुद्ध होने से उनका नित्य नैमित्तिक कर्मों से विरोध है, इसीलिये उनका उनसे भले नाश हो जाय, परन्तु इतने ही से अन्य देह के धारण करने के लिये कोई निमित्त ही न रहेगा यह बात नहीं सिद्ध होती, क्योंकि अच्छे कर्म रूप हेतु अभी विद्यमान होना संभव

है। तथा पाप कर्मों का भी निःशेष क्षय हो गया हो ऐसा जान नहीं सकते। वैसे ही, नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से केवल प्रत्यवाय ही उत्पन्न नहीं होगा और इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल उससे उत्पन्न नहीं होगा इसके लिये कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि वह अन्य फल को उत्पन्न करे यह भी संभव है। आपस्तंबों की स्मृति कहती है कि 'तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' (जैसे फलों के लिये आम्र वृक्ष लगाने पर भी उससे छाया और गंध की भी प्राप्ति होती है; वैसे ही धर्म का आचरण करने से अन्य आनुषंगिक लाभ भी होते हैं)। तथा जब तक सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक कोई भी मनुष्य ऐसा निश्चय पूर्वक नहीं कह सकता कि उसने जन्म से मरण तक कोई भी काम्य या प्रतिषिद्ध कर्म नहीं किये। बड़े बड़े निपुण कर्म करने वालों से भी छोटे छोटे अपराध तो हो ही जाते हैं ऐसा देखने में आता है। यह एक संदेह की बात है परन्तु यह मान लें तो भी दूसरे जन्म के लिये हेतु ही न रहता हो, यह समझना कठिन ही है।

दूसरे, जो जीव ब्रह्म की एकता केवल ज्ञान ही से जानी जाती है उसका बोध न हुआ हो तो जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व का स्वभाव होने से उसे कैवल्य की इच्छा भी नहीं होगी; जैसे अग्नि अपने उष्णता के स्वभाव को छोड़ नहीं सकता। यदि कहो कि जीव के लिये अनर्थकारक तो कर्तृत्व भोक्तृत्व का कार्य (कर्म वा संसार) है, उसकी शक्ति अनर्थ-कारक नहीं है। इसलिये कार्य का त्याग करने पर शक्ति रहे तो भी मोक्ष हो सकेगा; तो इसका उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं होता। शक्ति विद्यमान होने पर कार्य का होना अनिवार्य है।

यदि कहो कि केवल शक्ति कार्य का आरम्भ नहीं कर सकती, उसके लिये अन्य निमित्तों की भी आवश्यकता होती है। इसलिये यदि केवल अकेली शक्ति रह जाय तो भी वह कुछ बिगाड़ नहीं सकती, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि शक्ति रूप संबंध से उन कारणों का भी नित्य सम्बन्ध है। इसलिये कर्तृत्व भोक्तृत्व यह जीव का स्वभाव होने से ज्ञान से जाना जाय ऐसे जीव ब्रह्म के ऐक्य का जब तक बोध नहीं होगा तब तक जीव को मोक्ष की किसी प्रकार आशा नहीं है; क्योंकि श्रुति 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [श्वे० ३ । ८] (मोक्ष की प्राप्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है) ऐसा कहकर मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान को छोड़कर अन्य सब मार्गों का निषेध करती है। यदि कहो कि जीव परमात्मा से अभिन्न है तो उस अवस्था में प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों की प्रवृत्ति असम्भव होने से व्यवहार के लोप होने का प्रसंग प्राप्त होगा, तो कहते हैं यह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे जाग्रत होने के पहले स्वप्न के व्यवहार होते रहते हैं वैसे ही ज्ञान से पहले व्यवहार बन सकेगा। शास्त्र भी 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' [बृ० २।४।१४, ४ । ५ । १५] (जहां द्वैत सा भासता है वहां एक २ को देखता है) इत्यादि से ज्ञान के पहिले प्रत्यक्षादि व्यवहार का कथन करके आगे 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' [बृ० ४ । ५ । १५] (परन्तु, जहां इसको सर्व ही आत्मभूत होगया, फिर वहाँ वह किससे किसको देखे) इत्यादि से ज्ञान की अवस्था में उस व्यवहार का अभाव बताता है। इसलिये, ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्म प्राप्त होने का एक स्थान है इस प्रकार के किसी अनुभव का शास्त्रों ने बाध किया हुआ होने से उनकी कहीं भी गति होती है, ऐसा नहीं कह सकते।

अब प्रश्न यह होता है कि फिर गति आदिक का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का प्रयोजन क्या है? इसका उत्तर देते हैं कि वे श्रुतियाँ सगुण उपासना का प्रतिपादन करती हैं। कहीं पर पंचाग्नि विद्या के प्रकरण में गति कही गई है तो कहीं पर्यंक विद्या के प्रकरण में, तो कहीं वैश्वानर विद्या के प्रकरण में गति का वर्णन आता है, जैसे 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' [छां० ४ । १० । ५] (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है खं ब्रह्म है), तथा 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' [छां० ८ । १ । १] (अब जो यह ब्रह्मपुर में एक छोटा सा महल है) यहां पर वामनी (कर्म फल देने वाला) आदि तथा सत्य काम आदि गुणों का कथन होने से उपास्य सगुण ही है, इसलिये गति सम्भव है। परन्तु कहीं भी पर ब्रह्म के संबंध में श्रुति का ऐसा कथन नहीं मिलता, जैसा 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' [बृ० ४ । ४ । ६] (उसके प्राण निकल कर नहीं जाते) इस प्रकार गति का निषेध उसमें स्पष्ट मिलता है; परन्तु 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' [तै० २ । १ । १] (ब्रह्म को जानने वाला परम गति को प्राप्त होता है) इत्यादि प्रकार की श्रुतियों में यद्यपि 'आप्नोति' शब्द का अर्थ गति सूचक है, तो भी पूर्व में दिये हुए युक्तियों से उसका अन्य देश के प्रति जाना असंभव सिद्ध होने से अविद्या से अध्यारोपित नामरूप के प्रलय को लेकर 'ब्रह्मव सन्ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म होने ही से वह ब्रह्म में लीन होता है) इत्यादि कथन के समान अपने स्वरूप की प्राप्ति के अर्थ ही में उसका प्रयोग किया है ऐसे समझना चाहिये।

यदि परब्रह्म के संबंध से गति का कथन हो तो, या तो वह उसके लिये रुचि उत्पन्न करने के लिये हो सकता है या

अनुचिंतन के लिये हो सकता है। अब प्रथम पक्ष में गति के प्रतिपादन से ब्रह्मज्ञानी में रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि स्वसंवेद्य (अपने ही से जाना जाय ऐसा) और प्रत्यक्ष ऐसा आत्मा उसको विद्या से प्राप्त होने से अब उसको रुचि वहाँ सिद्ध ही है। वैसे ही, जो नित्य सिद्ध मोक्ष का प्रतिपादन करता है और जिसका फल साध्य नहीं है (यानी नित्य उपलब्ध है) ऐसे ज्ञान के लिये नित्य अनुचिंतन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये गति का कथन अपर ब्रह्म के सम्बन्धी ही है। अब पर और अपर ब्रह्म का भेद जिसके समझ में न आया हो वह अपर ब्रह्म के लिये कही हुई गतिश्रुतियों का परब्रह्म में आरोप करता है।

यदि पूछो कि क्या पर और अपर ऐसे ब्रह्म दो हैं, तो कहते हैं—हां, ब्रह्म दो हैं; जैसे 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' [प्र० ५ । २] (हे सत्यकाम, जो ओंकार है वही पर और अपर ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों में कहा हुआ है। यदि पूछो कि तो पर ब्रह्म कौनसा और अपर ब्रह्म कौनसा, तो कहते हैं—यहां अविद्या कृत नाम रूप के निषेध द्वारा 'वह स्थूल नहीं है' इत्यादि शब्दों द्वारा जिसका श्रुति वर्णन करती है वह परब्रह्म है और उसी का जब नाम रूप आदि के भेद द्वारा किसी विशिष्ट उपासना के लिये 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' [छाँ० ३ । १४ । २] (वह मनोमय, प्राण रूप शरीर वाला और प्रकाश स्वरूप है) इत्यादि शब्दों से वर्णन किया जाता है तब वह अपर ब्रह्म है। यदि कहो कि ऐसा मानने से ब्रह्म अद्वितीय है ऐसा जो श्रुति का कथन है उसका विरोध होगा तो कहते हैं वैसा नहीं होता; क्योंकि अविद्याकृत

नाम रूप की उपाधि से पर और अपर ब्रह्म की प्रतीति होती है, इस प्रकार उस विरोध का परिहार होता है। उस अपर ब्रह्म की उपासना के पास ही 'स यदि पितृलोककामो भवति' [छां० ८।२।१] (यदि उसको पितृलोक की इच्छा है) इत्यादि जगत् के ऐश्वर्य वाले संसार में प्राप्त होने वाले फल का श्रुति कथन करती है; क्योंकि अभी उसकी अविद्या निवृत्त नहीं हुई है; तथा उस फल का देशविशेष के साथ सम्बन्ध होने से उसकी प्राप्ति के लिये उसके जाने में कुछ भी विरोध नहीं प्राप्त होता। आत्मा सर्व व्यापक है तो भी जैसे घटादि की उपाधि के गमन से आकाश की गति मानी जाती है, वैसे ही बुद्धि आदि की उपाधि के गमन से उसकी गति प्रसिद्ध है, यह हम 'तद्गुणसारत्वात्' [ब्र० सू० २।३।२९] इस सूत्र में प्रतिपादन कर चुके हैं। इसलिये 'कार्यं बादरिः' [ब्र० सू० ४।३।७] इसी सूत्र से सिद्धान्त का कथन आरम्भ होता है तथा 'परंजैमिनिः' [ब्र० सू० ४।३।१२] इस सूत्र से जो दूसरा पक्ष (पूर्वपक्ष) कहा है, वह केवल श्रोता की बुद्धि के विकास के लिये ही कहा है ऐसा समझना चाहिये ॥ १४ ॥

६ अप्रतीकालंबनाधिकरण। सू० १५-१६

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

अप्रतीकालम्बनान् प्रतीकों का आलम्बन न रखने वालों को **नयति** वह ले जाता है **इति** ऐसा **बादरायणः** बादरायणाचार्य कहते हैं। **उभयथा** दोनों प्रकार से मानने में **अदोषात्** कोई दोष नहीं प्राप्त होता, **च** क्योंकि **तत्क्रतुः** [ब्रह्म का] जो संकल्प करता है वह [उसी को प्राप्त होता है]।

यह निश्चय हुआ कि श्रुति में जो गति का वर्णन है वह कार्य ब्रह्म के सम्बन्ध में है, परब्रह्म के सम्बन्ध में नहीं। अब यहाँ पर संदेह होता है कि क्या सब प्रकार के कार्यब्रह्म के उपासकों को सामान्य रूप से वह अमानुष पुरुष ब्रह्मलोक के प्रति ले जाता है अथवा उनमें से कुछ लोगों को ही ले जाता है ?

पूर्वपक्ष—इन सभी उपासकों को वह परब्रह्म से भिन्न ऐसे कार्यब्रह्म को ले जाता है, क्योंकि 'अनियमः सर्वासाम्' [ब्र० सू० ३ । ३ । ३१] इस सूत्र में अन्य विद्याओं के लिये भी यह गति सामान्य रूप से कही गई है।

समाधान—इसी के उत्तर में 'अप्रतीकालम्बनान्' इत्यादि प्रस्तुत सूत्र कहा है, जिसका अर्थ यह है कि जो प्रतीक का आलम्बन रखते हैं उनको छोड़कर जो कार्यब्रह्म का आलम्बन रखकर उपासना करने वाले अन्य सब है उनको वह ब्रह्मलोक को ले जाता है, ऐसा बादरायणाचार्य का मत है, और उभय प्रकार मानने से कोई दोष भी नहीं प्राप्त होता। अब अनियम का जो कथन किया गया है वह प्रतीक उपासकों के अतिरिक्त और सब उपासकों के लिये है ऐसा कह सकते हैं। सूत्रकार ने 'तत्क्रतुश्च' (उसका जो संकल्प करता है वह) ऐसा कहकर दोनों प्रकार मानने के लिये कारण दिया है ऐसा समझना चाहिये। इसीलिये जिसको ब्रह्म का संकल्प है उसको ब्रह्मा का ऐश्वर्य प्राप्त हो जाय यह योग्य ही है, जैसे 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' (उसकी जो जिस जिस रूप से उपासना करता है वैसा ही वह हो जाता है) यह श्रुति कहती है। अब प्रतीक में ब्रह्म की कल्पना नहीं होती, क्योंकि उन उपासनाओं में प्रतीक ही

प्रधान विषय होता है। यदि कहो कि ब्रह्म का संकल्प न होते हुए भी उपासक ब्रह्म को प्राप्त होता है ऐसा 'स एतान्ब्रह्म गमयति' [४।१५।५] (वह उनको ब्रह्म के प्रति ले जाता है) इस प्रकार पंचाग्नि विद्या में कहा है, तो उसका उत्तर यह है कि जहां विशेष रूप से ऐसा ही कहा है वहां पर वैसा मान सकते हैं; परन्तु जहां वैसा नहीं कहा गया वहाँ तो सामान्य नियम से अर्थात् जिसका संकल्प हो उसी की प्राप्ति होती है, इस न्याय से जिसको ब्रह्म का संकल्प हो उस को ब्रह्म को प्राप्ति होती है, और को नहीं ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

च और [श्रुति] **विशेषं** [फल की] विशेषता **दर्शयति** दिखाती है।

नाम आदि की प्रतीक उपासनाओं में पूर्व २ की उपासनाओं के फल से उत्तर उत्तर की उपासना का अधिक फल होता है ऐसा श्रुति कहती है; जैसे, 'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' [छां० ७।१।५] (जहां तक नाम की गति है वहाँ तक वह इच्छानुसार गमन करता है), 'वाग्वाव नाम्नो भूयसो' [छां० ७।२।१] (वाणी अवश्य नाम से बड़ी है) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' [छां० ७।२।२] (जहाँ तक वाणी की गति है, वहाँ तक वह इच्छानुसार संचार कर सकता है), 'मनोवाव वाचो भूयः' [छां० ७।३।१] (मन ही वाणी से बड़ा है) इत्यादि। इस प्रकार यह फलों की अधिकता उपासना में ग्रहण किये हुए प्रतीकों पर निर्भर हो, यह युक्त ही है; परन्तु यदि वह

अधिकता ब्रह्म पर निर्भर हो तो ब्रह्म में किसी प्रकार का विशेष भाव न होने से फल में विशेषता कहां से आवेगी ? इसलिये जो प्रतीक के आलम्बन से उपासना करते हैं उनको और उपासकों के समान फल नहीं मिलता, ऐसा सिद्ध होता है ।। १६ ।।

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के चतुर्थ अध्याय का तृतीय पाद
समाप्त हुआ ।

चतुर्थ अध्याय चतुर्थ पाद ।

१ संपद्याविर्भावाधिकरण । सू० १-३

संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

संपद्य [जीव ब्रह्म के साथ] एकता को प्राप्त होकर **आविर्भावः** [आत्म रूप से] व्यक्त होता है, **स्वेनशब्दात्** क्योंकि [श्रुति में उसके लिये] 'स्वेन' (आत्म रूस से) ऐसा शब्द दिया है।

श्रुति में कहा है कि 'एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्स-मुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' [छां० ८।१२।३] (इस प्रकार यह संप्रसाद रूप जीव इस शरीर से निकल कर पर ज्योति के साथ एकता को प्राप्त होकर आत्म रूप से व्यक्त होता है) । यहाँ पर संशय होता है कि यह जीव देवलोक आदि उपभोग के स्थानों में किसी विशेष नूतन धर्म से व्यक्त होता है अथवा आत्म रूप ही से व्यक्त होता है ।

पूर्वपक्ष—अन्य स्थानों के समान वहां भी वह किसी विशिष्ट नूतन रूप से ही व्यक्त होता होगा, क्योंकि मोक्ष भी एक प्रकार का फल ही है यह प्रसिद्ध है। 'अभिनिष्पद्यते' (व्यक्त होता है) यह उत्पत्ति का ही पर्याय शब्द है। यदि जीव यहां पर आत्म रूप से ही व्यक्त होता होगा, ऐसा माने तो पूर्व अवस्थाओं में भी वह वैसा ही व्यक्त होता है ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि उसके स्वरूप का तो कभी नाश ही नहीं होता । इसलिये वहां किसी विशिष्ट रूप से व्यक्त होता है यह मानना ही युक्त है ।

समाधान—वहां पर जीव केवल आत्म स्वरूप ही से व्यक्त होता है अन्य किसी धर्म के साथ व्यक्त नहीं होता, क्योंकि 'स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' (आत्म रूप से व्यक्त होता है) इस स्थान पर 'स्व' (आत्म) शब्द का विशिष्ट रूप से प्रयोग किया गया है। यदि ऐसा न माना जाय तो श्रुतिगत 'स्व' यह विशेषण निरर्थक होगा। यदि कहो कि स्व का अर्थ 'अपना' ऐसा लेने से वन जायगा तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा कहने से यहां कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस अवस्था में जिस रूप से जो वस्तु व्यक्त होगी वह उसी का अपना रूप है ऐसा कह सकते हैं और श्रुति का 'स्व' यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा। परन्तु यदि 'स्व' शब्द का आत्मा ऐसा अर्थ लिया जाय तब वह विशेषण सार्थक होता है और उसका भाव यह होता है कि जीव केवल आत्म रूप ही से व्यक्त होता है अन्य किसी नवीन रूप से नहीं ॥ १ ॥

जव पूर्व की अन्य अवस्थाओं में तथा इस अवस्था में भी यदि जीव का स्वरूप समान रूप से ही अविनाशी रहता है तव उनमें भेद क्या होता है सो बताते हैं—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

मुक्तः वह मुक्त होता है, **प्रतिज्ञानात्** क्योंकि श्रुति ने वैसी प्रतिज्ञा की है।

यहां पर 'व्यक्त होता है' ऐसा जिसके लिये कहा है वह सव बन्धनों से विमुक्त होकर शुद्ध आत्म रूप से अवस्थित होता है। परन्तु पहले वह 'अंधो भवति' [छाँ० ८।६।१] (वह अंध होता है यानी स्वप्नावस्था में बाह्य इन्द्रियों के व्यापार से रहित होता है) 'अपि रोदितीव' [छाँ० ८।१०।२]

(मानो रोता हो यानी जाग्रदावस्था में दु:ख शोकादि के संयोग से रोता हो, ऐसा प्रतीत होता है) तथा 'विनाशमेवापीतो भवति' [छां० ८।११।१] (नाश को ही प्राप्त होता है यानी सुषुप्ति अवस्था में वैसा प्रतीत होता है) इस प्रकार तीनों अवस्थाओं से वह कलुषित होकर रहता है यह इसमें भेद है। परन्तु अब वह मुक्त हुआ यह कैसे जाना जाता है ? श्रुति की प्रतिज्ञा से वैसा विदित होता है। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' [छां० ८।९।३, ८।१०।४, ८।११।३] (मैं तुझसे उसी आत्मा का फिर वर्णन करूंगा) इस प्रकार अवस्थात्रय दोषों से रहित आत्मा ही वर्णन का विषय होगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके ही, तथा 'अशरीरं वाव सन्त न प्रियाप्रियेस्पृशतः' [छां० ८।१२।१] (उस देह से रहित आत्मा को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) ऐसा कहकर 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' [छां० ८।१२।३] (आत्म रूप से व्यक्त होता है, वह उत्तम पुरुष है) इस प्रकार श्रुति उपसंहार करती है। इसी प्रकार आख्यान के प्रारम्भ में भी 'य आत्माऽपहत पाप्मा' [छा० ८।७।१] (जो यह पाप रहित आत्मा है) इत्यादि से मुक्तात्मा के विषय में कथन करने की श्रुति ने प्रतिज्ञा की है। अब मोक्ष की फल रूप से जो प्रसिद्धि है वह केवल बन्ध निवृत्ति की अपेक्षा ही से है, नवीन किसी फल की उत्पत्ति की अपेक्षा से नहीं। वैसे ही, 'अभिनिष्पद्यते' (व्यक्त होता है) इस प्रकार जो उत्पत्ति-अर्थक कथन है वह भी उसकी पूर्व अवस्था की अपेक्षा ही से कहा है। जैसे रोग निवृत्त होने पर वह निरोग हुआ ऐसा कहते हैं; वैसे ही यह जानो ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

प्रकरणात् प्रकरण से [ज्योति] **आत्मा** आत्मा है [ऐसा विदित होता है]।

शंका—जीव मुक्त होता है ऐसे कैसे कह सकते हैं जब कि 'परं ज्योतिरुपसंपद्यते' [छाँ० ८। १२। ३ (वह पर ज्योति के साथ एकता को प्राप्त होता है) यह श्रुति उसका कार्य रूप से ही वर्णन करती है ? क्योंकि ज्योति शब्द भौतिक ज्योति के अर्थ ही में रूढ़ है। तथा कार्य समूह से जो पर नहीं हुआ है ऐसा कोई भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि विकार मात्र दुःख रूप है यह प्रसिद्ध है।

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर प्रकरण से ज्योति शब्द से आत्मा ही का बोध होता है। 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' [छां० ८। ७। १] (जो आत्मा पाप रहित तथा जरा मृत्यु रहित है) इस प्रकार परमात्मा का ही यह प्रकरण होने से यहां पर अकस्मात् भौतिक ज्योति का ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसा करने से प्रकरण के विषय का त्याग और नवीन ही किसी विषय का ग्रहण, ये दोष प्राप्त होंगे। वैसे ही ज्योति शब्द आत्मा के अर्थ में श्रुति में आता भी है, जैसे, 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' [बृ० ४।४।१६] (देव उसकी ज्योतियों की ज्योति रूप से उपासना करते हैं)। इसका अधिक विवेचन पहले [ब्र० सू० १। ३। ४०] इस सूत्र में किया गया है ॥ ३ ॥

२ अविभागेन दृष्टत्वाधिकरण।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

अविभागेन [मुक्त जीव ब्रह्म के साथ] एक होकर

[रहता है,] दृष्टत्वात् क्योंकि श्रुति वैसा ही कहती है।

परज्योति के साथ एकता को प्राप्त होकर जीव जब आत्म रूप से व्यक्त होता है तब वह परमात्मा से विभक्त रहता है अथवा अविभक्त रहता है, इसका विचार करते हुए यदि कोई यों समझे कि 'स तत्र पर्येति' [छां० ८ । १२ । ३] (वहाँ वह संचार करता है) इस श्रुति में आश्रय और आश्रित का निर्देश किया हुआ होने से, तथा 'ज्योतिरुपसंपद्य' [छाँ० ८ । १२ । ३] (ज्योति के साथ एकता को प्राप्त होकर) इस श्रुति में कर्ता और कर्म का निर्देश किया हुआ होने से जीव मुक्त होने पर भी परमात्मा से विभक्त ही रहता है, उसको समझाते हैं कि मुक्त आत्मा परमात्मा से अविभक्त ही रहता है; क्योंकि श्रुति में वैसा ही देखा जाता है। 'तत्त्वमसि' [छां० ६ । ८ । ७] (वह यानी ईश्वर तू है), 'अहं ब्रह्माऽस्मि' [बृ० १ । ४ । १०] (मैं ब्रह्म हूं), 'यत्र नान्यत्पश्यति' [छाँ० ७ । २४ । १] (जहां वह अन्य कुछ भी नहीं देखता), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' [बृ० ४ । ३ । ३३] (वहाँ पर और दूसरा कुछ भी नहीं है कि जिसको वह भिन्न रूप से देख सके) इत्यादि श्रुतिवाक्य मुक्त को परमात्मा से अविभक्त रूप से ही दिखाते हैं। जैसा ज्ञान होता है वैसा ही फल होता है, ऐसा 'वह उसका यानी ब्रह्म का संकल्प करता है' (इसलिये उसको ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है) इस न्याय से मानना पड़ता है। 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥' [क० ४ । १५] (जैसे शुद्ध जल शुद्ध में मिलाने से तद्रूप हो जाता है, हे गौतम, ज्ञानी मुनि का आत्मा

भी वैसा ही हो जाता है) इत्यादि जो श्रुतियां मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करती हैं वे भी अभेद ही का प्रतिपादन करती हैं। नदी और समुद्र के दृष्टांतों से भी यही बात प्रतिपादित होती है। अब अभेद होते हुए भी गौण रूप से भेद का निर्देश हो सकता है, जैसे, 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' [छा० ७ । २४ । १] (हे भगवन्, वह किसमें प्रतिष्ठित है ? अपनी महिमा में), 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' [छाँ० ७ । २५ । २] (आत्मा में प्रेम रखने वाला तथा आत्मा से क्रीडा करने वाला) इत्यादि श्रुतियों में यही बात दिखाई देती है ।। ४ ।।

३ ब्राह्माधिकरण । सू० ५-७

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।। ५ ।।

ब्राह्मेण] जीव] ब्रह्म स्वरूप से [व्यक्त होता है, ऐसा] **उपन्यासादिभ्यः** [श्रुति के] कथन आदि से **जैमिनिः** जैमिनि आचार्य [मानते हैं [।

'स्वेन रूपेण' [छाँ० ८ । ३ । ४] (आत्म रूप से) इस श्रुति से जीव [मोक्षावस्था में] आत्मा रूप से व्यक्त होता है, किसी अन्य नूतन रूप से नहीं यह सिद्ध हुआ। अब उसमें विशेषता कौनसी होती है ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

जैमिनि आचार्य का मत है कि इसका स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप है अर्थात् पाप रहितत्व आदि से लेकर सत्य संकल्पत्व पर्यन्त सब धर्म तथा सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व इन धर्मों से युक्त स्वरूप से वह व्यक्त होता है ।श्रुति के कथन आदि से ऐसा ही विदित होता है; जैसे, 'य आत्माऽपहत पाप्मा' [छां०

८।७।१] (जो आत्मा पाप रहित है) इत्यादि से लेकर 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' [छाँ० ८।७।१] (जो सत्य काम और सत्य संकल्प है) यहाँ तक के कथन से आत्मा इसी स्वरूप वाला है ऐसा बोध होता है। तथा 'स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः' [छाँ० ८।१२।३] (वह वहां पर खाते हुए, खेलते हुए, आनन्द करते हुए संचार करता है) यह श्रुति उसके स्वरूप के ऐश्वर्य को दिखाती है। 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' [छां० ७।२५।२] (वह सब लोकों में स्वच्छन्द रूप से संचार करता है) यह श्रुति भी वही बात कहती है। 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' (वह सर्वज्ञ और सर्वेश्वर है) इत्यादि निर्देश भी ऐसा मानने से युक्त होते हैं॥ ५॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमि ॥ ६ ॥

चितितन्मात्रेण [जीव मोक्षावस्था में] केवल चैतन्य रूप से [व्यक्त होता है], **तदात्मकत्वात्** क्योंकि उसका वही यानी चैतन्य ही स्वरूप है, **इति** ऐसा **औडुलोमिः** औडुलोमि आचार्य का मत है।

यद्यपि पाप रहितत्व आदि धर्म श्रुति ने विभिन्न रूप से कहे हैं तो भी उन शब्दों से जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हीं से उन धर्मों की कल्पना की जाती है, क्योंकि उनसे वह पाप आदि से रहित है इतना ही बोध होता है। परन्तु केवल चैतन्य आत्मा का स्वरूप है इसलिये वह कैवल्य चैतन्य स्वरूप से व्यक्त होता है ऐसा मानना ही युक्त है। वैसे ही, 'एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' [बृ० ४।५।१३] (अरी, इस प्रकार इस आत्मा का न आँतर है, बाह्य है; वह सर्व रूप और ज्ञानमय ही है) यह श्रुति इसी सिद्धान्त के

अनुकूल है । यद्यपि सत्य काम (जिसके काम सत्य होते हैं) आदि धर्म वस्तु रूप से कहे गये हैं तो भी ये धर्म उपाधि के सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये वे चैतन्य के सदृश उसका स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म के अनेक आकारों का श्रुति निषेध करती है । ब्रह्म के अनेक रूप नहीं होते इस प्रकार उनका निषेध 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगम्' [ब्र० सू० ३।२।११] इस सूत्र से किया गया है । इसलिये 'वह खाता है' आदि निर्देश जैसा 'वह अपने ही में प्रेम रखता है' आदि कथन उसकी स्तुति के निमित्त है वैसा, केवल उसके दुःख के अभाव का प्रतिपादक है; क्योंकि प्रेम करना, क्रीड़ा करना, सहवास करना आदि बातों के लिये दूसरे की अपेक्षा होने से, आत्मा में इनका कथन करना सम्भव नहीं है । इसलिये, जिससे समस्त प्रपंच नष्ट हुआ है, जो प्रसन्न है तथा जिसका किसी प्रकार निर्देश नहीं हो सकता, ऐसा चैतन्य स्वरूप से ही वह व्यक्त होता है ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि ऐसा माने तो भी **उपन्यासात्** श्रुति के] उपन्यास से [जीव का] **पूर्वभावात्** पूर्व कथित रूप भी है इसलिये **अविरोधम्** कोई विरोध नहीं प्राप्त होता, **इति** ऐसा **बादरायणः** बादरायण आचार्य मानते हैं ।

ऐसा माने तो भी यानी चैतन्य ही आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप है ऐसा माने तो भी श्रुति के उपन्यास (कथन) आदि से विदित हुआ पहले का ब्रह्म के ऐश्वर्य वाला जीव

का स्वरूप भी व्यवहार दशा की अपेक्षा से कहा हुआ होने से वह इसका निराकरण नहीं करता, इसलिये इसमें कुछ भी विरोध नहीं प्राप्त होता ऐसा बादरायण आचार्य का मत है ॥ ७ ॥

४ संकल्पाधिकरण । सू० ८-९

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

संकल्पात् संकल्प से **एव तु** ही [मुक्त जीव अपने कार्य करते हैं]; **तच्छ्रुतेः** क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है ।

हार्द विद्या (हृदय में ब्रह्म की उपासना) में कहा है कि 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरःसमुत्तिष्ठंति' [छां० ८।२।१] (यदि वह पितृलोक की इच्छा करे तो उसको संकल्प ही से उसके पितर लोग आ मिलते हैं) इत्यादि । यहां पर संशय होता है कि क्या संकल्प ही से केवल पितरों की प्राप्ति होती है अथवा अन्य निमित्तों के साथ संकल्प भी उसका एक हेतु होता है ।

पूर्वपक्ष—यद्यपि श्रुति ने 'संकल्पादेव' (केवल संकल्प ही से) ऐसा कहा है तो भी, जैसे व्यवहार में देखने में आता है, वैसे उसके लिये अन्य निमित्तों की अपेक्षा मानना ही युक्त है । व्यवहार में जिस प्रकार हमारे संकल्प हमारे गमन आदि अन्य हेतुओं के साथ पितर आदि की प्राप्ति कराते हैं, वैसा ही मुक्तों के लिये भी होता होगा । इस प्रकार मानने से हमारे अनुभव के विरुद्ध कोई कल्पना नहीं करनी पड़ेगी । श्रुति ने 'केवल संकल्प से' ऐसा जो कहा है वह जैसे राजा के संकल्प के सम्बन्ध में उसके संकलिपत पदार्थों को प्राप्त कराने वाली उसके पास रहने वाली इतर साधन सामग्री की अपेक्षा रखते हुए ही

कहा जाता है वैसा ही है। केवल संकल्प से उत्पन्न हुए पितर आदि मनोराज्य के पदार्थ के समान अस्थिर होने से वे अधिक भोग प्रदान करने में असमर्थ ही रहेंगे।

समाधान—संकल्प ही से केवल पितर आदि की प्राप्ति होती है, क्योंकि श्रुति में ऐसा ही उसका कथन है। 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' [छाँ० ८।२।१] (इसके संकल्प ही से इसको पितर लोग आ मिलते हैं) इत्यादि श्रुति को यदि अन्य कारणों की अपेक्षा माननी पड़े तो, विरोध होगा। और यदि अन्य साधनों की अपेक्षा माननी पड़े तो वे साधन संकल्पसाध्य हों यह बन सकता है परन्तु अन्य प्रयत्न से प्राप्त होने वाले साधनों की अपेक्षा नहीं मानी जा सकती; क्योंकि ऐसा होने से जब तक वह साधन प्राप्त नहीं है तब तक उनके संकल्प निष्फल ही सिद्ध होंगे। अतिरिक्त इसके, जो बात केवल श्रुति ही से जानी जा सकती है उसकी व्यावहारिक अनुभव से उपपत्ति लग नहीं सकती। मुक्तों के संकल्प सामान्य लोगों के संकल्प से विलक्षण होने से वे जब तक आवश्यकता होगी अपने संकल्प ही से स्थिर रह सकेंगे ॥ ८ ॥

अतएव चानन्याधिपतिः ॥ ६ ॥

अतएव इसीलिये **च** ही [ज्ञानी का] **अनन्याधिपतिः** अन्य कोई अधिपति नहीं होता [ऐसा श्रुति ने कहा है]।

इसीलिये यानी ज्ञानी के संकल्प व्यर्थ न होने से ज्ञानी का कोई अन्य अधिपति नहीं होता अर्थात् उसका कोई स्वामी नहीं होता। सामान्य मनुष्य भी बने वहां तक अपने पर दूसरे किसो का स्वामित्व हो ऐसा संकल्प नहीं करता। श्रुति

भी यही बताती है, जैसे, 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' [छां० ८।१।६] (जो यहां पर आत्मा को तथा इसके सत्य कामों को जानकर, अर्थात् उसकी यह कामना सत्य यानी परिपूर्ण होगी ऐसा जानकर, जो यहाँ से जाते हैं वे सब लोकों में अपनी इच्छा से गमन करते हैं) ॥ ९ ॥

५ अभावाधिकरण । सू० १०-१४

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

अभावम् [ज्ञानी के शरीर और इन्द्रियाँ] नहीं होतीं, ऐसा **बादरिः** बादरि आचार्य [कहते हैं] **हि** क्योंकि एवम् ऐसा ही **आह** [श्रुति] कहती है।

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठंति' [छाँ० ८।२।१] (इसके संकल्प ही से पितर उसको आ मिलते हैं), इत्यादि श्रुति से ज्ञानी को संकल्प का साधन भूत मन अवश्य होता है ऐसा सिद्ध हुआ। अब यहां पर जिस ज्ञानी को ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई है उसको शरीर और इन्द्रियां होती हैं या नहीं इसका विचार करते हैं। इस विषय में बादरि आचार्य का मत है कि ऐश्वर्य को प्राप्त हुए ज्ञानी को शरीर और इन्द्रियाँ नहीं होतीं, क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है—जैसे, 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' [छां० ८।१२।५] (मन ही से वह अपने इच्छित विषयों को देखकर उनमें रममाण होता है), 'य एते ब्रह्मलोके' [छां० ८।१३।१] (जो कामनाएँ इस ब्रह्मलोक में प्राप्त होती हैं) इत्यादि। यदि वह शरीर और इन्द्रियों से इन विषयों में रममाण होता तो केवल 'मनसा' (मन से)

ऐसा विशेषरण रखने की आवश्यकता नहीं थी। इसलिये मोक्ष अवस्था में शरीर और इन्द्रियां नहीं होतीं ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

भावम् [उसके शरीर और इन्द्रियां] होती हैं [ऐसा] **जैमिनिः** जैमिनि आचार्य [मानते हैं] **विकल्पामननात्** क्योंकि [इस विषय में श्रुति] विकल्प का कथन करती है।

जैमिनि आचार्य मानते हैं कि ज्ञानी को जैसे मन होता है वैसे इन्द्रियाँ और शरीर भी होता है, क्योंकि 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' [छां० ७।२६।२] (वह एक होता है, तीन प्रकार का होता है) इस प्रकार से श्रुति उसका अनेक प्रकार से होने के विकल्प का कथन करती है और उसका अनेक प्रकार से होना बिना शरीर के बन नहीं सकता। यद्यपि यह विकल्प से अनेक होना निर्गुण भूमाविद्या में कहा गया है तथापि यह ऐश्वर्य सगुण अवस्था में ही होता है और भूमाविद्या की स्तुति के निमित्त ही वहाँ पर कहा गया है, इसलिये उसको वहाँ सगुण विद्या के फल रूप ही से समझना चाहिये ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

अतः इसलिये **उभयविधम्** [वह] दोनों प्रकार से [होता है] **द्वादशाहवत्** द्वादशाह के समान [इसको समझो,] **बादरायणः** [ऐसा] बादरायण आचार्य [मानते हैं]।

बादरायण आचार्य मानते हैं कि 'इसलिये' यानी श्रुति में दोनों प्रकार के चिन्ह उपस्थित होने से, वह दोनों प्रकार से होता है ऐसा कहना ही ठीक है। जब वह सशरीर होने की

इच्छा करता है तब वह शरीर युक्त होता है और जब शरीर की आवश्यकता नहीं समझता तब शरीर रहित होजाता है। ऐसा मानने का कारण यह है कि वह सत्य संकल्प होता है और संकल्प अनेक प्रकार के होते हैं। द्वादशाह के समान इसको समझना चाहिये। जैसे द्वादशाह सत्र भी है और अहीन भी है (जहां श्रुति उप+इ धातु से यज्ञ का विधान करती है उसको सत्र कहते हैं और यज् धातु के प्रयोग से विधान करती है उसको अहीन कहते हैं। द्वादशाह के सम्बन्ध में दोनों क्रियाओं का प्रयोग श्रुति में मिलता है; क्योंकि श्रुति में दोनों प्रकार के चिन्ह उपलब्ध होते हैं। वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ॥ १२ ॥

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

तन्वभावे जब शरीर नहीं होता तब **संध्यवत्** स्वप्न के समान **उपपत्तेः** इसकी उपपत्ति होती है, इसलिये [यह ठीक है]।

जब सेंद्रिय शरीर का अभाव होता है तब स्वप्न में शरीर तथा इन्द्रियों का अभाव होते हुए पितर आदि इष्ट पदार्थों की वहां जो उपस्थिति होती है वह जैसे केवल प्रतीति मात्र होती है वैसा ही मोक्ष अवस्था में भीं बन सकेगा और इस प्रकार यह ठीक बैठता है ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे [तथा जब शरीर] होता है तब **जाग्रद्वत्** जाग्रत् के समान [इसकी उपपत्ति लगती है]।

तथा जब उसको शरीर होता है तब जैसे जाग्रत् अवस्था में पितर आदि इष्ट पदार्थ वर्तमान होते हैं, वैसा ही मुक्त के लिये होता है।

६ प्रदीपाधिकरण। सू० १५-१६

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥ १५ ॥

प्रदीपवत् [जीव का] प्रदीप के समान [सब शरीर में] **आवेशः** प्रवेश होता है, **हि** क्योंकि **तथा** वैसा ही **दर्शयति** श्रुति बताती है।

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' [ब्र० सू० ४।४।११] इस सूत्र से मुक्तों का शरीर होता है ऐसा कहा। वहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुक्त पुरुष तीन प्रकार की अवस्था आदि में जो अनेक शरीरों को उत्पन्न करते हैं वे शरीर क्या कठ पुतलियों के समान निरात्मक यानी निर्जीव होते हैं, अथवा जैसे हम लोग आदि के शरीर होते हैं वैसे सजीव होते हैं। पूर्वपक्ष का कथन है कि आत्मा और मन के भेद नहीं हो सकते इसलिये उनका एक ही शरीर से संबन्ध होता है और अन्य शरीर निरात्मक वा जड़ ही होते हैं। इस पर उत्तर देते हैं कि 'प्रदीपवदावेशः०' (प्रदीप के समान जीव सब शरीरों में प्रविष्ट होता है इत्यादि)। जैसे दीप एक होते हुए भी विकार को प्राप्त होने की शक्ति से युक्त होने से वह अनेक प्रदीपों के भाव को प्राप्त होता है, वैसे ही ज्ञानी एक होतें हुए भी एश्वर्य से युक्त होने के कारण अनेक भावों को प्राप्त होकर सब शरीरों में प्रविष्ट होता है। यह कैसे जाना ?

शास्त्र इसी प्रकार एक ही को अनेक भावों की प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं इससे; जैसे 'स एकधा भवति त्रिया भवति पंचधा सप्तधा नवधा' [छाँ० ७। २६। २] (वह एक रूप से रहता है तीन प्रकार से होता है, पांच, सात वा नौ प्रकार से होता है) इत्यादि। शरीरों को यदि कठपुतलियों के समान माना जाय तो यह श्रुति युक्त नहीं होती तथा अन्य कोई जीव इन शरीरों में प्रविष्ट हो जाता हो तब भी युक्त नहीं होता। इसी प्रकार जड़ शरीरों की प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं है। अब जो पूर्वपक्ष में कहा है कि आत्मा और मन के भेद नहीं हो सकते, इसलिये अनेक शरीरों के साथ उसका योग नहीं बन सकेगा, इसका उत्तर देते हैं कि यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि ज्ञानी सत्य संकल्प होने से मन सहित अन्य शरीरों को वह उत्पन्न करता है, जो सब उसके एक मन के ही अनुवर्ती होते हैं। उनको उत्पन्न करने पर वे उपाधि रूप होने से उनकी उससे भिन्नता होती है, इसलिये वह उनको अपने अधिकार में रख सकता है। योग शास्त्र में योगियों के अनेक शरीर होने की बात कही है वह इसी प्रकार की है ॥ १५ ॥

शंका—जब श्रुति 'तत्केन कं विजानीयात्' [बृ० ४।५।१५] (तब वह किससे किसको जाने), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' [बृ० ४। ३। ३०] (परन्तु वहाँ अन्य कुछ भी नहीं है, जिसको वह अपने से अन्य और पृथक् जाने), 'सलिल एकोद्रष्टाऽद्वैतो भवति' [बृ०४।३।३२] (वह जल के सदृश एक द्रष्टा और द्वैत रहित ऐसा होता है) इत्यादि प्रकार से मुक्त आत्मा में विशेष विज्ञान का निषेध करती है, तब उसके अनेक शरीर होना आदि ऐश्वर्य होता है यह कैसे मान सकेंगे।

इसका उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

स्वाप्ययसंपत्त्योः स्वाप्यय और संपत्ति इनमें से **अन्यतरापेक्षम्** किसी एक की अपेक्षा ही से [मुक्त जीव को विशेष ज्ञान नहीं होता ऐसा कहा है], **हि** क्योंकि **आविष्कृतम्** (यह बात वहीं पर) स्पष्ट हुई है ।

स्वाप्यय का अर्थ है सुषुप्तावस्था, क्योंकि 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' [बृ० ६।८।१] (वह अपने में लीन हो जाता है इसलिये उसको, वह सोता है ऐसा कहते हैं) ऐसा श्रुति कहती है । संपत्ति का अर्थ है कैवल्य; क्योंकि 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति, [बृ० ४।४।६] (ब्रह्म होकर ही वह ब्रह्म को प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है । इन दोनों में से किसी एक अवस्था की अपेक्षा ही से मुक्त पुरुष को किसी प्रकार का विशेष बोध नहीं होता ऐसा कहा गया है । कहीं पर सुषुप्ति अवस्था को लेकर कहा है तो कहीं पर कैवल्य अवस्था को लेकर कहा है । यह कैसे जाना जाता है ? इससे कि जहां पर यह कहा हुआ है वह इनही में से किसी का प्रकरण है, जैसे— 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय नान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति' [बृ० २।४।१४] (इन भूतों से उत्पन्न होकर वह उनके ही पीछे नष्ट होता है मृत्यु के पश्चात् उसको किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत' [बृ० २।४।१४] (जहां उसको सब कुछ आत्म रूप हो जाता है), 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' [बृ० ४।३।१६ माण्डू० ५] जहाँ पर सो जाने पर न वह

किसी की इच्छा करता है न कोई स्वप्न देखता है) इत्यादि श्रुतियों का कथन है। अब वहां पर जो ऐश्वर्य का वर्णन है, वह स्वर्ग आदि के समान एक पृथक् ही अवस्था उसको है, जो सगुण उपासना के फल रूप है। इसलिये इसमें कोई दोष नहीं प्राप्त होता ॥ १६ ॥

७ जगद्व्यापाराधिकरण। सू० १७–२२

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

जगद्व्यापारवर्जम् [मुक्तात्माओं को] जगत् के व्यापारों को छोड़कर [शेष सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त होता है] **प्रकरणात्** प्रकरण से **च** तथा **असंनिहितत्वात्** (मुक्त आत्माओं का वहां) समीप निर्देश न होने से [यही विदित होता है]।

सगुण ब्रह्म की उपासना से जो मन ही के साथ ईश्वर से सायुज्य को प्राप्त होते हैं उनका ऐश्वर्य मर्यादित होता है अथवा अमर्यादित, ऐसा संशय होता है।

पूर्वपक्ष—यहां अमर्यादित ऐश्वर्य की प्राप्ति होनी चाहिये, क्योंकि 'आप्नोति स्वाराज्यम्' [तै० १।६।२] (उसको स्वाराज्य यानी ऐश्वर्य प्राप्त होता है), 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहंति' [तै० १।५।३] (सब देव उसके लिये बलि ले आते हैं), 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारी भवति' [छां० ७।२५।२, ८।१।६] (वे स्वेच्छा पूर्वक सब लोकों में संचार कर सकते हैं) इत्यादि श्रुतियों से यही विदित होता है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'जगद्व्यापारवर्जम्' (जगत् के व्यापारों को छोड़कर) इत्यादि इस सूत्र से देते हैं। उसका

अर्थ यह है कि जगत् की उत्पत्ति आदि व्यापारों को छोड़कर अरिणमा आदि इतर ऐश्वर्य मुक्तात्माओं में होता है, परन्तु जगत् की उत्पत्ति आदि का व्यापार तो नित्य सिद्ध ईश्वर ही का है। क्यों ? इसलिये कि जहाँ यह कथन है वह ईश्वर ही का प्रकरण है मुक्तात्माओं का वहां सम्बन्ध नहीं है। परमेश्वर ही को जगत् के व्यापार का अधिकार है, क्योंकि उसी के सम्बन्ध में उत्पत्ति आदि का श्रुति में कथन है। श्रुति ने उसको नित्य भी कहा है और उसी के अन्वेषण तथा जिज्ञासा करने वाले इतर पुरुषों को अरिणमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है ऐसा श्रुति में कहा है। इसलिये मुक्त आत्माओं का जगद्व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं। इनके मन सहित होने ही से इनके अनेक होना संभव है और इनमें से कोई तो स्थिति की इच्छा करेगा तो कोई संहार के लिये उत्सुक होगा और इस प्रकार इनमें विरोध भी होना संभव है। अब किसी एक के संकल्प के अनुसार ही दूसरा संकल्प करता है, ऐसा मानने से कोई विरोध नहीं आवेगा, ऐसा कहकर इसका कोई समर्थन करेगा तो ऐसा करने से वे सब परमेश्वर की इच्छा के अनुसार ही संकल्प करते हैं ऐसा सिद्ध होगा ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिक-
मंडलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षोपदेशात् श्रुति में प्रत्यक्ष कहा हुआ है, इसलिये [मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य अमर्यादित होता है] **इति** ऐसा **चेत्** यदि कहो तो **न** वैसा नहीं है, **आधिकारिकमंडलस्थोक्तेः** क्योंकि [वहाँ पर] मंडलस्थ अधिकारिक [ऐसे परमेश्वर के स्वाधीन स्वाराज्य की प्राप्ति होती है] ऐसा कहा है।

अब पूर्वपक्ष में जो कहा था कि 'आप्नोति स्वराज्यम्' [तै० १ । ६ । २] (उसको ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है) इत्यादि स्पष्ट रूप से निर्देश होने से मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य अमर्यादित होता है ऐसा ही मानना युक्त है, उसका परिहार करना चाहिये। इसके प्रतिवाद रूप में कहते हैं कि यह दोष नहीं है क्योंकि मंडलस्थ आधिकारिक ईश्वर के सम्बन्ध में वह कथन है। सूर्य मंडल आदि विशेष स्थानों में रहा हुआ जो पर ईश्वर है उसी के अधीन स्वराज्य की प्राप्ति होती है ऐसा वहाँ पर कहा हुआ है। और इसीलिये आगे 'आप्नोति मनसस्पतिम्' [तै० १ । ६ । २] (उसको मन के स्वामी की प्राप्ति होती है) ऐसा श्रुति ने कहा है। इसका भावार्थ यह है कि पूर्व सिद्ध ईश्वर जो सब के मन का स्वामी है उसी की उसको प्राप्ति होती है। इसी भाव के अनुसार आगे श्रुति ने कहा है कि 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' [तै० १ । ६ । २] (वह वाणी का स्वामी होता है, चक्षु का, श्रोत्र का और विज्ञान का स्वामी होता है)। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां जैसा संभव हो, नित्य सिद्ध ईश्वर के अधीन ही अन्य मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य होता है, इसी भाव से श्रुति की योजना करनी चाहिये ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

च तथा **विकारावर्ति** कार्य में न रहने वाला [ऐसा भी परमेश्वर का रूप है], **हि** क्योंकि **तथा** उस रूप से उसकी **स्थितिः** स्थिति होती है ऐसा **आह** [श्रुति] कहती है।

तथा विकार में न रहने वाला अर्थात् कार्य से भिन्न ऐसा भी नित्य मुक्त परमेश्वर का एक रूप होता है, केवल सूर्य मण्डल

में रहने वाला कार्य रूप से दीखने वाला ही उसका रूप नहीं है। श्रुति उसकी इसी प्रकार दो रूप से स्थिति होती है ऐसा कहती है; जैसे, 'तावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य सर्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतंदिवि ॥' [छाँ० ३।१२।६] (इतनी इसकी महिमा है, और पुरुष इससे श्रेष्ठ है। सब भूत-गण उसका एक पाद है तथा उसके अमृत रूप तीन पाद स्वर्ग में है)। अब यह परमेश्वर का निर्विकार स्वरूप इतर स्वरूपों का आलम्बन करने वाले उपासकों को प्राप्त होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसके लिये उनका संकल्प ही नहीं है। इसलिये परमेश्वर के दो रूप होते हुए भी जैसे ये उपासक निर्गुण रूप को प्राप्त न होकर सगुण ही में रहते हैं वैसे ही सगुण रूप में भी अमर्याद ऐश्वर्य को न प्राप्त होते हुए मर्यादित ऐश्वर्य वाले ही रहते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

प्रत्यक्षानुमाने प्रत्यक्ष यानी श्रुति और अनुमान यानी स्मृति **एवं** ऐसा **च** ही **दर्शयतः** दिखाती है।

परम ज्योति स्वरूप परमेश्वर विकार रहित है ऐसा श्रुति और स्मृति दोनों दिखाती है; जैसे, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भाँति कुतोऽयमग्निः' [कठ० २ । १५ श्वे० ६ । १४ मु० २ । २ । १०] (वहां न सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्र और तारे प्रकाशते हैं और न वहाँ बिजली का प्रकाश पहुंच सकता है, फिर अग्नि का तो कहना ही क्या है ?) तथा 'न तद्भासयने सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' [म० गी० १५।६] (उसको न सूर्य प्रकाशित करता है)। और न चन्द्र और

अग्नि उसको प्रकाशित करते हैं)। इस प्रकार परमेश्वर का विकारों से रहित होना प्रसिद्ध है यही सूत्रकार का अभिप्राय है ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च ॥ २१ ॥

भोगमात्रसाम्यलिंगात् भोग का ही केवल साम्य है- इतने ही लिंग से **च** भी [मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य अमर्यादित नहीं होता ऐसा विदित होता है]।

मुक्त आत्माओं में अमर्यादित ऐश्वर्य इसलिये भी नहीं हो सकता कि इनका केवल भोग ही अनादि सिद्ध ईश्वर के समान होता है ऐसा श्रुति का कथन है; जैसे, 'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' [कौ० १।७] (हिरण्यगर्भ ने उससे कहा इस उदक का मैं भोग करता हूँ, तू भी उन लोकों को भोग), 'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति' [बृ० १।५।२०] (जिस प्रकार सब भूतप्राणि इस देवता को भजते हैं उसी प्रकार ऐसे जानने वाले को सब प्राणि भजते हैं), 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' [बृ १।५।२३] (उस उपासना से वह उस देवता के साथ सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतियों में दोनों में भेद बताया है तथा भेद के चिह्न भी निरूपण किये हैं ॥ २१ ॥

शंका—यदि ऐसा माने कि मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य मर्यादित होता है तो वह बढ़ने घटने वाला होने से अन्त वाला सिद्ध होगा और इस अवस्था में उसका फिर जन्म होगा।

इस शंका का उत्तर व्यासजी नीचे के सूत्र से देते हैं—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।। २२ ।।

अनावृत्तिः [मुक्तात्माओं का] फिर जन्म नहीं होता, **शब्दात्** क्योंकि वैसा श्रुति कहती है । **अनावृतिः** [मुक्तात्माओं का] फिर जन्म नहीं होता **शब्दात्** क्योंकि वैसा श्रुति कहती है ।

नाड़ियाँ, रश्मि तथा अर्चिरादि से युक्त देवयान मार्ग से मुक्त आत्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और उस ब्रह्मलोक के विषय में शास्त्रों ने इस प्रकार लिखा है—'यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरं मदीय सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म' (यहां से तिसरे द्यु लोक में जो ब्रह्मलोक है, उसमें अर और ण्य नाम के दो समुद्र ऐरंमदीय नामक सरोवर, सोम रस की वर्षा करने वाला अश्वत्थ वृक्ष और इश्वर निर्मित सुवर्ण का मंदिर है (। इस ब्रह्मलोक का मंत्र, अर्थवाद आदि में वहुत वर्णन किया हुआ है । जैसे, चंद्रलोक में जाने वाले भोग भोगकर वहां से लौटते हैं, वैसे मुक्त लोग इस ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर नहीं लौटते । आगे दी हुई श्रुतियों से यही सिद्ध होता है—'तयोर्ध्वमायन्न-मृतत्वमेति' [छां० ८।६।६] (उससे ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' [बृ० ६।२।१५] (उनको फिर लौटना नहीं पड़ता), 'एतेन प्रतिप-द्यमाना इयं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' [छाँ० ४।१५।६] (इस मार्ग से जाने वाले फिर इस संसार में नहीं आते), 'ब्रह्मलोक-मभिसंपद्यते' [छाँ० ८।१५।१] (ब्रह्मलोक को प्राप्त होते

हैं), 'न च पुनरावर्तने' [छां० ८।१५।१] (वह फिर लौटता नहीं) इत्यादि।

अब ऐश्वर्य का अंत होते हुए भी किस प्रकार जीव का पुनरागमन नहीं होता वह 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्' [ब्र० सू० ४।३।१०] इस सूत्र में वर्णन किया गया है। जिनकी अविद्या सम्यक् ज्ञान से नष्ट हुई है ऐसे लोग नित्य सिद्ध निर्वाण ही का आश्रय सदा करते हैं, इसलिये उनका पुनरागमन न होना तो सिद्ध ही है। सगुण का आश्रय करने वाले भी अन्त में उस निर्गुण ही का आश्रय करते हैं, इसलिये उनका भी फिर न लौटना इसी से सिद्ध होता है। सूत्र में 'अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्' ऐसी जो पुनरुक्ति है वह इस शास्त्र की समाप्ति का द्योतक है ॥ २२ ॥

इति श्री ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य भाषानुवाद
के चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ पाद
समाप्त हुआ।



❀ श्री हरि ❀

अध्यात्म विद्या का अपूर्व भंडार !

वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

महा वाक्य—वेद के सब मंत्र, वाक्य और अध्याय आस्तिक मनुष्यों के आचरण करने योग्य ही हैं परन्तु इन सब में भी वेद के महा वाक्य अपनी विशेषता ही रखते हैं। तत्त्वबोध को प्रत्यक्ष कराने के लिये महा वाक्यों को छोड़ कर अन्य कोई साधन नहीं हैं। ये अत्यन्त गूढ़ होते हुए भी इनकी इस पुस्तक में दृष्टान्त सहित सरल व्याख्या की गई है जो पढ़ने वाले बुद्धिमानों को समझने में अति सुगम रोचक हैं। जीवन मुक्ति विदेह मुक्ति का अनुभव भी इसमें भली प्रकार समझाया है। मूल्य रु० १-५० पैसा

पंचकोश विवेक—पंचकोश के परदे से ढके हुए आत्मा का स्पष्ट बोध नहीं होता, इसी से उसको विस्तार सहित समझाकर आत्मा को दर्शा दिया है। पंचकोश का विवेक ही आत्म अनात्म विवेक है। मूल्य रु० १-५० पै०

वाक्य सुधा—वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है वैसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता मुमुक्षुओं के समझने में सुभीता हो इसलिये दृष्टान्त भी हैं अतएव अत्यन्त हितकर है। मूल्य रु० १-५० पै०

चर्पट पंजरिका—भज गोविन्दं भज गोविन्दं' पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। दृष्टान्तों से रोचक हैं। समश्लोकी पद्य भी है। मूल्य रु० १-५० पै०

सदाचार—श्लोक और उसका सरल अर्थ उसका सरल विवेचन सहित है। श्रीमत् शंकराचार्य कृत छोटी पुस्तकों में इसका भी नाम है इससे मुमुक्षुओं को सत्य आचार का स्पष्ट बोध होता है। मूल्य रु० १-१२ पैं०

ब्रह्म सूत्र—(वेदान्त दर्शन) शांकर भाष्य भाषानुवाद सम्पूर्ण दो भाग—उपनिषदों में आत्म ज्ञान सम्बन्धी अनेक ऐसे कथन आये हैं जो ऊपर से देखने में परस्पर विरोधी मालूम होते हैं। उनकी एकवाक्यता करके वैदिक तत्त्वज्ञान को विशुद्ध रूप से प्रकट करने के लिए भगवान व्यास ने समन्वय रूप से ये सूत्र लिखे हैं। इसके सम्पूर्ण उपलब्ध भाष्यों में शांकर भाष्य सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन माना जाता है, परन्तु अब तक हिन्दी में इसका शब्दशः अनुवाद नहीं हुआ है इसी कमी को पूरा करने के लिये आधुनिक तथा प्रचलित भाषा में इसका अनुवाद किया गया है। दो जिल्दों में सम्पूर्ण। मूल्य प्रति जिल्द का रु० ४-५० पैं० 20)

वेदान्त दीपिका—इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रंथों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशाँत रहता है वे शंकायें इस ग्रन्थ को पढ़ने से नष्ट हो जावेंगी दृष्टान्तों से जिज्ञासु गण बहुत सुगमता पूर्वक समझ जायेंगे। मूल्य रु० २-५० पैं०

वेदान्त रहस्य—वेदान्त द्वारा अपने आत्मा के बोध के निमित्त अनेक प्रक्रियाओं में जो गुप्त रहस्य है उसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है जिसे जानने से ही सब जानने का अन्त होता है ऐसे विस्तार सहित कहीं २ पर योग्य दृष्टान्तों से समझाया है। मूल्य रु० १-००

मणिरत्न माला—अथवा प्रश्नोत्तरी, यह ग्रन्थ आद्य शंकराचार्य कृत है, इसमें श्लोक, भाषा, पद्य और विवेचन है, बालक युवा, वृद्ध, जिज्ञासु धर्मात्मा सबके लिये ही हितकर है मुमुक्षुओं को अत्यन्त उपयोगी हो इस प्रकार दृष्टान्त सहित विवेचन किया गया है। इसके विचार से और अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होकर शीघ्र ज्ञान प्राप्त होता है। सजिल्द मूल्य रु० ३-००

वाक्य वृत्ति—शंकराचार्य जी के छोटे ग्रन्थों में यह प्रसिद्ध है। वेदान्त का यह सुलभता से बोध होने के लिए मूल संस्कृत श्लोक उसके भाषा तथा विस्तार से योग्य स्थानों में दृष्टान्तों सहित विवेचन किया गया है। मूल्य रु० १-१२ पैं०

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण कार्यब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से दृष्टांत सहित समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मू० ०-७५ पैं०

कल्याण का मार्ग—वेदान्त केसरी में छपे हुए कल्याण प्रद लेखों का संग्रह है। दृष्टान्तों से रोचक है। ज्ञानियों को विनोद की ससिग्री है मुमुक्षुओं को कल्याण का मार्ग है। मूल्य रु० २-२५ पैं०

स्वराज सिद्धि—येदान्त का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी सरलान्वय भाषा टीका करके आधुनिक तथा प्रचलित भाषा से सुन्दर छापा गया है। आत्मज्ञान की प्राप्ति ही स्वराज सिद्धि है। मूल्य रु० १-८७ पैं०

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमत शंकराचार्यादि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुये हर स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया

है। कई विद्वान सन्यासी तथा ब्रह्मचारियों ने बहुत पसन्द किया है। मूल्य रु० १-००

कौंशल्य गीतावली—भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ०-६२ पै०

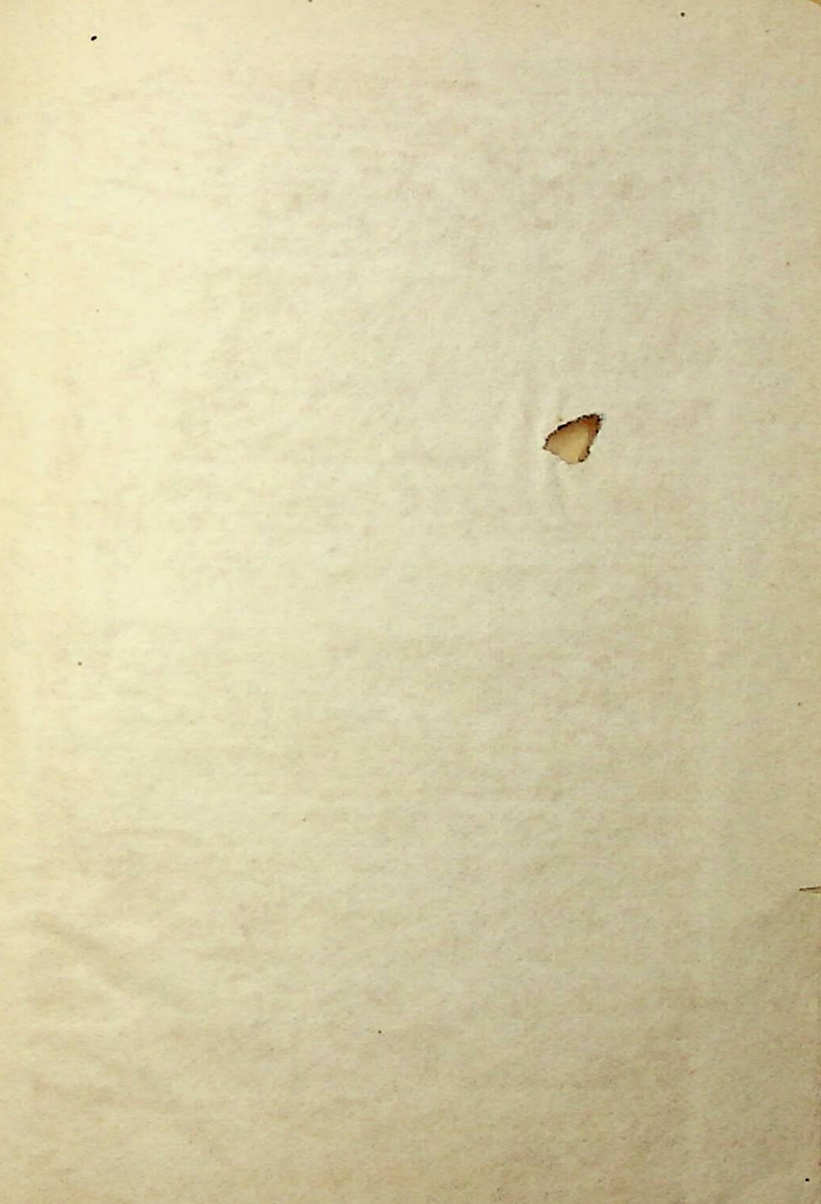
श्रुति की टेर—यह श्री भोले बाबाजी रचित कविता के ग्रन्थ हैं इसमें श्रुतियों की सभी शिक्षायें चित्त शुद्धि का साधन, अष्टाङ्गयोग आदि का सुगमता पूर्वक रोचक सरल कविताओं में है। मू० ०-७५ पै०

वेदान्त रत्नावली—यह ग्रन्थ भी श्री भोले बाबा कृत कविताओं में है इसमें वेदान्त के गूढ़ रहस्यों का सरल शब्दों में कविता द्वारा वर्णन किया गया है जो जिज्ञासु की बुद्धि को तीव्र कर देती है। मूल्य ०-५० पै०

आत्म प्रबोधिनी कुन्डिलयाँ—यह ग्रन्थ वेदान्त केशरी में जो भोले बाबाजी के लेखों के अन्त में कुण्डलियां लेखों का सार रूप दी हुई हैं उनका संग्रह है। इसमें और भी अनुभवी महात्माओं के दोहा, कविता, सवैया, पन्द्रतिथि बारहों महिना के बारहमासी आदि अनेक कविताओं का संग्रह है। मूल्य ०-५० पै०

उपनिषत् ५२—इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की उपासना, ज्ञान के अपूर्व अनुभव तथा योग की रहस्यमय क्रियाओं का अनुभव युक्त वर्णन है। सरल भाषा में ५२ उपनिषदों का अनुवाद। सजिल्द मूल्य रु० [illegible] पै० १०)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी कार्यालय,
लालघाट, बेलनगंज, आगरा।



पें श्र

